भारत के
महान साधक
II

भारत के
महान साधक

भारत के महान साधक

ग्यारहवाँ खण्ड

प्रमथनाथ भट्टाचार्य

नव भारत प्रकाशन

प्रथम प्रकाशन

अक्तूबर–१९८९

अनुवादक : प्रो० डॉ० रमाकान्त पाठक
प्रो० डॉ० ललितेश्वर झा
श्री जगदीश्वर प्रसाद सिंह
प्रो० डॉ० भारती श्रीवास्तव

प्रकाशक : निर्भय राघव मिश्र
नव भारत प्रकाशन
लहेरियासराय,
दरभंगा (बिहार)

मुद्रक : ल० ना० मिथिला विश्वविद्यालय प्रेस,
कामेश्वरनगर, दरभंगा।

प्रच्छद पट : श्री सुप्रकाश सेन

मूल्य –पैंतिस रुपये मात्र

जिनकी महती कृपा से
'भारत के महान साधक'
का प्रकाशन संभव
हो सका
उन्हीं महापुरुष
श्री कालीपद गुहाराय के कर-कमलों में
प्रकाशक द्वारा समर्पित

भूमिका

भारतवर्ष ने विश्व की मानव-जाति को अपनी सभ्यता के आरंभिक काल में ही कुछ स्थायी अवदान दिये थे, जिनका सदुपयोग नये विश्व-समाज और नये विश्व-मानस के निर्माण में अगली पीढ़ियों की भी सहायता कर सकता है। ऐसे अवदानों की सूची में संस्कृत भाषा, ग्राम-गण-तंत्र, सह-जीवन-पद्धति, अनासक्त गार्हस्थ्य-धर्म, ब्रह्म-विद्या, प्रक्रिया-योग और सम-भाव-साधना का स्थान भी निश्चय ही महत्त्व-पूर्ण है। पर इस देश का, अपने कोटि-कोटि निवासियों के प्रति जो सर्वाधिक उज्ज्वल और रसमय अवदान है, वह है असंख्य आध्यात्मिक महापुरुषों के लोक-पावन चरित की अव्याहत, अजस्र परंपरा और उनके अनुभवों और वचनों का अनाविल, अक्षय कोष।

अनंत और अखंड ब्रह्माण्ड के जो अनधिगम्य और अगोचर स्वामी हैं, उनकी अहैतुकी कृपा का अवतरण मुख्यत: ऐसे ही महापुरुषों के रूप में होता है, जो निष्काम भाव से अपना सब-कुछ भगवान् के चरणों पर सौंप कर, उनके अपने हो गये हों, और जिनके माध्यम से भगवान् के ऐश्वर्य, माधुर्य और कैवल्य की विभूतियाँ जन-साधारण के प्रति प्रकट होती रही हों। ऐसे महापुरुषों को इस देश की जनता भगवान् के ही लीला - विग्रह के रूप में जानती-मानती आई है। उसकी दृष्टि में ऐसे महापुरुषों का स्मरण, श्रवण, दर्शन, कीर्त्तन, वंदन और सान्निध्य भगवान् की ही आराधना और प्रसादन के सुगम उपाय हैं। इतना ही नहीं, वह तो ऐसा भी मानती आई है कि भगवान् के वैसे सच्चे भक्त, भगवान् के ही लोकगोचर प्रतिरूप हैं। जिस तरह गंगा की महिमा पूजा-कलश के गंगाजल में विद्यमान है तथा ब्रह्माण्ड को पिंड से और परमात्मा को आत्मा से अनुभव का विषय बनाया जा सकता है, उसी तरह अवाङ् मनोगोचर भगवान् को भी, उनके सच्चे भक्तों के माध्यम से जीवित अनुभव के रूप में, देहधारियों के द्वारा पाया जा सकता है। इस विश्वास के अनुसार भगवान् और भक्त, विषय और आश्रय की तरह, एक ही रस या आस्वाद की प्रतीति के, परस्परावलंबी विभाव हैं; अर्थात् 'भक्तस्तु भगवान् स्वयम्।'

ऐसा कहना अनुचित न होगा कि भारत की धरती का भौगोलिक सीमांकन किसी विजेता-सम्राट् के ऐतिहासिक पराक्रम का परिणाम नहीं। किसी समृद्ध-

गुप्त की तलवार, किसी सिकंदर के बर्च्छे, किसी अशोक के शिलालेख के प्रति भारत का जनता अपने स्वदेश के अस्तित्व के लिए ऋणी नहीं। भारत के चित्त के निर्माण में भी किसी फ्रायड, डार्विन, मार्क्स, नीत्से या नेपोलियन की कारीगरी की करामातों का कोई उल्लेखनीय योगदान कभी अंकित नहीं हो पाया। उसकी भौगोलिक सीमा शंकराचार्य, रामानुज, कबीर, नानक, चैतन्य-देव, ज्ञानेश्वर, रामतीर्थ और गाँधी-विनोवा की पद-यात्राओं-तीर्थ-यात्राओं–की उपज है और उसके चित्त की रचना की है व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, तुलसीदास और रवीन्द्र नाथ ठाकुर जैसे कवियों ने, परमहंस रामकृष्ण देव, रमण महर्षि, योगिराज अरविंद और ब्रह्मर्षि विनोबा-जैसे विश्वमानवों के प्रति-पद-निदिध्यासनों ने किंवा अन्दाल, अक्क महादेवी, लल्ला, मुक्ताबाई, मीराबाई और ताज-बीबी जैसी सर्वस्व-त्यागिनी प्रेमयोगिनियों के नृत्यों और गीतों ने। इसलिए भारतवासियों को शासक-वर्ग के उस इतिहास में कभी गहरी दिलचस्पी लेने की जरूरत नहीं हुई, जो अशोक, अकबर और कर्जन के करिश्मों के लतीफे गढ़कर धन्य होता रहा हो। भारत की जनता की दिलचस्पी तो उन आध्यात्मिक महापुरुषों में ही हो सकती है, जो उसके मन-प्राणों में जन्मान्तरीण पुण्य-संस्कार की तरह रसे-बसे है और अनादि अनुश्रुतियों की अजस्र रसधारा के आलम्बन होकर उसके दैनंदिन जीवन को पावन, सरस, सुगंधित और उत्फुल्ल करते रहे हैं।

ऐसे महापुरुषों में कुछ का पता इतिहास तो क्या, पुराणों को भी नहीं है। दूसरी ओर उनमें कुछ वैसे महापुरुष भी हैं, जिन्होंने गोरखनाथ, तुलसीदास, समर्थ रामदास, सरमद, बाबा लाल, गुरु गोविन्द सिंह और ऋषि दयानंद की तरह, इतिहास के नायकों से आमने-सामने की लड़ाई में लोहा लिया था और उन्हें अपनी हैसियत पर पुनर्विचार करने के लिए विवश कर दिया था। उनमें स्वामी हरिदास और त्यागराज-सरीखे गायक भी हैं, और तुकाराम, नरसी मेहता और सूरदास-जैसे कवि भी। उनमें ऐसे विभूति-संपन्न महापुरुष भी हैं, जो बामाक्षेपा, साईं बाबा और मेहर बाबा की तरह निर्जन-वासी थे और ऐसे असाधारण महापुरुष भी हैं, जो तुकाराम, परमहंस रामकृष्ण और विजय कृष्ण गोस्वामी की तरह जनसाधारण के बीच रहकर, उनके सुख-दुःख में शरीक होना अपने लिए आवश्यक मानते थे। उनमें कुछ आज भी इस धरती पर विद्यमान हो सकते हैं. और कुछ की कथाएँ, सहस्राब्दियों पहले से ही अगस्त्य, वशिष्ठ, अरुन्धती, मरीचि, अंगिरा और ध्रुव की तरह, आकाश में नक्षत्र बनकर, पूरे ब्रह्माण्ड को उद्भासित कर रही हैं।

आकाश के नक्षत्र बनकर ऊपर उठने वाले और धरती के लोकालय को फूल बनकर आमोदित करने वाले महापुरुषों की अलग-अलग कोटियाँ अवश्य हैं। मगर मूल बंगला ग्रंथ—'भारतेर साधक'—के लेखक श्री शंकर नाथ राय (श्री प्रमथ नाथ भट्टाचार्य) ने सुचतुर मालाकार की तरह, नक्षत्रों और फूलों को साथ-साथ गूंथने की जो सम-भाव-कला दिखाई है, उसके प्रति कृतज्ञता निवेदित किये बिना हम नहीं रह सकते। यही कारण है कि उक्त ग्रंथ का जो हिंदी भाषान्तर नवभारत प्रकाशन की ओर से अनेक खण्डों में भारत के महान् साधक के नाम से प्रकाशित हो रहा है, उसमें भी लगभग वही पद्धति अपना ली-गई है। चरित-क्रम में 'भारतेर साधक' और 'भारत के महान् साधक' में किंचित् अन्तर दिखाई दे सकता है, किंतु उक्त अन्तर के बावजूद, मूल बंगला ग्रंथ के स्वारस्य को हिंदी भाषान्तर में भी सुरक्षित रखने का चेष्टा हमने तत्परतापूर्वक की है।

युग प्रवर्त्तन की पृष्ठभूमि में गुप्त महायोगी श्रीयुत् कालीपद गुह राय (महर्षि याज्ञवल्क्य) ने जागरण के प्रथम दिनों में ही स्व० श्री प्रमथ नाथ भट्टाचार्य को आदेश दिया था कि 'हिमाद्रि' पत्र के सम्पादक की हैसियत से वह प्रत्येक सप्ताह महापुरुषों की जीवनियों पर प्रकाश डालते रहें। आज के विषम काल में महापुरुषों की जीवनियों को पढ़ना ही सच्चा सत्संग है। उसी आदेश-पालन में लगभग २५ वर्ष प्रमथ बाबू ने जीवनियों का तथ्य संग्रह कर उन्हें प्रांजल भाषा में लिखा जो साहित्य की दृष्टि से भी बंगला भाषा में अपना स्थान रखता है। उसके अपने मूल्य के अलावा परम पूज्य श्री कालीपद गुह राय, जिन्हें हम 'दादा' कह कर पुकारते हैं, के आदेश का भी महत्त्व है।

वर्त्तमान युग की कुशिक्षा-ग्रस्त उन्मत्त यथाचारी पीढ़ी को आस्तिकता और सदाचार के पथ पर वापस मोड़ने की दिशा में 'भारत के महान् साधक' सरीखे ग्रंथों की अपरिहार्य उपयोगिता है। भारतवर्ष के जन-जीवन ने पराजय, अपमान, विध्वंस, अराजकता, उत्पीड़न और दासत्व की एक-से-बढ़कर-एक दारुण पीड़ा का अनुभव पिछले डेढ़ हजार वर्षों के दर्म्यान किया है। मगर वैसे दुर्दिनों के काल में भी, वह कभी, आज की तरह हताश, अधीर, निरुपाय और निरवलंब नहीं हुआ था। इसका सबसे बड़ा कारण शायद यही है कि उसकी सांस्कृतिक विरासतों पर स्वदेशी सत्ता के हाथों-जैसे संगठित आक्रमण पिछले दो दशकों के भीतर लगातार किये जाते रहे हैं, वैसे आक्रमणों की क्रम-बद्ध निष्ठुर योजना विदेशी आक्रामकों और शासकों के बूते की बात न थी। विदेशी राजसत्ता के आक्रमणों से उसे अपनी रक्षा करने में वैसी कठिनाइयों

का सामना नहीं करना पड़ा था, जैसी कठिनाइयों का सामना उसे इन दिनों करना पड़ रहा है। देश का पुरुषार्थ और स्वाभिमान जिन विश्वासों के सहारे पिछले बीस हजार वर्षों तक अपने पाँव पर खड़ा था, वे अब एक-एक कर टूटते चले जा रहे हैं। देश के जन-जीवन को उत्साह, एकता, आस्तिकता और सदाचार की प्रेरणा से नई संजीवनी प्रदान करने वाले लोक-गुरुओं की एक संपूर्ण पीढी ही, पिछले तीन दशकों के भीतर, अन्तर्धान होती चली गई है, और उसकी स्थान-पूर्ति का कोई विकल्प न पाकर देश का जन-जीवन निरवलंब और दिङ्मूढ़ हो गया है। इसी का फल है कि स्वतंत्रता, प्रजातंत्र और नव-निर्माण की डींगों के बीच, हम नैतिक, चारित्रिक और सांस्कृतिक पतन के गर्त्त में लगातार फिसलते जा रहे हैं और अपनी जिस गरिमा के बोध ने हमें आज तक टिकाये रखा था, उसकी मीनारों को हम अपने ही हाथों तोड़ने में विजय के मिथ्या गर्व का अनुभव करके अपनी निर्लज्जता को विज्ञापित कर रहें हैं।

भारत के इतिहास में वेन, कराल जनक, सहस्रार्जुन और धुंधुमार-जैसे आततायी सम्राटों के शिरश्छेद की घटनाएँ पहले भी घटित हुई थीं, पर महात्मा गाँधी-सरीखे विश्ववंद्य संत को गोली मारनेवाले बधोन्माद को जन-जीवन ने इसके पहले कभी प्रश्रय नहीं दिया था। इस देश के जन-जीवन को शिक्षित और नगर-निवासियों की उस कौतुक-लोलुप दर्शकों की पीढ़ी से भी कभी वैसा घनिष्ठ परिचय न था, जो ब्रह्मर्षि विनोबा भावे के महा-परिनिर्वाण को अनखा कर, क्रिकेट के खिलाड़ियों का स्वागत करने के लिए लाखों की भीड़ में उमड़ पड़े और इसके लिए लज्जा या पश्चात्ताप का रंच मात्र अनुभव भी उसे न हो। इसलिए, सुकरात को विष पिलाने वाले यूनान, खि्स्त को शूली पर चढ़ाने वाले यहूदिया और मंसूर का प्रत्यंगच्छेदन करनेवाले ईरान की तुलना में भारतवर्ष अपने जिस गौरव-बोध के कारण, अपने को विशिष्ट मानता था, उसका आधार ही अब खण्डित हो गया है।

मगर महापुरुषों को अपमानित कर गर्व करनेवाली पीढ़ी केवल ऐतिहासिक सन्निपात के उन्माद की उपज है, ऐसा मान लेना भी हमें यथाचारवादी नास्तिकता की ही ओर ले जा सकता है। इस प्रसंग में गोरक्षा-सत्याग्रह-शिविर के सर्वोदयी बंधु श्री ब्रजमोहन शर्मा ने अपनी पुस्तिका-'कालातीत पुरुष की सत्य-साधना'—में कुछ विचारणीय रहस्यों का उपस्थापन किया है। वे लिखते हैं—

"इन दिव्य विभूतियों की एक कोटि में ऐसे लोग हैं, जो स्वयं लोकातीत होते हुए भी लोकोद्धार के लिए, साधारण लोगों के बीच, उन्हीं के

जैसे होकर रहते हैं और उन्हें अपने साथ ले-चलने का प्रयास करते हैं। इस तरह स्वयं युगातीत, कालातीत होते हुए भी वे युग-प्रवर्त्तक के रूप में प्रकट होते हैं। लेकिन ···उन्हें इस करुणा की कीमत भी चुकानी पड़ती है।...

"भगवान् राम सीता को अपने साथ रखें, यह अयोध्या की जनता को मंजर न हुआ। अन्ततः उन्हें सीता-जैसी पतिव्रता पत्नी तथा सदा छाया की तरह साथ रहनेवाले लक्ष्मण-जैसे भाई का भी त्याग करना ही पड़ा।... श्रीकृष्ण अपने स्वजन-बांधवों को भी उन्मत्त होने से नहीं रोक पाये और अन्ततः यादवों ने उनकी आँखों के सामने अपने-आप का संहार कर ही लिया :..अप्रतीकार और अ-हस्तक्षेप की भूमिका में स्थिर भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध पर भी क्या-क्या न बीता।...गाँधीजी को, (जिन्होंने हिंदू धर्म को विश्व-धर्म के रूप में प्रतिष्ठा दिलाई) एक हिंदू कहलानेवाले ने ही, राष्ट्र और धर्म का सबसे बड़ा दुश्मन मानकर, गोली मार दी ! महापुरुषों पर सबसे अधिक निर्मम प्रहार उन्हीं लोगों के द्वारा होते आये हैं, जिनका दावा रहा है कि वे उन्हीं के बताये मार्ग पर चलते रहे हैं।

"काका कालेलकर द्वारा उद्धृत एक पाश्चात्य-लेखक का यह वचन इस सिलसिले में अत्यन्त मार्मिक है—'महापुरुषों को उनकी महानता के लिए किस प्रकार की सजा दी जाय, यह निश्चय न कर पाने पर, नियति ने उन्हें अपने ही अनुयायियों के हाथों दण्डित कराया है।'

योग के कैलाश-शिखर पर आरूढ़ होने के दो मार्गों की चर्चा भारतीय साहित्य में मिलती है—(१) विहंगम मार्ग और (२) पिपीलिका-मार्ग। आनेवाले युग में विहंगम-मार्ग की उपयोगिता संदेहास्पद हो गई है। यह स्वयं ब्रह्मर्षि विनोबा भावे ही, घोषणा कर गये हैं। वे कह गये हैं कि विश्व के शेष लोगों को अधम, अयोग्य, अपात्र और हीन मानकर, अब यदि कोई पहाड़ की गुहा में केवल अपनी मुक्ति के निमित्त आजीवन तपस्या करता रह जाय, तो भी उसे मुक्ति नहीं मिलेगी और उसका वह प्रयास पूरे तौर पर विफल हो जायगा। इसलिए ब्रह्मर्षि विनोबा ने अपनी स्वस्ति केवल पिपीलिका-मार्ग को दी है। मगर चींटी की तरह कतार बांध कर, साथ-साथ, एक ही लक्ष्य तक पहुँचने की आप्राण चेष्टा का अनुशासन—पिपीलिका—मार्ग का अनुशासन—मनुष्य जाति भगवान् की असीम कृपा के बिना क्या कभी सीख पायेगी ?

मगर सबको साथ लेकर चलने की टेक—पिपीलिका मार्ग की टेक—महात्मा गाँधी और ब्रह्मर्षि विनोबा भावे-जैसे जो महापुरुष अपनाते हैं, उन्हें भी प्रलय-समुद्र में अकेले ही तैरना पड़ता है। भारतवर्ष-जैसा आध्यात्मिक

देश भी क्या प्रलय-समुद्र में आज तक अकेला ही तैरता नहीं रहा ? उसकी निरुपायता की इस स्थिति पर भी बाबा ने विचार किया था। वे हमें आश्वासन दे गये हैं—

"आप मायूस न होइये। जिससे ब्रह्म-विद्या निकली, अध्यात्म-विद्या निकली, उस भारतीय संस्कृति को आप सँभालें, तो आप दुनिया को बचानेवाले होंगे और आपको दुनिया को बचाने का भाग्य प्राप्त होगा।

(पृ० ३१, भूदान-गंगा, खंड-४)

"जब प्रलय के समय सारी दुनिया जलमग्न हो जाती है, तो अकेला मार्कण्डेय ऋषि तैरता रहता है और फिर वही दुनिया को बचाता है। उसी तरह आज भी दुनिया में विचारों से, वचन से, व्यापार से, शस्त्रास्त्रों से, एटम बम से, हर तरह से प्रलयात्मक प्रयत्न हो रहे हैं। प्रलय के इन सारे प्रयत्नों पर जो देश मार्कण्डेय की तरह अकेला तैरेगा, उसीके हाथ में दुनिया का नेतृत्व आयगा।

"मैं यह अभिमान से नहीं, बल्कि नम्रता-पूर्वक बोल रहा हूँ।

(पृ० १५१-५२, भूदान-गंगा, खंड-१)

पिछले ४३ वर्षों से प्रलय-समुद्र में एकाकी तैरनेवाली हिम्मत के एक अनूठे स्वप्न-पुरुष को मैं भी देखता रहा और उसी सम्मोहन में उसे मार्कण्डेय ऋषि की ही भाँति जरा-मरण से अतीत मानकर प्रसन्न होता रहा। लगता है वृद्ध हो जाने पर भी, हृदय के भीतर, हर कोई, एक हठी शिशु की ही तरह नादान रह जाया करता होगा। वह सच्चाई की हर पीड़ा को झेलने के लिए तैयार रह कर भी अपने सबसे ज्यादा मीठे सपने को टूट जाने की सहमति नहीं दे-पाता।

पिपीलिका-मार्ग पर चींटियों की कतार में, सबसे पिछली चींटी की हैसियत से, ४३ वर्ष पूर्व, मैं अनजाने ही क्यों और कैसे शरीक हो गया था, यह आज तक समझ नहीं सका। उस समय कांग्रेस सोश्यलिस्ट पार्टी के नाम से चींटियों की वह कतार पुकारी जाती थी। कबीर पहले ही बता गये थे—

"चींटी चावल लै-चली, मिली राह में दाल
दोनों साथ न ह्वै सकै, एक ले, एक दे डाल।"

चींटी का छोटा-सा मुँह चावल के साथ-साथ दाल को भी सँभाल ले, यह संभव नहीं। सो पार्टी का चावल छूट गया और 'नव भारत प्रकाशन' की दाल आ गई। १९५२ में वहीं से समाजवादी ग्रंथ-माला के कई ग्रंथ प्रकाशित हुए। उनमें 'जीवन के तीन अध्याय' ही नया था। 'क्रान्ति कैसे हो ?' तो

पुराना ग्रंथ था, जिसे बिहार की पहली स्वदेशी सरकार के द्वारा १९४८ ई० में ही जप्त कर लिया गया था, मगर इसके बावजूद उसकी तीन लाख प्रतियाँ तब तक हाथों-हाथ बिक चुकी थीं।

'भारत के महान् साधक' के प्रथम खण्ड का प्रकाशन १९६४ ई० के फरबरी महीने में हुआ था। 'नव भारत प्रकाशन' की नई सार्थकता का आरंभ इसके साथ ही हो गया था। उस खण्ड की भूमिका लिखी थी डॉ० संपूर्णानन्द ने और उसके प्राक्कथन के शब्द थे महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज के। मैं उसके अनुवादक-मंडल का एक सदस्य था, तब भी और आज भी। उस समय अनुवादकमंडल के सदस्य की ही हैसियत से परम पूज्य पं० श्री रामनंदन मिश्र जी, स्वयं भी, शरीक हुए थे। पिपीलिका-मार्ग यही तो है।

उसी ग्रंथ के ग्यारहवें खण्ड का प्रकाशन १९८९ में जब होने जा रहा है, तो उसकी भूमिका लिख देने की जिम्मेदारी मुझ पर आ पड़ी है। बीच के २५ वर्षों में क्या कल्प-तरुओं की यह अरण्य-भूमि देखते-ही-देखते निरस्त-पादप हो गई ? यदि नहीं, तो एरंड को द्रुम न कहकर एरंड ही कहा जाना चाहिए। मगर आज्ञा-पालन का जो निश्चित कर्त्तव्य है, उसमें नम्रता के बहाने प्रमाद करने का अपराध मैं वारंवार नहीं कर सकूँगा।

मगर बीच के वे पच्चीस वर्ष किस तरह बीत गये, यह सोंचने पर कलेजा मुँह को आ जाता है। प्रथम खण्ड जिनके कर-कमलों में समर्पित किया गया था, वे बहुजन-परमाश्रय बहुजन परमाराध्य श्री कालीपद गुहराय १९६६ ई० के अक्तूबर मास की १९ वीं तारीख के दिन ढाई बजे अपराह्न में मर्त्य शरीर का त्याग कर गये। इसके लगभग १२ वर्षों के बाद, हमारे बृहत्तर परिवार की आश्रयदात्री—सर्वंसहा, सर्व-वत्सला माता—पाराशरकुल की राजलक्ष्मी - श्रीमती राज किशोरी देवी भी, अपनी जन्मान्तरीण स्मृति के निष्ठुर कान्हा को कोस कर, करुणामय तथागत की कृपालुता को सराहती हुई, दीपक राग की तरह, मृत्यु की अँधियाली रात को चीरती हुई, संसार से सदा के लिए चली गईं।

मृत्यु की उस रात को आँसुओं की तरह पीकर जो पहली पीली सुबह उगी, उसमें हमने देखा कि चक्रवाकी के विछोह ने चक्रवाक को एक ही रात में बूढ़ा बना दिया है। बाबूजी के वृद्ध हो जाने की कल्पना भी मुझे असह्य थी।

परम पूज्य पंडित श्रीरामनंदन मिश्र को, उसी दिन, पहले-पहल, छड़ी टेक कर श्मशान-यात्रा के उदास राजपथ पर, चलते देखा गया। चलने के

पहले वे केवल इतना ही बोल पाये— 'आपलोगों की माँ को, कितना कठोर होकर, मगर कितने प्यार के साथ मैंने विदा कर दिया ! जो साठ वर्षों तक, जीवन के कंटक-मार्ग पर, हर डग पर साथ देती रहीं, उनके विना एक पग चल पाना भी अभी कठिन लग रहा है । मगर धीरे-धीरे अकेले चल पाना भी, अभ्यास के बल पर, आसान हो जायगा ।"

चक्रवाक यदि अपने विहंगम-मार्ग से अकेला ही जाना चाहता, तो वह कैलास-शिखर से उतर कर धरती पर क्यों आता ? हमारी तरह की अगणित पिपीलिकाओं को, अपने साथ ले चलने की अपार करुणा के कारण ही तो उसने इस पिपीलिका-मार्ग को चुना था । सोश्यलिस्ट पार्टी को चावल की तरह मुँह से गिरा देना और नव-भारत-प्रकाशन को दाल की तरह मुँह से लगा लेना, चींटियों की जरूरत भले हो, मगर चक्रवाक के लिए तो वह प्रेम और करुणा का एक खेल भर था ।

श्मशान-यात्रा के पथ पर, उसी दिन, पैदल चलते-चलते मुझे अपने बृहत्तर परिवार के एक पशु-सदस्य के भाग्य से ईर्ष्या होने लगी । कहने को, यों, तो वह कुत्ता ही था— जमदरबा । माँ उसे अपने ही हाथों खिलातीं और बाबूजी के ही पैरों से सटकर वह लगातार ध्यान-मग्न पड़ा रहा करता । ३२ वर्ष की उम्र पार कर जब वह बेतरह बूढ़ा और बीमार हो गया और उन चरणों के पास पड़े रहने का एकाधिकार जिस दिन उससे छीन लिया गया, उस दिन उसकी आँखों ने बेवसी के आँसू बहाये थे । मगर मृत्यु की घड़ी में उसने जब अपने शिर के पास बाबू जी को अचानक खड़ा देखा, तो वह खुशी से पागल हो गया । मुमूर्षु ने अपनी लटकती गर्दन उठाई और चारों ओर गर्व-पूर्वक देख कर घोषणा की— 'भौं-भौं' । अपना हठ पूरा कर लेने के बाद वह मृत्यु के अंक में शिशु की तरह सो गया था ।

मनुष्य कुत्ते की भाषा नहीं समझ पाता । 'भौं - भौं' कर उसने क्या कहा ?

कवि गुरु रवीन्द्र नाथ ठाकुर की काव्य-पुत्री ने गन्तुक पिता की राह रोक कर कहा था— "जेते ना दिबो ।" जमदरबा जाते-जाते, अपने आगत स्वामी का चुनौती दे गया— 'जेते ना दिलाम ।" हाँ, जीते-जी उसने न तो माँ को जाने दिया, न ही बाबू जी को वृद्ध होने दिया । वह कितना भाग्यशाली था !

भगवान् हमारे बीच बार-बार आते हैं, पर हम उन्हें नहीं पहचान पाते । कामरूप जगन्नाथ के ऐसे अनेक अप्रत्यभिज्ञेय लीला-विग्रहों की कथा, न कभी

किसी इतिहास या पुराण में समा पायी है, न ही 'भारत के महान् साधक' -ग्रन्थ-मालाके किसी एक खण्ड में कभी समा पायेगी। जिन्होंने उन्हें पहचानने की सामर्थ्य उन्हीं के द्वारा दी गई दिव्य आँखों के सहारे पाई थी, उन्हें भी, उनकी ओर देखते रहने का साहस साथ न दे सका। वे भी घबड़ा कर पुकार उठे थे।

"अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास।"

जिनके पास हमारे प्रलापों की पहुँच नहीं, उनके पास हमारी प्रार्थना क्या पहुँच पायगी ? सम्भवतः हाँ, क्योंकि न्याय करने का ढोंग तो मनुष्य भी करता ही आया है और करता ही रहेगा, मगर क्षमा करने का ढोंग उसके बूते की बात नहीं। क्षमा की क्षमता भगवान् की अपनी विभूति है।

खृस्त ने कहा था—"धरती पर सन्तों का जितना लहू बहा है, वह एक-न-एक दिन, तुम्हारे शिर पर अवश्य पड़ेगा।" वह शाप धरती के सिर पर पड़ा। तभी तो प्रलय के समुद्र में मार्कण्डेय ऋषि अकेला तैर रहा है।

मगर खृस्त ने तो यह भी कहा था – 'प्यारे पिता, इन पापियों को क्षमा कर दे, क्योंकि ये नहीं जानते कि ये क्या करने जा रहे हैं।'

क्या खृस्त का यह आशीर्वाद भी फलित होगा ?

प्रलय-समुद्र में अकेला तैरना तो मार्कण्डेय ऋषि के ही वश की बात है। मगर प्रलय के समुद्र-तट पर खड़ी मानव-जाति के लिए प्रार्थना करने का अधिकार केवल खृस्त का नहीं, हम पिपीलिकाओं का भी है।

हे रस-रूपेश्वर प्रियतम, हे प्रेम-पुरुषोत्तम, हे महर्षि याज्ञवल्क्य, हे दादा जगन्नाथ देव के दारु-विग्रह को, अपने को शून्य बनाकर पूर्ण कर देनेवाले जीवन-यज्ञ के हे अमृत-मेघ, हे भुवनाकार वामदेव, हे विदेह करुणा के सदेह अवतार, हमने आपके प्रति निरन्तर अपराध-ही-अपराध किये। आपकी असीम और अहैतुकी कृपा की अजस्र-वृष्टि को हमने अपने प्रति व्यर्थ कर दिया। मगर फिर भी आप हमारे ही अपराधों को नहीं, प्रत्येक व्यक्ति के प्रत्येक अपराध को क्षमा कर दें। हे नीलकंठ, आपका यह विष-पान ही, अशेष सृष्टि के लिए नव-जीवन-दान बनेगा। हमारे पास पश्चात्ताप के आँसू

के सिवा कुछ नहीं, जिसे हम आपके चरणों पर अर्घ्य के रूप में निवेदित कर सकें—

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं, हे कृष्ण, हे यादव, हे सखेति,
अजानता महिमानं तवेदं, मया प्रमादात् प्रणयेन वापि ।

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि, विहार — शय्यासनभोजनेषु
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं, तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयं ।

पिताऽसिलोकस्य चराचरस्य, त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो, लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ।

तस्मात् प्रणम्य प्रणिधाय कायं, प्रसादयेत्वामहमीशमीड्यम्
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः, प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ।

दरभंगा
२६-५-१९८९

—रमाकान्त पाठक

प्रकाशकीय

भारत के महान साधक के ग्यारहवें खण्ड को प्रकाशित करते हुये हमें अपार हर्ष हो रहा है। इसके मूल लेखक स्व० प्रमथ नाथ भट्टाचार्य के प्रति हम कृतज्ञ हैं जिन्होंने अपने जीवन के बहुमूल्य १५ वर्ष महापुरुषों की जीवनियों के संग्रह में लगा दिया। हम अपने अनुवादकों के प्रति भी हार्दिक कृतज्ञता अर्पित करते है।

हिन्दी के पाठकों के समक्ष मूल बंगला पुस्तक का हिन्दी रूपान्तर उपस्थित है। इसकी महत्ता और उपयोगिता का निर्णय उन्हें ही करना हैं।

देश के सब क्षेत्रों के महानुभावों से हमें हर तरह की सहायता मिली है। उनकी इस सहायता के बिना इसका प्रकाशन कभी संभव नहीं होता। हम उनके ऋण से मुक्त नहीं हो सकते। इस अवसर पर उन महानुभावों के प्रति हम अपनी आंतरिक कृतज्ञता व्यक्त करते हैं।

इस ग्यारहवें खंड को, इस रूप में प्रेस में भेजने के पहले, जिन्होंने आरंभ से अन्त तक, एकबार स्वयं देख लिया था, हमारे बृहत्तर परिवार के वे पितृदेव—परम पूज्य पं० श्रीरामनंदन मिश्रजी—गत २७ अगस्त १९८९ की रात के सवा दस बजे अपने स्थूल शरीर का त्याग कर गये। आज इस संसार में न इस ग्रंथमाला के प्रेरक महापुरुष श्रीकालीपद गुहराय हैं, न इसके मूल बंगभाषा रूप के प्रस्तोता श्रीप्रमथनाथ भट्टाचार्य और न ही इसके हिंदी भाषान्तर के प्रवर्त्तक और अनुष्ठाता पं० श्रीरामनंदन मिश्रजी। मगर यह बात केवल मर्त्य कलेवरों के ही प्रसंग में सच है। उनकी अमृतमय उपस्थिति तो हमारे बीच सदा बनी रहेगी। तभी, हमें आशा और विश्वास है कि उनका यह अनुष्ठान, उन्हीं की कृपा के सहारे, अन्त तक चलता रहेगा।

लहेरियासराय
१७,१०.'८९

निर्भय राघव मिश्र
प्रकाशक

सूची-पत्र

स्वामी रामानन्द
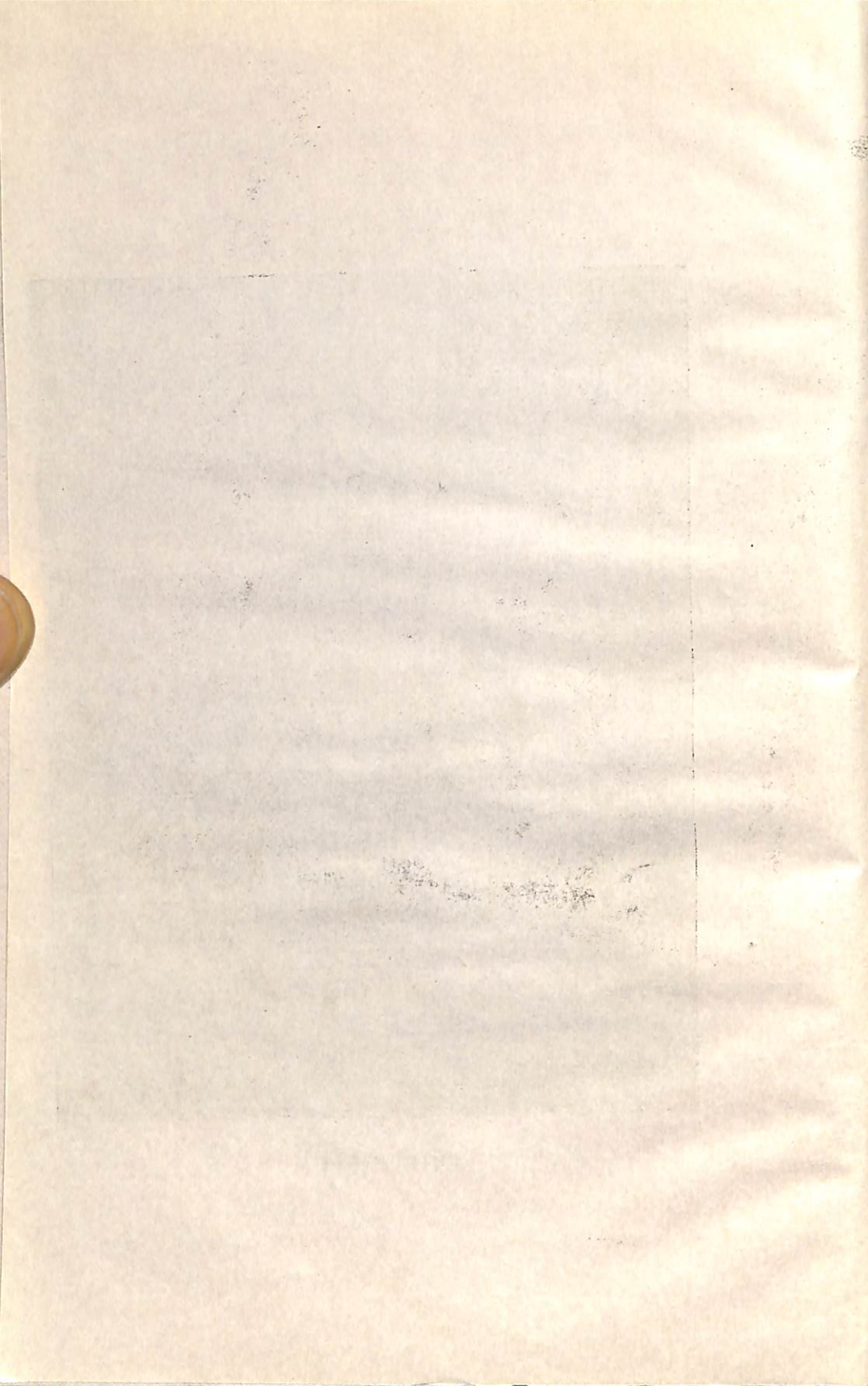
आचार्य रामानन्द

रात की अँधियाली अभी तक साफ नहीं हुई। आकाश के छितराव में टँके दो-चार तारे भी अभी तक टिमटिमा ही रहे हैं। भोर में ही जाग जानेवाली काशी की सड़कों पर भी अभी तक चलनेवालों के पाँवों की आवाज सुनायी नहीं पड़ रही है। मगर रामदत्त तो ऐसा कुछ होने के पहले ही जाग जाया करता है। उसे चुपके-चुपके बगीचों से फूल बटोर लाने के निमित्त ऐसा ही नीरव और निर्जन समय चाहिए। वह हाथों में फुलडाली लिये चुपचाप सड़क पर बेतहाशा बढ़ा चला जा रहा है। चींटी के चलने की भी आवाज होती होगी, मगर रामदत्त जब फूल चुराने के लिए दबे पाँव विदा होता है, तो कोई आवाज नहीं हो सकती।

सँकड़ी गलियों के घुमावदार रास्ते से होकर वह पंचगंगा महल्ले के उस बड़े बागान में पहुँच चुका है। बागान चौतरफ दीवारों से घिरा है। इतना बड़ा बागान शायद काशी में दूसरा दिखायी नहीं पड़ता। और, इस बागान के फूलों का तो कहना ही क्या? वैसे फूल दुर्लभ ही कहे जायँगे। उनके लिए रामदत्त-जैसे बालक को लोभ न होता तो भला किसे होता? करीने से फैली हुई झाड़ियों की कतार में रंग-रंग के सुगंधित फूल रात गुजरने से पहले ही खिलखिला उठते हैं। शायद रामदत्त को उन्होंने पहचान लिया है और वे उसे देखते ही प्रसन्न होकर हँस पड़ते हैं। सुगंधि की धारा में इन फूलों की हँसी अन्धकार में भी छिपी नहीं रह पाती। ताजा-ताजा मोंगड़े, लजीली जूही, सकुमार चमेली और शालीन मालती के फूलों को इस तरह खिलते-खुलते देखकर रामदत्त के प्राण जुड़ा जाते हैं। फूलों से उसकी पुरानी दोस्ती है, संभवतः अनेक पुराने जन्मों की दोस्ती। कभी-कभी रात के अन्त में और कभी-कभी दिन उगने के थोड़ा पहले के क्षीण आलोक में चहारदीवारी को फलाँग कर वह बगीचे के भीतर फिसल जाता है। एक-एक खूबसूरत फूल के पास जाता और चुपचाप उन्हें अपनी फुलडाली के हवाले कर लेता है। यह कुछ एक बार की बात नहीं; उसके दैनन्दिन प्रातःकृत्य का अनिवार्य अंग हो गया है।

आखिर गुरुदेव की पूजा के लिए पौ फटने के पहले ही ताजा-ताजा सुगंधित खूबसूरत और पूरे तौर पर खिले हुए फूल चाहिए न ? और सो भी प्रचुर मात्रा में ! बालक रामदत्त गुरु की इस आवश्यकता की पूर्त्ति प्रतिदिन उत्साहपूर्वक करता है। लेकिन दबे पाँवों चोर-गली के घुमावदार रास्तों से गुजर कर उस बड़े बागान में पैठ जाना और फूलों से भरी फुलडाली के साथ वापस लौट आना कोई आसान और निरापद काम तो नहीं है ! यों तो आश्रम में बहुतेरे लोग हैं, किन्तु ताजा खिले हुए सुगंधित लाल, पीले, नीले और उजले फूलों की जैसी दुर्लभ बानगी रामदत्त एकत्र कर सकता है और सो भी सुबह होने के घंटे-भर पहले ही, यह चमत्कार किसी दूसरे के वश की बात तो नहीं है। यह भी ठीक ही है कि पुष्प-संग्रह के इस चतुर्दिक साहसिक कार्य में अनेक विघ्न-बाधाएँ आती रहती हैं। किसी ने यदि रामदत्त के इस साहस भरे कौशल का सुराग पा लिया तो जान आफत में फँस सकती है और आसानी से रामदत्त छुटकारा नहीं पा सकता—इस तथ्य का पता रामदत्त से अधिक भला किस दूसरे को होगा ?

चतुर उँगलियों से फूलों को धड़ाधड़ संकलित करते समय बालक रामदत्त इसीलिए छौने की तरह चौकन्ना बना रहता है। लो, फुलडाली तो अब लबालब भर गई ! नहीं, अब और नहीं, आज इतना ही काफी है। कौन जाने कोई देख ही ले, फिर बड़ी विपत्ति हो जायगी। ज्यादा लोभ करना ठीक नहीं। कौन जाने क्या करते क्या हो जाय ?

घनी झाड़ियों की आड़ में अपने को छिपा-छिपा कर रामदत्त अब बागान से निकलने के लिए दीवार के पास सरकता चला आ रहा है। इसी बीच किसी गंभीर कंठ-ध्वनि ने आक्रोशपूर्वक गर्जन किया : "कौन है रे, कौन है वहाँ ? कौन फूल चुरा रहा है ? ठहर !"

अप्रत्याशित विपत्ति की तर्जना को सुनकर रामदत्त के प्राण उड़ गये। ऐसा तो कभी नहीं हुआ था। अब वह क्या करे ? क्या फूलों से भरी फूलडाली को हाथ में लिये दीवार को फलाँग जाना, भय की ऐसी स्थिति में उसके लिए संभव होगा ? यदि उसने हिम्मत से काम लिया तो भी विपत्ति से छुटकारा नहीं मिलेगा। बागान जिस आश्रम का है, उसमें उसकी ही उम्र के बहुतेरे छात्र निवास करते हैं। उनमें से कुछ रामदत्त से भी ज्यादा तेज दौड़ने वाले हों तो रामदत्त के लिए भाग पाना संभव नहीं होगा। सभी चारों ओर से घेर लेंगे। अपराध स्वीकार कर लेना ही उचित होगा। भागने की

चेष्टा से कोई लाभ नहीं। शोर-गुल सुनकर, पता नहीं, नगर के कितने लोग एकत्र हो जायँ, इसका ठिकाना ही क्या ? लगता है, आज आसानी से छुटकारा न मिलेगा।

तब तक तर्जना करनेवाले कंठ-स्वर ने डाँटकर पूछा : "कौन हो तुम ? चुप मत रहो, बोलो, जवाब दो ! आश्रम के फूल तुम रोज़-रोज क्यों चुरा लिया करते हो ?"

"चुरा लिया करता हूँ ! नहीं, इसे चोरी कौन कहेगा ? देवता के लिए ही तो संग्रह करता हूँ ये फूल, कुछ अपने लिए तो संग्रह नहीं करता ! इसे क्या चोरी कहा जायगा ?" —रामदत्त ने मन-ही-मन वितर्क किया और पूछनेवाले के पास जाकर सीधे-सीधे बोला—"अपने लिए कुछ संग्रह करता होऊँ, तो उसे भले ही आप चोरी कहें, देवता को अर्पित करने के लिए फूल चुनना तो चोरी नहीं है ?"

पूछनेवाले ने आश्चर्यपूर्वक प्रतिरोध किया—"बड़े शौक़ हो जी ! कैसी निराली युक्ति दी है तुमने ? अपराध को छिपाने के लिए बड़ा अच्छा बहाना ढूँढ़ लिया तुमने ! जरा और पास आओ तो ! तुम्हें निकट से देख ही लूँ !"

अँधियाली साफ होती जा रही थी, इसलिए रामदत्त को मुख छिपाने का कोई उपाय नहीं दिखाई पड़ा। वह भय, विस्मय और संभ्रम से हत्‌वाक् हो उठा। सामने खड़ी सौम्य आकृति को पहचान कर वह और अधिक घबड़ा गया। हाय रे, ये तो स्वयं स्वामी राघवानन्दजी महाराज हैं ! पूरे भारतवर्ष में इस महापुरुष को कौन नहीं जानता ? रामानुज-संप्रदाय के अग्रणी आचार्य हैं—यही श्री राघवानन्द स्वामी। काशीधाम के साधकों के बीच उनके प्रभाव और प्रतिष्ठा की कोई सीमा ही नहीं। लेकिन इसके पहले मठ के प्रांगण से बाहर निकलकर जन-साधारण के दृष्टि-पथ में उन्हें प्रकट होते हुए तो किसी ने नहीं देखा था ! ये तो मंदिर के गर्भ-गृह में प्रायः निरन्तर ध्यानासन में ही बैठे रहा करते हैं। वे स्वयं कैसे आ गये ? यह असंभव कार्य रामदत्त के ही दुर्भाग्य से घटित हुआ। आज उसकी चोरी पकड़ी जानी थी—ऐसा निश्चय नियति ने शायद पहले ही कर रखा था, अन्यथा अहले सुबह पुष्प-संग्रह के दैनन्दिन गोपनचर्या का रहस्य अंततः स्वयं राघवानन्दजी महाराज के सामने, इस तरह, क्यों अचानक ही प्रकट हो जाता ?

प्रियदर्शन बालक की आँखों में आँसू भर आये थे और आर्त्तता के आवेग से उनका भोला कंठ-स्वर गद्गद् हो उठा था। स्वामी राघवानन्द का हृदय द्रवित होने लगा। वे अपने करुणा-घन रूप को छिपाये नहीं रख सके।

स्नेहपूर्ण स्वरों में ढाढ़स देते हुए उन्होंने कहा—"वत्स, अभी तो तुम निश्चिन्त मन से निर्भय होकर अपने आश्रम को लौट जाओ। मैं तुम्हें वचन देता हूँ कि तुम्हारे लिए भय का कोई कारण नहीं है। और, यह भी सुन लो; अभी तत्काल जाकर अपने आचार्य को मेरा संवाद कह देना। आज ही किसी समय आकर वे मुझसे मिल जायँ।"

बालक रामदत्त के मुख से पूरा वृत्तान्त सुन लेने के बाद उसे अपने साथ लिये उसके शिक्षा-गुरु थोड़ी ही देर बाद, स्वामी राघवानन्दजी महाराज के निकट उपस्थित हुए। बोले –"महाराज, पूरी बात सुन लेने पर मुझसे रहा नहीं गया। इसीलिए असमय में उपस्थित होना आवश्यक हो गया। आपने ठीक ही बताया है। ज्योतिष-विद्या में मेरा जो यत्किंचित् प्रवेश है, उसके आधार पर मुझे आरम्भ में ही कुछ वैसा ही प्रतीत हुआ था, किन्तु मेरे हाथ में तो कोई उपाय है नहीं। उपाय तो आप-सरीखे लोकोत्तर महापुरुष के ही पास है। मैं इतना ही निवेदन कर सकता हूँ कि रामदत्त मेरा परम स्नेहभाजन छात्र है। इसे आपकी कृपा प्राप्त हो, इससे अधिक प्रसन्नता की बात मेरे लिए और क्या होगी ? हम सभी जानते हैं कि आपकी योग-विभूति असाधारण है। इच्छामात्र से आप नियति के लेख को पलट सकते हैं।"

मन्द मुस्कान के साथ स्वामी राघवानन्द ने प्रशस्ति-वाक्य को अनखाते हुए कहा—"आचार्य महाशय, आप इस तरह अस्त-व्यस्त न हों। आपको अनुरोध करने की आवश्यकता न होनी चाहिए। आपको बताने में हर्ज नहीं। मुझे गत रात्रि-वेला में ही ऐसा लगा था कि रामदत्त आश्रम के बड़े बागान में फूल तोड़ने के लिए अहले सुबह आनेवाला है। उसी समय इसके आयुष्य के उपचार की ईश्वरेच्छा, आदेश बनकर मेरे सम्मुख उपस्थित हो गई थी। इसके प्राक्तन अभिलेख का उपचार पूरा कर दिया गया। इसीलिए आवश्यक है, इसके नूतन जीवन-पथ पर इसे अविलंब प्रतिष्ठित कर देना। मैं यह भी आपको बता दूँ इसे एक महान् कर्म के प्रति संलग्न कर देने की ईश्वरीय आज्ञा भी मुझे मिल चुकी है। जन-कल्याण के निमित्त आवश्यक है कि इसे अभी धरती से विदा नहीं होने दिया जाय।"

बालक रामदत्त के आचार्य आनन्द से खिल उठे। अपने प्रिय शिष्य को उसी समय उन्होंने उत्साहपूर्वक स्वामी राघवानन्द जी के आश्रम को सौंप

दिया। दूसरे ही दिन स्वामी राघवानन्द ने बालक रामदत्त को संन्यास की दीक्षा दे-दी और उसे संन्यासी के रूप में नवीन नाम प्राप्त हुआ—रामानन्द।

काशी में ऐसी जनश्रुति है कि दीक्षा के कुछ ही दिन बाद रामानन्द के जीवन का निर्धारित मृत्यु-लग्न उपस्थित हुआ और गुरु स्वामी राघवानन्दजी महाराज ने अपनी असाधारण योगशक्ति के बल पर उस मृत्यु का निवारण कर दिया। उसके बाद गुरु के आशीर्वाद से स्वामी रामानन्द ने सुदीर्घ परमायु और विपुल कर्मशक्ति प्राप्त की।

रामानन्दी-सम्प्रदाय के मत के अनुसार स्वामी रामानन्द एक सौ ग्यारह वर्ष तक जीवित रहे और अगणित मनुष्यों को भक्तिधर्म के ऐश्वर्य से मंडित करने में उन्होंने गुरु के द्वारा दी गई आयु का सदुपयोग किया।

भक्ति-साधना के श्रेष्ठ संवाहक के रूप में स्वामी रामानन्द ने अपने को प्रकट और अग्रसारित किया। भक्ति-आन्दोलन को उन्होंने एक उदारतर आधार दिया। उस आधार को असीम मानवता-बोध के द्वारा उन्होंने एक नवीन आलोक प्रदान किया। स्वामी रामानुज के द्वारा प्रवर्तित भक्ति-तत्त्व के इस नवीन रूप ने नये ऐश्वर्य और अपरूप माधुर्य की ज्योति फैला दी और सामाजिक जीवन के प्रत्येक स्तर को उसके सहारे मंगलमय अवदान प्राप्त हुए। इसके पीछे शक्तिधर आचार्य स्वामी रामानन्द के जीवन और वाणी का जो अतुलनीय माहात्म्य है, उसका वर्णन संभव नहीं। रामानन्द-संप्रदाय के लक्ष-लक्ष साधकों ने भारतवर्ष को आध्यात्मिक साधना की जो विभूति दी है, वह सचमुच अपरिमेय है।

मध्ययुग के अधिकांश भक्त, साधक और रहस्यवादी संतों की भावधारा पर स्वामी रामानन्द का गंभीर प्रभाव पड़ा है। कबीर तो उनके साक्षात् शिष्य कहे जाते हैं। इसमें भी संदेह नहीं कि गोस्वामी तुलसीदास की भक्तिधारा का मूल उत्स भी स्वामी रामानन्द की भावधारा में ही ढूँढ़ लिया गया। नानक, दादू, रैदास और बंगाल के गौड़ीय भक्तों पर भी स्वामी रामानन्द की भक्तिधारा का प्रचुर प्रभाव पड़ा था। एक दृष्टि से कहा जा सकता है कि उत्तर भारत का जो मध्यकालीन भक्ति-साहित्य है उसके आदिपुरुष के रूप में स्वामी रामानन्द ही सर्वाधिक स्मरणीय व्यक्तित्व हैं।

दक्षिण भारत में भक्तिसाधना की एक प्राचीनतर धारा थी। कुछ विद्वान् उस धारा को द्वापर-युग के अंतिम चरण की उपज मानते हैं। नयनमार शैव-भक्तों और आलवार वैष्णव-भक्तों की युगपत् भक्तिधारा दक्षिण भारत को अनेक सहस्राब्दियों तक आप्लावित किये रही। आलवार वैष्णवों के प्राचीन

तमिल साहित्य को नाथमुनि, यामुनाचार्य और आचार्य रामानुज के कालान्तर में नयी शास्त्रीय प्रतिष्ठा दी। रामानुज का विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त उसी धारा का दार्शनिक प्रतिपाद्य बनकर भारतीय वेदान्त को नया आलोक प्रदान कर गया। उक्त तीनों ही आचार्य वर्त्तमान तमिलनाडु के निवासी थे और उसी अंचल के इर्द-गिर्द उनके जन्म-स्थान थे, जिस अंचल को आलवार वैष्णव भक्तों की गीतिधारा ने भक्ति का अभिनव रस प्रदान कर सरस बनाया था। इसलिए कबीर-पंथ की उस प्राचीन अनुश्रुति को प्रामाणिक मानने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए, जिसके अनुसार भक्ति की जन्म-भूमि को द्रविड़-देश के नाम से पुकारा गया था और उत्तर भारत में उसे नये सिरे से प्रतिष्ठित और प्रवाहित करने का श्रेय आचार्य रामानन्द स्वामी को दिया जाता रहा है। अपने व्यक्तित्व और साधनशक्ति के बल पर रामानन्द ने उत्तर भारत में भक्तिधारा को किस प्रकार से एक नये आन्दोलन के रूप में विकसित किया, यह वृत्तान्त अबतक ठीक-ठीक ज्ञात नहीं हो सका है। किंतु उत्तर भारत के भक्तों और साधकों के बीच आचार्य रामानन्द को जिस पूज्य भाव से निरन्तर स्मरण किया जाता रहा है, वह अपने-आप में एक प्रामाणिक ऐतिहासिक तथ्य है।

डॉ० रामकृष्ण भण्डारकार ने अपने ग्रंथ 'वैष्णविज्म, शैविज्म ऐण्ड अदर रेलिजन्स' में आचार्य रामानन्द का जो परिचय दिया है, उसके अनुसार आचार्य रामानन्द का जन्म खि्स्ताब्द की तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में—१२९९ ई० में— माना जाता है। प्रयाग के पास मालकोट नामक एक प्राचीन स्थान पर इनका जन्म हुआ था। ये गौड़ ब्राह्मण-वंश के रत्न थे। इनके पिता का नाम था—श्री पुण्य सदन और माता का नाम सुशीला देवी। इनके बचपन के नाम की चर्चा, इस जीवन-वृत्त के आरम्भ में ही की जा चुकी है। काशी में अध्ययन के समय ये रामदत्त के नाम से ही पुकारे जाते थे।

कहते हैं कि पहले मालकोट शैव-मतावलंबी ब्राह्मणों का साधना-केन्द्र था। एक बार आचार्य रामानुज अपने शिष्यों के साथ उस स्थान पर तीर्थयात्रा के क्रम में आ-पहुँचे थे। उनके व्यक्तित्व के माधुर्य और ऐश्वर्य के प्रभाव से मालकोट की जनता आप्यायित हुई थी और आचार्य ने उस अंचल में एक विष्णु मंदिर की स्थापना कर दी थी। मंदिर में स्थापित विग्रह की प्राण-प्रतिष्ठा अपने हाथों करने के बाद आचार्य रामानुज वहीं से श्रीरंगम् की ओर सीधे लौट गये थे। मालकोट में वैष्णव धर्म के स्थापन के लिए उनका यह उद्योग कालान्तर में आचार्य रामानन्द के आविर्भाव के रूप में सफल हुआ—ऐसा मानना स्वाभाविक है।

माता-पिता ने अपने प्रियदर्शन शिशु का लालन-पालन यत्नपूर्वक किया था। बालक रामदत्त का उपनयन-संस्कार आठवें वर्ष के आरम्भ में ही कर दिया गया। इसके बाद कुल-मर्यादा के अनुरूप शास्त्रों का अध्ययन करने के लिए रामदत्त को काशी भेजा जाना उचित ही था। बालक की प्रतिभा और मेधा का तो कहना ही क्या? गाँव की चतुष्पाठी के छात्र के रूप में ही रामदत्त की बुद्धि की प्रशंसा मुक्त-कंठ से की जाने लगी थी। केवल सहपाठियों के बीच नहीं, अध्यापकों और ग्राम के वयोवृद्ध पंडितों के बीच भी बालक रामदत्त को आदर की दृष्टि से देखा जाता था।

गाँव के बड़े बूढ़े कहते, "भाई पुण्यसदन, आप सचमुच बड़े भाग्यवान् हैं। भगवान् विष्णु की कृपा के बिना ऐसे प्रतिभाशाली पुत्र का पिता होना संभव नहीं है। इसकी पढ़ाई-लिखाई में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं की जानी चाहिए। इसके लिए जरूरी है कि इसे गाँव के बाहर वाराणसी के किसी बड़े पंडित के विद्याश्रम में भेज दिया जाय। इसमें संदेह नहीं कि काशी की पंडित-मंडली के बीच रहकर यह बालक देश का दिक्पाल पंडित बन जायगा और अपने जन्म-स्थान का नाम उज्ज्वल करेगा।

पुत्र की प्रशंसा सुनकर पंडित पुण्यसदन की आँखों में आनन्द के आँसू भर आते। कृतज्ञतापूर्वक वे ग्राम-वृद्धों के अनुरोध को शिरोधार्य करते हुए कहते हैं—"आपलोगों का आशीर्वाद भगवान विष्णु की कृपा से सफल हो, यह तो मैं भी चाहता हूँ। किन्तु इतनी कम उम्र में उसे वाराणसी-जैसी बड़ी नगरी में अकेला छोड़ दूँ, यह सहन नहीं हो पायेगा। बच्चे की माँ तो रो-रोकर जान दे-देगी। और थोड़ा बड़ा हो जाय, तभी ऐसा करना संभव होगा। काशी है भी तो दूर! गाँव का लड़का उसे देखकर ही घबड़ा उठेगा।"

उपनयन के बाद के चार वर्ष किसी प्रकार से उधेर-बुन में बीत गये। इसी बीच ग्राम की चतुष्पाठी में रामदत्त ने धर्मशास्त्रों के एक-से-एक दुरूह पाठ सीख लिये। बारह वर्ष की उम्र पूरी करने से पहले ही बालक रामदत्त नवपंडित के रूप में गाँव-पड़ोस में स्मरणीय हो उठा। ऐसी विलक्षण प्रतिभा के विकास के लिए अगली पढ़ाई ग्राम-चतुष्पाठी में संभव न थी। यह समझने में पुण्यसदन को अब कोई कठिनाई नहीं रही।

उन दिनों वाराणसी उत्तर भारत का ही नहीं, पूरे देश का सर्वोच्च विद्या-केन्द्र थी। दिग्दिगन्त से आये हुए आचार्य और शास्त्रविद् ब्राह्मणों ने काशी में स्थान-स्थान पर विद्याश्रम स्थापित कर रखे थे। अध्ययन-अध्यापन,

विचार-विनर्क, धर्मसभा और यज्ञ के अनुष्ठानों से काशी नगरी आप्लावित रहा करती थी। इसी नगरी में एक दिन बालक रामदत्त भी अगले अध्ययन के लिए उपस्थित हुआ।

शास्त्र के उच्चतर पाठ के लिए एक स्मार्त आचार्य की चतुष्पाठी में उसे सौंपकर पुण्यसदन मालकोट लौट गये। इसी आचार्य की देव-पूजा के निमित्त पुष्प-संग्रह करने के क्रम में, उस दिन, राघवानन्द स्वामी से बालक रामदत्त का नाटकीय साक्षात्कार संभव हुआ था। समर्थ गुरु राघवानन्द के आशीर्वाद से बालक रामदत्त किस प्रकार आचार्य रामानन्द स्वामी के रूप में परिवर्त्तित हो गया, यह कथा आरम्भ में ही बतायी जा चुकी है।

नये शिष्य को पाकर आचार्य राघवानन्द की प्रसन्नता अजस्र हो चली। अनेक प्रकार के यत्न और मनोयोग के साथ वे नवसंन्यस्त ब्रह्मचारी को साधना के गंभीर रहस्यों के क्षेत्र में प्रेरित करने लगे। गुरु को इसका आभास हो चुका था कि रामानन्द जन्मजात सात्विक आधार से संपन्न महापुरुष हैं और विश्वके कल्याण के लिए उनका ईश्वरीय शक्ति के द्वारा सद्य: सदुपयोग अवश्यंभावी है। इसीलिए वैष्णव साधना और शास्त्र के निगूढ़ तत्त्वों से उन्हें परिचित करा देना, उन्होंने अपना पुनीत कर्त्तव्य मान लिया। शक्तिमान शिष्य को उन्होंने केवल अमोघ पात्रता ही प्रदान नहीं की, कृपापूर्वक उनके अल्पायु-योग का भी उन्होंने योगशक्ति से निरसन कर दिया। गुरु के उदार दाक्षिण्य के आश्रित होकर स्वामी रामानन्द शनैः शनैः विद्या और साधना के शिखर का आरोहण करते चले गये।

गुरु की जैसी असीम कृपा थी, शिष्य की वैसी ही अमोघ धारणा-शक्ति थी। इस मणिकांचन योग का सत्परिणाम आगे चलकर स्वत: प्रकट हुआ।

उन दिनों आचार्य रामानुज के विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के दिक्पाल आचार्य के रूप में स्वामी राघवानन्द को अन्यतम माना जाता था। उनका जन्म भी दक्षिण भारत में ही हुआ था। दक्षिण भारत से पैदल चलकर वे वाराणसी नगरी में किस प्रकार पहुँचे, इसकी भी एक अद्भुत कथा रामानन्दी संप्रदाय के वैष्णवों के बीच सुरक्षित है। सच तो यह है कि शैवों की नगरी काशी में वैष्णव धर्म का ध्वज स्थापित करनेवाले महापुरुषों में स्वामी राघवानन्द का स्थान आचार्य रामानुज के बाद अन्यतम है। उन्होंने भक्ति-साधना के जो मधुचक्र स्थापित किये थे आचार्य रामानन्द को वैष्णव धर्म के प्रचार में और भक्ति-आन्दोलन के उत्थापन में उनसे प्रचुर सहायता आगे चलकर प्राप्त हुई।

आचार्य राघवानन्द के विद्याश्रम में निवास करते स्वामी रामानन्द के अनेक वर्ष बीत गये। अब वे पूर्ण वयस्क युवक हो गये हैं। गुरु की कृपा से शास्त्र और साधना के क्षेत्र में उनकी उपलब्धि और उनकी योग-विभूति की चर्चा काशी नगरी के पंडितों और साधु-संन्यासियों के बीच व्यापक रूप ले चुकी है। विशिष्टाद्वैत के अनुपम व्याख्याता के रूप में भी उनकी प्रसिद्धि उत्तर भारत में सर्वत्र व्याप्त है। काशी के अभिजन समाज में उनकी लोकप्रियता और प्रतिष्ठा की कोई सीमा नहीं रह गई।

अचानक एक दिन आचार्य राघवानन्द ने अपने शिष्य रामानन्द को एकान्त में बुलाया और कहा—"वत्स, श्रीविष्णु की कृपा से साधन-भजन की दृष्टि से तुम काफी आगे बढ़ चुके हो। तुम्हारी ऐकान्तिकता और भक्ति-निष्ठा देखकर मुझे भी कम संतोष नहीं हुआ है। किन्तु इस तरह मठ में बैठकर शास्त्राभ्यास, योगाभ्यास और साधन-भजन करते रहने से तुम्हारे जीवन का उद्देश्य तो पूरा नहीं होगा। साधक की प्रकृत-परीक्षा तो मठ के घिरे विद्याश्रम में रहने से संभव ही नहीं है।"

स्वामी रामानन्द ने विनयपूर्वक पूछा—"मुझे क्या करना होगा! कृपाकर इसका आदेश अपने प्रभन्मुख से कर दिया जाय।"

आचार्य राघवानन्द ने कहा—"मेरी राय है कि अब तुम परिव्राजन के लिए वाराणसी के बाहर जाकर इस देश की धरती से सम्यक् परिचय प्राप्त करो। चली हुई राह पर चलना और परिचित बंधुओं के साथ लगे रहना संन्यासी का धर्म नहीं है। आश्रम के निभृत स्थान में स्निग्ध वृक्षों की छाया में बैठकर भगवान् का नाम जपना और साधन करना भी साधारण तपस्या नहीं है। वह तपस्या तुमने पूरी की और उसका फल भी तुमने पा लिया। किन्तु अपरिचित स्थान में संचरण करना और अपरिचित घरों के द्वार पर भिक्षाटन के लिए खड़ा होना और भी बड़ी तपस्या है। अपमान और फटकार सहकर निरालंब रहकर तुम साधन-भजन और नाम-जप कर सकते हो या नहीं, इसकी परीक्षा तो परिव्रजन के क्रम में ही संभव है। फिर ऐसा भी तो है कि तुम्हारे जीवन के कुछ उद्देश्य और कर्त्तव्य पूर्व-निर्धारित हैं। उन्हें पूरा करने के लिए तुम्हें पृथ्वी और उसके निवासियों से प्रगाढ़ और व्यापक परिचय प्राप्त करना चाहिए। जनसाधारण के अन्तर में अभाव और दैन्य की जो चीख आलोड़ित हो रही है, उससे निकट परिचय प्राप्त किये बिना तुम नारायण से नैकट्य कैसे प्राप्त कर सकोगे?"

स्वामी रामानन्द ने गुरु के अनुरोध को सादर शिरोधार्य कर लिया और कुछ ही दिन बाद वे अपरिचित साधुओं की एक जमात के साथ परिव्रजन के तीर्थ-पथ पर चल पड़े ।

जिस युग में यात्रा की आज-जैसी सुविधा न थी, उस युग में कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक और द्वारका से लेकर गंगासागर तक, भारतवर्ष की यात्रा कर लेना कोई आसान काम न था । किंतु गुरु की कृपा पर भरोसा रखकर स्वामी रामानंद उसी कठिन कार्य के लिए उत्साहपूर्वक विदा हुए ।

वाराणसी से साधुओं की उस जमात के साथ स्वामी रामानन्द पैदल चलकर लम्बी यात्रा के प्रथमान्त में सीधे बदरिकाश्रम पहुँचे । वहाँ जाकर उन्होंने साधुओं के उस यात्री-दल से अपने को अलग कर लिया और मंदिर के निकट के ही एक शान्त वनांचल में उन्होंने भगवान् विष्णु के ध्यान में अपने को दीर्घकाल तक निमग्न किये रखा । इस दीर्घ साधना के पश्चात् वे गंगा की धारा के किनारे-किनारे पैदल चलकर पूर्व दिशा की ओर अभिमुख हुए । गंगा की यह तट-यात्रा तब तक जारी रही जब तक गंगा समुद्र में मिल नहीं गई और स्वामी रामानन्द गंगा-सागर तीर्थ में पहुँच नहीं गये । कहते हैं कि गंगासागर पहुँचकर स्वामी रामानन्द दिव्य परमभाव में अचानक निमग्न हो गये । इसी महाभाव की दशा में सागर के उपकूल में उन्होंने उस साधना-भूमि का अनुसंधान कर लिया, जहाँ कपिल मुनि ने त्रेता के आरम्भ में अमोघ तपस्या की थी । स्थानीय लोगों के सहयोग से उन्होंने उस पुण्य भूमि में एक छोटे-से मंदिर का निर्माण करा दिया । परिवर्त्तीकाल में यही स्थान भारत के लक्ष-लक्ष तीर्थयात्रियों का पुण्य-केन्द्र बन गया । आज भी गंगासागर के तीर्थयात्री उस प्राचीन मंदिर को आचार्य रामानन्द के पुण्यमय स्मारक के रूप में प्रणति निवेदित करने, प्रतिवर्ष आया करते हैं ।

बाद के अनेक वर्ष परिव्रजन में व्यतीत कर स्वामी रामानन्द पुनः वाराणसी के उस विद्याश्रम में उपस्थित हुए, जहाँ पंचगंगा घाट के किनारे बड़े बागान में उन्होंने जीवन में पहली बार आचार्य राघवानन्द के दर्शन किये थे । सत्यमान् शिष्य को प्राचीन विद्याश्रम में पुनर्वार प्राप्त कर आचार्य राघवानन्द के आनन्द की जैसे कोई सीमा ही नहीं रह गई । रामानन्द उनके शिष्यों में अन्यतम हैं । शास्त्रज्ञता, प्रतिभा और साधन-संपन्नता की दृष्टि से उनकी अद्वितीयता अब पूर्ण रूप से प्रमाणित हो चुकी है । आचार्य राघवानन्द की आन्तरिक इच्छा है कि अपने इसी शिष्य के हाथों में वे अपने मठ और आश्रम को सौंपकर अपनी वृद्धावस्था को निश्चिन्तता की स्थिति प्रदान कर दें ।

रामानन्द ने उनके चरणों में प्रणति निवेदित की और उन्होंने अपने प्रियतम शिष्य को आशिष प्रदान किया। थोड़ी देर तक दोनों के नेत्रों से आनन्द के आँसू अजाने ही बहते रहे।

दूसरे दिन स्नान, तर्पण और पूजा-हवन-कर्म से निवृत्त होने के पश्चात् स्वामी रामानन्द मंदिर के अगवासे के चबूतरे पर सुखासन में आ बैठे। आचार्य राघवानन्द ने इस दृश्य को दूर से ही देखा और आह्लादित हुए। निकट पहुँचकर उन्होंने कहा—"वत्स रामानन्द, इतने वर्षों बाद फिर तुम इस मठ में लौटकर आखिर आ ही गये। मेरी इच्छा है कि आज भगवान् विष्णु की पूजा और भोग-राग का समारोह जरा अधिक उत्तम ढंग से आयोजित हो। आज रसोई का काम तुम्हें अपने ही हाथों सम्पन्न करना चाहिए और प्रसाद के रूप में उसका उन्मुक्त वितरण आगत भक्तों के बीच तुम्हें अपने ही हाथों करना चाहिए। मैं भी वही प्रसाद ग्रहण करूँगा।"

रामानन्द गुरु का आदेश सुनकर प्रसन्नता के आवेग में रोमांचित हो उठे। बड़े भाग्य की बात है कि इष्टदेव के भोग के लिए आज मुझे ही पाक-कर्म का सौभाग्य प्रदान किया जा रहा है। इससे बड़ी बात यह कि वही प्रसादान्न पूज्य गुरुदेव स्वयं भी ग्रहण करेंगे। वे उसी समय उठे और रसोईघर की ओर विदा हुए।

रामानुज द्वारा प्रवर्त्तित वैष्णव-संप्रदाय में भोग-रंधन का कार्य अतीव निष्ठा और अद्‌भुत कौशल की अपेक्षा रखता है। नियम यह है कि बाहर के लोगों का स्पर्श ही नहीं, दृष्टिपात भी उस प्रसंग में नितान्त वर्जित है। यदि भूल से भोग की वस्तु पर किसी ने निगाह भी डाल दी तो वह भोग नैवेद्य के रूप में विग्रह के सम्मुख अर्पित नहीं किया जा सकता। इस सावधानता में पाककर्त्ता की ओर से रंचमात्र भी त्रुटि नहीं होनी चाहिए। त्रुटि होने पर भोग की सामग्री उच्छिष्ट की भाँति बाहर फेंक दी जाती है। इसलिए ठाकुर के भोग की सामग्री तैयार करते समय अद्‌भुत सावधानता को निरन्तर कायम रखना उस संप्रदाय में नितान्त आवश्यक मान लिया गया है।

मठ की पाकशाला को इस संप्रदाय के लोग मंदिर के गर्भ-गृह की ही तरह पवित्र मानते हैं। आश्रम के प्रत्येक साधु की, प्राण-पण से यही चेष्टा रहती है कि शुचिता में किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित न हो। वे बारी-बारी से बैठते और रंधन-शाला में मनुष्य तो क्या, अन्य जन्तुओं को भी प्रवेश करने से यत्नपूर्वक रोकते रहते हैं।

आज परिव्रजन से प्रत्यावर्त्तित होने के पश्चात् स्वामी रामानन्द को गुरुदेव ने भोग तैयार करने की आज्ञा, कृपापूर्वक दे रखी है। इस समाचार से कुछ ऐसे साधुओं को निश्चय ही ईर्ष्या हुई, जो पूर्वकाल में उनके सतीर्थ रह चुके थे। सभी ने साथ-साथ विद्याध्ययन किया। आचार्य राघवानन्द के शिष्य होने का गौरव उन्हें भी स्वामी रामानन्द की ही तरह प्राप्त है। फिर, क्या कारण है कि गुरुदेव ने रामानन्द के प्रति अतिरिक्त स्नेह प्रदर्शित करना इतन आवश्यक मान लिया है ? कहीं ऐसा तो नहीं है कि वे रामानन्द को मठ का उत्तराधिकारी बनाने पर तुल गये हों ? ज्येष्ठ शिष्यों को छोड़कर बाद में आनेवाले शिष्य रामानन्द के प्रति यह आसक्ति क्या उचित है ? कहीं ऐसा तो नहीं है कि महन्त की गद्दी पर वे रामानन्द को बैठाकर ज्येष्ठ शिष्यों को उनका सेवक बना देना चाहते हैं ? आशंका की इस कानाफूसी ने विद्याश्रम के साधुओं को क्षुब्ध और उत्तेजित कर दिया। वे मन-ही-मन विघटन उपस्थित करने के लिए आकुल हो उठे।

ईर्ष्यालु सतीर्थों की मंडली के प्रधान साधु ने आचार्य राघवानन्द के सामने हाथ जोड़कर निवेदन किया—"प्रभो ! रामानन्द ठाकुर के भोग की पाकशाला में प्रवेश करें, इसके पहले ही कुछ आवश्यक बातों पर विचार कर लिया जाना चाहिए। हमारे मन में कुछ प्रश्न उठ रहे हैं। आप कृपा करके यदि उन प्रश्नों के उत्तर दे-देते तो हमें बड़ी प्रसन्नता होती।"

आचार्य राघवानन्द ने अपने पुराने शिष्यों को उस मण्डली को मुस्कुराती हुई दृष्टि से देखा और बोले—"ठीक तो है ! मैं तुम्हें प्रश्न करने से रोकता तो नहीं हूँ ! पूछो, क्या पूछना है ? यदि रामानन्द के विरुद्ध तुम्हें कोई अभियोग लगाना हो तो उसे भी बुला ही लो। उसके सामने ही तुम्हारे प्रश्न सुनूँगा और उनके उत्तर भी दूँगा। अच्छा तो यह हो कि तुम अपने प्रश्न स्वयं रामानन्द से ही करो।"

गुरु के द्वारा बुलाये जाने का संवाद सुनकर रामानन्द अविलम्ब उपस्थित हुए। फिर क्या था उनके आते ही ईर्ष्यालु सतीर्थों ने प्रश्नों की झड़ी लगा दी।

"क्यों भैया, तुम्हें यह पता तो है न कि हमलोगों के श्री-संप्रदाय में भगवान् विष्णु के महाप्रसाद को अत्यन्त पवित्रता और सावधानता के साथ प्रस्तुत किया जाता है ?"

"हाँ, संप्रदाय के सभी लोग इस तथ्य से परिचित हैं।"

"भोग प्रसाद रांधते समय और उसे इष्टदेव के सामने निवेदित करते समय नियम-निष्ठा का पालन जिस सावधानता के साथ अपेक्षित होता है, वह तो तुम्हें ज्ञात है न ?"

"अवश्य, अवश्य !"—रामानन्द ने उत्तर दिया।

"लेकिन तुम तो अनेक वर्षों तक नाना तीर्थों में और नाना जन-पदों में लगातार घूमते रहे। पता नहीं, परिव्राजक के रूप में तुम कहाँ-कहाँ फिरे ? कैसे लोगों के साथ रहे ? किन पवित्र अपवित्र स्थानों और व्यक्तियों से तुम्हारा संपर्क हुआ ? यह तो तुम्हीं बता सकते हो। अब यह बताओ कि भोग-राग के प्रसंग में जैसी पवित्रता अपेक्षित है, क्या, उस पवित्रता को तुम निरन्तर अपने आचार-व्यवहार में कायम रख सके ? तुम किसी स्पर्श-दोष, किंवा दृष्टि-दोष से कभी दूषित तो नहीं हुए ? गुरुदेव के सामने तथ्य को छिपाओ मत। सच-सच बता दो।"

रामानन्द ने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया—"सच पूछो तो परिव्रजन के क्रम में स्पर्श-दोष और दृष्टि-दोष से अपने को बचा पाना तो सदा संभव नहीं होता। मठ के घेरे से बाहर जाने पर आचारगत नियम-निष्ठा की रक्षा करना सदा संभव नहीं होता। जहाँ तक छुआछूत का सवाल है, जीवन की साधना के क्रम में, उसके प्रसंग में कोई प्रश्न उठाना बहुत आवश्यक नहीं कहा जा सकता। मैंने तो कभी-कभी यह भी सोचा है कि घट-घट-वासी नारायण के उपासकों को क्या भेद-बुद्धि के आधार पर प्रचलित धारणाओं के विरुद्ध 'घुटने टेक देने चाहिए ? यदि इस भेद-बुद्धि का अन्त किया जा सके तो मुझे प्रसन्नता ही होगी।"

सतीर्थ मण्डली के एक उत्साही सदस्य ने चतुरतापूर्वक आगे आकर कहा—"इस तरह घुमा-फिराकर बोलने की जरूरत नहीं। छुआछूत के सम्बन्ध में अपनी धारणा को तुम्हें साहसपूर्वक साफ-साफ प्रकट कर देना चाहिए।"

रामानन्द ने सहज भाव से उत्तर दिया—"मैंने साफ-साफ ही कहा है। प्रभु जगन्नाथ की जब हम भक्ति करते हैं, तब जगन्नाथधाम की रीति नीति को भी शिरोधार्य करना ही होगा। तुम पुरी के जगन्नाथ-मंदिर में तो जाओगे और जगन्नाथ का भजन भी करोगे, किन्तु उस मंदिर का प्रसाद यदि छुआछूत के दोष को न मानकर बाँटा जाय तो उस प्रसाद को ग्रहण नहीं करोगे। यही तो तुम्हारी राय है ? तो मैं भी स्पष्ट कह देता हूँ कि यह दुरंगी बात किसी जगन्नाथ-भक्त के लिए शोभनीय नहीं हो सकती। जो जगन्नाथ

का प्रेमी है वह जगत् से घृणा नहीं कर सकता। वह जगन्नाथ के विग्रह को दर्शनीय माने और महाप्रसाद को छुआछूत के कारण अपवित्र और अग्राह्य समझे तो कहीं-न-कहीं मिथ्याचार के दोष से वह दूषित अवश्य माना जायगा।"

सतीर्थ मण्डली के एक अन्य सदस्य ने बीच में ही बात काटकर कहा—"भैया रामानन्द, तुम यह क्यों भूल गये कि जगन्नाथ सर्वसमर्थ हैं। वे चाहे जो भी करें, मगर हम सीमित शक्तिवाले वैसा नहीं कर सकते। वैसा करना हमारे लिए न तो संभव है न ही उचित। इसीलिए तो आचार्य रामानुज पुरुषोत्तम क्षेत्र से सरक आये महाधाम श्री-क्षेत्र के प्रांगण में?"

स्वामी रामानन्द ने अत्यन्त नम्रतापूर्वक उत्तर दिया—"आचार्य रामानुज हम सभी के पूज्य हैं। उनके प्रति आदर-भाव हमारा परम कर्त्तव्य है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि हम अपने विवेक के प्रकाश की अवज्ञा करें। मैं तो पुरुषोत्तम-क्षेत्र—जगन्नाथ-क्षेत्र—की भक्तिधारा पर मुग्ध हूँ। उसकी भेद-विवाद-हीन उदार वैष्णवता को मैं भारतव्यापी प्रतिष्ठा प्रदान करना चाहता हूँ।"

रामानन्द का यह उत्तर सुनकर सतीर्थों की मण्डली उत्तेजित हो उठी। एक ने रोष भरे स्वर में चीत्कारपूर्वक कहा—"जगन्नाथ-धाम की वह रीति उस जगन्नाथ-धाम में ही रहने दो। इस मठ में वह रीति नहीं चल सकती। हमारे भीतर रहकर तुम हमारे संप्रदाय की रीति-नीति की अवज्ञा करोगे—इसे सहने के लिए हम प्रस्तुत नहीं हैं।"

इतनी देर तक आचार्य राघवानन्द शिष्यों की आपसी बातचीत को चुपचाप तटस्थ-भाव से सुन रहे थे। किंतु उत्तेजना का वातावरण प्रस्तुत होते देखकर उन्हें बोलना ही पड़ा। उन्होंने धीर स्वर में कहा—"तुमलोगों की बहस मैंने सुन ली। अब वत्स रामानन्द, तुम मेरे भी एक प्रश्न का उत्तर दो। क्या सचमुच तुम अपने इस क्रान्तिकारी मत पर कायम रह सकोगे? इसकी बड़ी गहरी कीमत चुकानी पड़ेगी। कहीं ऐसा तो नहीं होगा कि कठिनाई उपस्थित होने पर तुम अपने इस मत का त्याग कर बैठो?"

रामानन्द ने मस्तक झुकाकर विनयपूर्वक गुरु से निवेदन किया—"गुरुदेव जो कह रहे हैं बिल्कुल वही बात मेरे मन में भी है। अन्तर्यामी प्रभु घट-घट-वासी हैं। भगवान को प्रेम करनेवाला भगवान् के भक्त के प्रति अनादर करे, यह अनुचित ही नहीं, असंभव है। भक्तों के संबंध में वर्णगत भेद-बुद्धि को मैंने कभी अपने चित्त में सम्मान की जगह नहीं दी। प्रभो,

मेरे मन का यह विचार मेरे अन्तर में आरम्भ से ही मूलबद्ध है। अनेक वर्षों तक परिव्रजन करके मैंने जो अनुभव प्राप्त किया, उस अनुभव के आधार पर भी मेरी यह धारणा पुष्ट ही हुई। मठ के बाहर जाने पर जिस वृहत्तर विश्व का साक्षात्कार होता है उसने मुझे मानव-समाज से वृहत्तर परिचय करा दिया है। उस समाज को मैंने धर्म, दर्शन और इतिहास के प्रकाश में वारम्वार देखा है और मेरी धारणा उसके सहारे और भी दृढ़तर हुई है। गुरुदेव, कृपया अपने इस शिष्य को आशीष दें कि धर्म के मार्ग पर आगे बढ़ने में जो विघ्न-बाधाएँ बाधा देती आईं, उनसे मैं भयभीत नहीं होऊँ।"

राघवानन्द महाराज थोड़ी देर तक मन-ही-मन कुछ विचार करते रहे। इसके बाद उन्होंने उपस्थित आश्रमवासियों को धीर-कंठ से संबोधित करते हुए कहा— "तुमलोग कान खोलकर सुन लो। मैं अपना चरम सिद्धान्त निश्चित कर चुका हूँ। अभीतक गुरु-परंपरा के अनुसार जिस आदर्श, आचार, नियम और संगठन के द्वारा यह आश्रम चलता रहा है, उसमें किसी प्रकार का व्यतिक्रम करना मुझे अभीष्ट नहीं है। परंपरा पूर्ववत् चलती रहेगी, किन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि रामानन्द ने अपने अनुभव के बल पर जो कुछ कहा है वह उसके द्वारा उपलब्ध सत्य की विभूति है। भगवद्भक्ति और विश्व-प्रेम के गंभीर तल में प्रवेश किये बिना ऐसे सत्य किसी को उपलब्ध नहीं हो सकते। अब आश्रम के प्रति अपने दायित्व को देखते हुए और आचार्य के रूप में अपने शिष्य रामानन्द की धारणा पर विचार करते हुए एकही उपाय का अवलंबन किया जा सकता है कि आज और अभी रामानन्द को इस आश्रम-परंपरा के बंधन से—सांप्रदायिक घेरे की कैद से—सदा के लिए मुक्त कर दिया जाय।"

रामानन्द ने धरती पर दोनों घुटने टेक कर आचार्य की चरण-धूलि अपने मस्तक पर रख ली और गुरु-चरणों की वन्दना के पश्चात् आश्रम से विदा लेने के लिए उठ खड़े हुए। रामानन्द के प्राधान्य से ईर्ष्या करनेवाले सतीर्थों की वह मंडली भौंचक हो उठी। किसी के मुख से एक भी शब्द नहीं निकला।

अपने प्राण-प्रिय शिष्य के मस्तक को आशीर्वादपूर्वक सूँघते हुए आचार्य राघवानन्द महाराज ने कहा— "बेटे, तुम अपने द्वारा उपलब्ध सत्य का कभी कठिनाई के भय से त्याग न करोगे— ऐसा दृढ़ विश्वास तुम्हारे प्रति मुझे है। मैं तुम्हें इसके लिए अनुमति देता हूँ कि तुम अपने द्वारा खोजे गये नये पथ पर निरन्तर आगे बढ़ते रहो और अपने-जैसे विचारवाले शिष्यों को भक्ति-

आन्दोलन के नवीन उज्ज्वल पथ के रूप में संगठित कर सको। नये युग के लिए नयी भावधारा के साथ सामंजस्य करना निश्चय ही आवश्यक हो जाता है। तुम विश्व को भगवत्प्रेम की नयी ज्योति और नयी वाणी प्रदान कर दो। मैं आशिष देता हूँ कि तुम्हारे हाथों मानव-जाति का कल्याण हो।"

आचार्य राघवानन्द तथा आश्रमवासी साधुओं और पंडितों में से एक-एक के निकट जाकर आचार्य रामानन्द स्वामी ने विदा होने की आज्ञा मानी। इसके पश्चात् वे धीर पद से पंचगंगा के निकट के उस विद्याश्रम से बहिर्गत हुए।

आचार्य रामानन्द ने गुरु के अन्तिम आदेश को पूरा करने में जान की बाजी लगा दी। शीघ्र ही उन्होंने वैष्णव भक्तों के एक नूतन संप्रदाय की स्थापना की, जो कालान्तर में रामावत-संप्रदाय के नाम से आचार्य रामानन्द द्वारा प्रवर्त्तित परंपरा को जुगाता रहा। उस संप्रदाय के साधु रामानंदी साधुओं के नामसे, पूरे भारतवर्ष में, एक सदी के भीतर ही विख्यात हो गये।

पंचगंगा-विद्याश्रम की रामानुज प्रवर्तित परंपरा के बंधनों से उन्हें आचार्य राघवानन्द ने ही सदा के लिए मुक्ति दे दी थी। इसलिए अपने नये मत के प्रचार में किसी उचित बाधा का प्रश्न उनके लिए अनावश्यक हो गया। केवल काशी में ही नहीं, भारतवर्ष के सभी प्रसिद्ध तीर्थस्थानों में घूम-घूमकर अपने नये धर्मान्दोलन को उन्होंने व्यापक आधार प्रदान कर दिया।

साधन के क्षेत्र में त्याग और वैराग्य को आचार्य रामानन्द के द्वारा सर्वोपरि प्राधान्य प्रदान किया गया। वे स्वयं तो सर्वत्यागी संन्यासी के रूप में पहले ही संन्यास की दीक्षा ले चुके थे। वैराग्य और कृच्छ्रसाधना की अचल भित्ति के सहारे उनके अनुयायियों ने अपने को नागा साधुओं के चार पृथक् विभागों में विभक्त कर लिया। कहना न होगा कि केवल वैष्णव धर्म के प्रचार में ही नहीं, मुसलमानी शासन के अत्याचारों से भारत के सनातन धर्मावलंबियों की और उनके तीर्थस्थानों की रक्षा के क्रम में भी रामानंदी साधुओं की उक्त नागा-मंडलियों ने अद्भुत साहस, सूझ और वीरता का परिचय दिया।

आचार्य रामानन्द स्वामी असाधारण शास्त्रवेत्ता थे। इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि सनातन धर्म के नाना शास्त्रों का अवगाहन करके वे अपने मतके समर्थन में तथ्यों और युक्तियों का संकलन और व्यवस्थापन कर दें। इस कार्य में उन्होंने असाधारण प्रतिभा और कर्मनिष्ठा का परिचय दिया है।

उन्होंने शास्त्र-वाक्यों को उद्धृत करके नव वैष्णव-आचार्य के रूप में घोषणा की कि जो भक्त सब-कुछ छोड़कर भगवान् की शरण में अपने को सदा के लिए सौंप देते हैं और प्रेम के साथ अखंड सेवा-व्रत का पालन अपने आचरण द्वारा करते हैं, वैसे भक्तों के संबंध में जाति-भेद और छुआछूत को प्रश्रय देना समाज के लिए आवश्यक नहीं है। भगवद्-भक्त साधुओं के समाज में सभी वर्ण के साधुओं को एक साथ साधना-आराधना करने का और भोजन-पान करने का अधिकार है। भगवान् के मंदिर में छोटे-बड़े का भेद प्रासंगिक नहीं माना जा सकता।

श्री-संप्रदाय की प्रतिष्ठा के क्रम में आचार्य रामानुज ने वैष्णव भक्तों के लिए कठोर नियम बना दिये थे और आचार-विचार के क्षेत्र में अनेक विधि-निषेधों को अपनी स्वीकृति दे दी थी। आचार्य रामानन्द ने उनमें से अनेक को अनावश्यक घोषित कर दिया और अपने द्वारा प्रवर्तित वैष्णव-सम्प्रदाय का उदार द्वार अपेक्षाकृत बृहत्तर भक्त-समाज के लिए उन्मुक्त कर दिया।

मध्य युग के लिए यह बहुत बड़ी क्रान्ति थी। इस क्रान्ति का परिणाम कालान्तर में गौड़ीय वैष्णव संप्रदाय में भी प्रतिफलित हुआ, जिसमें केवल हिन्दुओं के लिए ही नहीं, मुसलमानों के लिए भी वैष्णव धर्ममूलक भगवत्प्रेम का द्वार खोल दिया गया था।

आचार्य रामानन्द के साहस और उदारता के परिणामस्वरूप मध्य युग के हिन्दू-समाज को संगठन और आत्मविश्वास की एक नयी राह प्राप्त हुई। जो लोग समाज के द्वारा युग-युग से अपमानित और लांछित होते रहे थे और जिन्हें गर्हित जीविका अपनाकर जीवित रहने के लिए समाज द्वारा विवश किया गया था, उन्हें भी वैष्णव भक्ति के रूप में एक नया अवलंब प्राप्त हो गया। उन्हें यह जानकर भरोसा हुआ कि भगवद्भक्ति के क्षेत्र में छोटे-बड़े और उँच-नीच का भेद माननीय नहीं है और समाज द्वारा लांछित, अपमानित मानवों को भी भगवान् की आराधना के द्वारा जीवन का आधार और मुक्ति का आह्लाद प्राप्त कर लेने का अधिकार है।

स्वामी रामानन्द की व्यक्ति-सत्ता में भगवत्प्रेम की अद्भुत दीप्ति और सरसता थी। इसलिए भगवान् की सृष्टि के प्रति – सभी जीवों के प्रति और सभी मानवों के प्रति उनके प्रेम और करुणा की विभूति सहज उन्मुक्त थी। मुक्ति का पथ सभी के लिए है और भगवान् की आराधना का अधिकार भी सभी को प्राप्त है, इस तथ्य को वे अपने पूरे जीवन में प्रमाणित और उदाहृत करते रहे।

साधना के सर्व-सुलभ संबल के रूप में उन्होंने भगवान् के नाम-जप को सर्वाधिक महत्त्व दिया। जप को वे भक्तों का कल्पतरु मानते थे। वे कहा करते थे कि जो मुक्तिकामी भक्त भगवान् के नाम-मन्त्र का निरन्तर जप करता है, उसे मात्र उतनी ही साधना से परमामुक्ति प्राप्त हो जाती है और उसके सभी आध्यात्मिक अभीष्ट सिद्ध हो जाते हैं।

रामानन्दी साधुओं के एक विशिष्ट नागा-संघ को अवधूत कहकर पुकारा जाता है। उनके लिए सामाजिक आचार-विचार और धर्माचार, किंवा नियम-निष्ठा के विधि-निषेध के बंधन और भी ढीले कर दिये गये। आचार्य रामानन्द ने ऐसे सर्वपाशमुक्त अवधूतों की एक भारतव्यापी मंडली संघटित की। ये अवधूत दल बाँधकर निरन्तर यात्रा करते रहते एवं देश और धर्म की रक्षा में उत्साहपूर्वक प्राणों का विसर्जन कर देना अपना परम कर्त्तव्य मानते थे। कालान्तर में काशी के तुलसी-अखाड़े में गोस्वामी तुलसीदास ने इन अवधूतों की एक व्यायामशाला भी स्थापित कर दी थी। महाराष्ट्र के समर्थ स्वामी रामदास ने भी उसी नमूने पर लड़ाके साधुओं की जमात तैयार की थी और उन्हें देश और धर्म की रक्षा के लिए नियुक्त किया था।

निरीश्वरवादी नास्तिकों, भगवद्-विमुख तार्किकों और विधर्मी आतताियियों से समाज की रक्षा करना स्वामी रामानन्द अपने जीवन का लक्ष्य बना चुके थे। इस पुण्यकार्य में उनका उत्साह सचमुच अद्भुत था। असामान्य शास्त्रज्ञान, आकर्षक व्यक्तित्व और अथक कर्मनिष्ठा के द्वारा अपने इस लक्ष्य को वे आजीवन पूरा करते रहे। इसीका परिणाम था कि आचार्य रामानन्द के आविर्भाव के पहले जैनों, बौद्धों, कापालिकों और वामाचारियों की जो राष्ट्र-व्यापी वितंडा चल रही थी, उसे सर्वसाधारण जनता के सहयोग से निष्प्रभाव कर दिया गया और अन्ततः उनका क्षेत्र गुप्त अड्डों के रूप में ही अवशिष्ट रहकर शनैः शनैः लुप्त हो गया।

पूर्व के वैष्णव आचार्यों से आचार्य रामानन्द के पार्थक्य और वैशिष्ट्य का विश्लेषण करते हुए डा० आर० जी० भण्डारकर ने लिखा है, "हिन्दू-समाज के निम्नवर्गीय अंत्यजों के प्रति अपार सहानुभूति और करुणा को वैष्णव-धर्म के आरंभ में ही प्रश्रय दिया जाने लगा था। फिर भी, आरंभ में उस सहानुभूति और करुणा का प्रकाश उन तक नहीं पहुँच पाया था, जिनके लिए उनका उपयोग था। यह भी कहा जा सकता है कि वैष्णव आचार्यों का जो वर्ग मध्यकाल में प्रभावकारी आन्दोलन के रूप में अग्रसर हुआ उसमें उच्च वर्णों के प्रति अपेक्षाकृत अधिक ममता थी। शूद्रों को एक सीमा के भीतर ही पूजा-

पाठ की सुविधा और धर्माचार की स्वतंत्रता प्रदान की जा सकी थी। वे उन वेद-पंथियों से उतनी उदारता की भी अपेक्षा नहीं रख सकते थे, जो मानते थ कि धर्माचरण के परिणामस्वरूप अर्जित पुण्यफल के द्वारा जब तक द्विजवर्ण के घर में जन्म प्राप्त नहीं होता है, तब तक आध्यात्मिक जीवन और मोक्ष-साधना का कोई प्रकृत अधिकारी नहीं हो सकता। वैष्णव आचार्यों ने इस धारणा का प्रत्याख्यान करके द्विजेतरों के लिए नयी आशा का संदेश अवश्य प्रदान किया था और यह भी साधारण उदारता न थी। आचार्य रामानन्द इस अर्थ में उन पूर्ववर्त्ती वैष्णवाचार्यों से भिन्न कोटि के महापुरुष थे, क्योंकि उनकी उदारता जाति-वर्ग की सीमाओं को किसी भी प्रकार की स्वस्ति देना, कम-से-कम भक्ति के क्षेत्र में, आवश्यक नहीं मानती थी।"

प्राचीन वैष्णव आचार्यों में अधिकांश आचार्य की जन्मभूमि दक्षिण भारत में थी। इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि अपनी धर्मसाधना और दार्शनिक स्थापनाओं का उपदेश देते समय उन्हें अपनी मातृभाषा में प्रयोग करना उत्तर भारतवर्ष में आकर सुविधाजनक नहीं जान पड़ता रहा हो। इस असुविधा को दूर करने के लिए वे संस्कृत भाषा का ही मुख्यतः सहारा लेते थे। किन्तु यह भी सच है कि संस्कृत भाषा मध्ययुग के पहले ही जन-साधारण के लिए पूरी तरह बोधगम्य नहीं रह गई थी। यह दूसरी बात है कि पूरी तरह से नहीं समझने के बावजूद संस्कृत भाषा का आदर करना भारत के हिन्दू-समाज के सभी वर्णों और वर्गों के लिए कर्त्तव्य माना जाता था। पर यह तो मानना होगा कि संस्कृत भाषा में उपदेश करनेवाले आचार्यों की बात आम जनता तक सहज ढंग से नहीं पहुँच पाती होगी। आचार्य रामानन्द ने जन-साधारण के बीच प्रचलित लोकभाषा में उपदेश देकर वैष्णव आचार्यों की उस परम्परा को भी शिथिल कर दिया। इस दृष्टि से वे वैष्णव आचार्यों के बजाय संतों और आधुओं के अधिक निकट कहे जा सकते हैं। इसी तरह राधाकृष्ण की रागानुगा भक्ति से ओत-प्रोत भजनों के स्थान पर उन्होंने सीता-राम के मर्यादामार्गी भजनों को लोकप्रिय बनाकर एक और नयी विशिष्ट कीर्त्ति अर्जित कर ली।

आचार्य रामानन्द की साधना एवं दार्शनिक स्थापना का मूल आधार है—भगवत्प्रेम। पुरुष हो या नारी, ब्राह्मण हो या चाण्डाल,—किसी भी विधि से भगवान की उपासना करनेवाला रामानन्द के लिए समान रूप से आदरणीय है। रामावत-संप्रदाय ने इसीलिए उन्हें समान आदर का अधिकारी मान लिया है। भगवान् के भक्तों में परस्पर गंभीर बंधु-भाव की प्रतिष्ठा करके

आचार्य रामानंद ने विभेद की भित्ति को ही सदा के लिए तोड़ दिया और भगवद्भक्ति का द्वार सबके लिए समान भाव से उद्घाटित कर दिया। उस संप्रदाय के साधुओं के बीच प्रचलित उक्ति इस तथ्य पर प्रचुर प्रकाश डालती है—

"जाति-पाति पूछे नहिं कोइ
हरि को भजै सो हरि के होइ।"

रामानन्द के उपास्य इष्ट-देव इस हरि का स्वरूप क्या है? वे हैं कौन? विष्णु के अवतार 'रामायण' महाकाव्य के आदर्श नायक सीतापति श्रीरामचन्द्र ही रामानन्द के इष्ट हैं। वही प्रभु रामावत-संप्रदाय की साधना के परम धन भी हैं। राममंत्र और राम-भजनावली के सहारे ही उन्होंने समाज के सभी वर्गों और वर्णों की जनता को परम आश्रय प्रदान करने की प्रतिश्रुति दी और इसी प्रतिश्रुति को पूरा करने में अपने संपूर्ण जीवन की उन्होंने लोक-कल्याण के निमित्त आहुति दे डाली।

आज भी रामावत-संप्रदाय की उक्त मान्यता का अनुकरण करके उत्तर भारत की आम जनता 'राम राम', 'जय राम', 'सियाराम', या 'सीताराम' बोलकर ही परस्पर अभिवादन करते हैं। इसी से स्पष्ट है कि इस महापुरुष का उत्तरभारत के जन-साधारण पर इतना ही अधिक प्रभाव सहज भाव से पड़ा है।

चौदहवीं शताब्दी के अधिकांश समय तक आचार्य रामानन्द भारतवर्ष में परिभ्रमण करते रहे। उन्होंने खिलजीवंश के अंतिम काल को अपनी खुली आंखों से देखा था और तुगलक-वंश के शासन-काल से भी परिचय प्रदर्शित किया है। जिस समय अलाउद्दीन ने चित्तौर पर आक्रमण किया था, उस समय आचार्य रामानन्द का तरुणाई के दिन थे। और जब मुहम्मद तुगलक दिल्ली से दौलताबाद और दौलताबाद से दिल्ली तक के फेरे लगाकर नागरिकों को सजा दे रहा था उस समय तक वैष्णव आचार्य के रूप में उनकी ख्याति पूरे देश में फैल चुकी थी। कहते हैं कि तैमूर लंग के द्वारा किये गये ग्रामदाह, लूट-खसोट और जन-वध की रोमांचक कहानियों को भी उनके जीवन-काल में ही घटित होते देखा गया था।

ग्रियर्सन ने ठीक ही कहा था कि इन अत्याचारों और दुर्दशाओं के नग्न-नृत्य की प्रतिक्रिया आचार्य रामानन्द के मन में गहरी छाप अवश्य छोड़ गयी थी। परम कृपालु दुष्टदलन श्रीराम के वीर-रूप की आराधना की अपेक्षा उन्हें उसी प्रसंग में उपयुक्त जान पड़ी होगी। रक्षक के लिए लालायित हिन्दू-समाज को उस समय भगवान् के रक्षक स्वरूप की ही सर्वाधिक

आवश्यकता थी। आचार्य रामानन्द ने उस आवश्यकता की पूर्त्ति कर दी और जनता ने उन्हें अपने परम उद्धारक और नेता के रूप में उत्साहपूर्वक स्वीकृत कर लिया।

रामानन्द के कुछ पद हिन्दी-भाषा में रचित मिलते हैं। इससे प्रकट होता है कि उन्होंने अपने उपदेश की भाषा में मुख्यत: हिन्दी-भाषा का ही प्रचार किया होगा। यह संभव है कि रामानन्द के आविर्भाव के पहले ही भारतवर्ष के तीर्थ-यात्रियों की बोलचाल की भाषा के रूप में हिन्दी साधारणत: पूरे देश में और मुख्यतः महाराष्ट्र और गुजरात से लेकर हिमालय तक के भू-भाग में प्रचलित और प्रतिष्ठित हो चुकी थी। इसके बावजूद देश की जनता को धार्मिक अत्याचारों और राजकीय परिपीड़णों से आत्मरक्षा करने के लिए एकता के जिस आन्दोलन और संगठन की अपेक्षा थी, उस अपेक्षा की पूर्ति के क्रम में हिन्दी को माध्यम बनाने का काम गोरखनाथ के बाद संभवत: आचार्य रामानन्द ने ही अपने हाथों में लिया। उनके अधिकांश शिष्यों के भजन और पद या तो हिन्दी में रचित हुए हैं या हिन्दी से प्रभावित आंचलिक बोलियों में। सुखानन्द और कबीर के भजन और पद इस दृष्टि से भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। अंग्रेजी शासन के युग में हिन्दी-साहित्य के जो इतिहास लिखे गये हैं, उनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रथम इतिहास संभवत: जॉर्ज एब्राहम ग्रियर्सन का है और ग्रियर्सन का स्पष्ट विचार है कि रामानन्द के पहले हिन्दी बोलचाल की मिली-जुली खिचड़ी मात्र थी। उसकी साहित्यिक योग्यता तो आचार्य रामानन्द और उनके शिष्यों के अतुलनीय प्रभाव से ही विकसित और प्रतिष्ठित हुई।

इसमें संदेह नहीं कि हिन्दी-साहित्य के सर्वाधिक उज्ज्वल साहित्य-प्रणेता के रूप में गोस्वामी तुलसीदास की अतुलनीय महिमा विख्यात है। और इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि वे कबीर की तरह यद्यपि रामानन्द के साक्षात् शिष्य नहीं थे, तथापि उनकी रचनाओं में सर्वाधिक प्रभाव आचार्य रामानन्द की ही साधना-शैली और विचार-शैली का पड़ा है। इस एक तथ्य के आधार पर ही यदि हिन्दी-साहित्य के प्रति आचार्य रामानन्द के योगदान का आकलन किया जाय तो वह यथेष्ट होगा।

आचार्य राघवानन्द के आदेश से स्वामी रामानन्द ने जब अपने पृथक् संप्रदाय का प्रवर्त्तन किया तो धीरे-धीरे उनके आस-पास उस समय के साधुओं और पंडितों का दल एकत्र होने लगा। उनमें अनेक की चर्चा उनके अंतरंग शिष्यों के रूप में भी की जा सकती है। इनमें हर प्रकार के लोग थे—

ब्राह्मण भी और अन्त्यज भी, कृतविद्य पंडित भी और निरक्षर साधारणजन भी, नारी भी और पुरुष भी। अनन्तानन्द, सुखानन्द, सुरेश्वरानन्द, नरहरियानन्द, योगानन्द, गालभानन्द, पीपानन्द, कबीर, धनानन्द, भवानन्द, सेनानन्द, रैदास, पद्मावती और सुरेश्वरी को रामावत-संप्रदाय के साधुगण आचार्य रामानन्द के मुख्य शिष्यों के रूप में स्मरणीय मानते आये हैं।

नाम से ही स्पष्ट है कि पद्मावती और सुरेश्वरी को आचार्य रामानन्द ने नारी होने के बावजूद दीक्षा दी थी। उनके पुरुष शिष्यों में कबीर जुलाहे थे, धनानन्द जाट थे, सेनानन्द नाई थे और रैदास चमार थे। इसीसे अनुमान किया जा सकता है कि रामानन्द की उदारता वचन तक सीमित न थी। उसे उन्होंने उदाहृत कर दिखाया था।

आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में ये सभी शिष्य एक से बढ़कर एक सिद्ध हुए हैं।

रामावत-संप्रदाय में अनन्तानन्द की सर्वाधिक प्रतिष्ठा इसलिए भी थी कि वे संभवतः उनके सर्वप्रथम शिष्य थे। दीक्षा-ग्रहण के पश्चात् उनके जीवन में भगवत्-भक्ति और विश्व-प्रेम की एक बेजोड़ उछाल आयी थी। जोधपुर अंचल में साधन-कुटीर बनाकर उन्होंने राजस्थान और पंजाब के भू-भाग में आचार्य रामानन्द के उपदेशों को प्रचारित करने का काम योग्यतापूर्वक संपादित किया।

उस अंचल में अनन्तानन्द की योग-विभूतियों के चमत्कार की असंख्य कथाएँ प्रचलित हैं। एक बार इन्होंने एक सूखे हुए गूलर के पेड़ को छूकर उसे तत्काल पल्लवित और फलित कर दिया। शक्तिधर महापुरुष के स्पर्श की इस महिमा से प्रभावित होकर कहते हैं, कि जोधपुर के नरेश उनके चरणों पर सरेआम लोट गये थे।

भक्त-कवि सुखानन्द के जीवन में भी आचार्य रामानन्द की कृपा पूर्ण महिमा के साथ अवतीर्ण हुई थी। उनके रचित गीतों, गाथाओं और स्तोत्रों का उक्त क्षेत्र की जनता में आज तक प्रचार है।

भक्त कबीर को बड़े कौशल के सहारे आचार्य रामानन्द से 'राम-नाम' की दीक्षा प्राप्त हुई थी। गुरु की वह कृपा कबीरदास के जीवन में किस प्रकार प्रतिफलित हुई, यह कबीरदास स्वयं बता गये हैं। वे निरक्षर थे और जीविका के रूप में उन्होंने कपड़ा बुनने का कौलिक पेशा जीवन-भर स्वीकृत किये रखा था। इसके बावजूद विश्वसाहित्य की रहस्यवादी धारा में उनके दोहों और पदों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाता है।

सुरेश्वरानन्द और उनकी पत्नी सुरेश्वरी—दोनों ही ने आचार्य रामानन्द से दीक्षा प्राप्त की थी। इन दोनों के संबंध में भी योग-विभूतियों की चमत्कारपूर्ण कथाएँ लोक-कंठ में आज तक प्रचलित हैं।

कहा जाता है कि एक बार अपने कुछ भक्तों के साथ सुरेश्वरानन्द तीर्थाटन के क्रम में एक निर्जन प्रदेश में जा पहुँचे। लंबी राह पैदल तय करने के कारण वे बेतरह थक गये थे। एक नगर के समीप पहुँचकर विश्राम करने का स्थान ढूँढ़ लेना इसीलिए आवश्यक हो गया था।

क्लान्त तीर्थयात्रियों की सेवा में उसी समय एक अपरिचित व्यक्ति उपस्थित हुआ। वह बड़ा मधुरभाषी था। गले में तुलसी की माला और ललाट पर त्रिपुण्ड्र देखकर उसे वैष्णवभक्त मान लेने में यात्री-दल को कोई कठिनाई नहीं हुई। थोड़ी देर तक कुशल-क्षेम की वार्ता करलेने के बाद उसने विनयपूर्वक निवेदन किया—"महाराज, सौभाग्य से इतने भगवद्भक्त साधुओं का मेरे नगर में पदार्पण हुआ है। बड़ी कृपा होती यदि इस सेवक को आज सेवा-सत्कार का अवसर प्रदान कर दिया जाता। थोड़ी ही दूर पर मैं भोज्य-वस्तुओं की दूकान लगाये बैठा हूँ। भोजन की गरम-गरम सामग्री आज्ञा पाते ही मैं सेवा में उपस्थित कर दूँगा। यहाँ आकर इस श्रान्त-क्लान्त अवस्था में आप स्वयं रसोई पकायें, यह अच्छा नहीं लगता।"

निवेदन करनेवाले के दैन्य की कोई सीमा न थी। वैष्णव-जन की सेवा के प्रति उसके हृदय में अपार अनुराग था,—यह उसकी बातचीत से स्पष्ट हो गया। अन्ततः उसके द्वारा लायी गई सामग्री को इष्टदेव के नैवेद्य के रूप में अर्पित कर दिया गया और सभी ने वही प्रसाद ग्रहण कर लिया।

भोजन के बाद थोड़ी देर तक और विश्राम कर लेना आवश्यक हो गया। सुरेश्वरानन्दजी बगल के प्रकोष्ठ में लेटे-लेटे निद्रा का आवाहन करने लगे। अकस्मात् उनका एक शिष्य औचक उपस्थित हुआ और उत्तेजित अवस्था में निवेदन करने लगा—"गुरुदेव, सर्वनाश हो गया। आज हमसभी लोग एक पापी का ग्रास बनकर धर्मच्युत हो गये। जिसने हमलोगों को उतने आदर के साथ भोजन कराया है, वह वस्तुतः एक पाखंडी और दुराचारी ठग है। मुख्यतः वैष्णव-भक्तों को अपने कपट-जाल में फँसाकर निषिद्ध भोजन के द्वारा धर्मभ्रष्ट करने में उसे अपार प्रसन्नता हुआ करती है। उसने हमारे

भोज्य पदार्थ में मांस का चूर्ण मिश्रित कर दिया था और इतने आदर के साथ उसे पड़ोस गया कि हमें संदेह करने का कोई कारण ही नहीं जान पड़ा। अब इस संकट से उद्धार का उपाय क्या हो सकता है ?"

शिष्य की बात सुनकर सुरेश्वरानन्द उठ-बैठे। उन्होंने निर्विकार भाव से इतना ही कहा—"तुमलोग व्यर्थ ही इस तरह चिंतित हो रहे हो। तुमलोग जो भोजन करते हो, क्या उसे ठाकुर का प्रसाद समझकर ही ग्रहण नहीं करते ? और यदि ठाकुर का प्रसाद समझकर ग्रहण करते हो तो इस प्रकार चिंतित क्यों हो रहे हो ? तुम्हारी चिन्ता तो यही प्रमाणित कर रही है कि तुम्हारी भक्ति और विश्वास की नींव ही कच्ची है। ऐसा न होता तो तुम इस प्रकार चीत्कार क्यों करते ?"

आचार्य सुरेश्वरानन्द की बातें सुनकर सभी हक्के-बक्के हो गये। किसी को कुछ कहते नहीं बना।

यह स्थिति देखकर सुरेश्वरानन्द ने पुनः कहा—"ठीक है, तो ऐसा करो कि जो भोज्य पदार्थ तुम खा चुके हो उसे वमन करके पेट से बाहर निकाल दो। संभव है कि भोज्य पदार्थ जिस रूप में खाया गया था उसी प्रकृत रूपमें वह बाहर आ जाने पर परिवर्तित हो जायगा।"

अन्ततः शिष्यों ने कोई उपाय न देखकर वमन करने की ही तैयारी की। आटा, घृत, शाक, सब्जी अपने प्रकृत रूप में उनके पेट से निकलकर जमा हो गई, लेकिन मांस के छोटे-छोटे खंड भी निकल आये। यह दृश्य देखकर आश्चर्य के साथ-साथ शिष्यों के क्षोभ की भी कोई सीमा नहीं रही। अब गुरु सुरेश्वरानन्द के कै करने की बारी आई। उन्होंने कंठ में उँगली डालकर जब वमन किया तो केवल तुलसी-दल का ढेर निकला, और कुछ नहीं।

यह दृश्य जैसा ही अद्भुत था वैसा ही अविश्वसनीय। देखकर सभी चकित हो गये और अपलक दृष्टि से सुरेश्वरानन्द को निहारने लगे।

सुरेश्वरानन्द महाराज ने हँसते हुए कहा—"अनजाने में जो अखाद्य तुमलोगों ने भूल से खा लिया था वह गुरु की कृपा से बाहर निकल गया और मेरे पेट से, तो देख ही रहे हो, केवल तुलसीदल निकला है। लेकिन इन बातों को देखकर चकित व्यर्थ ही हो रहे हो। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। यदि हृदय में कलुष न हो और भोजन के पहले इष्टदेव के प्रति पूर्ण-भक्तिभाव से निवेदन करके मिली हुई भोज्यवस्तु को भगवान का प्रसाद बना

लिया करो तो उसमें तुलसीदल-जैसी ही पवित्रता आ जाती है। परमेश्वर ने गुरु-कृपा का रूप धारणकर आज हमलोगों की आँखों के सामने इस तथ्य को स्वयं प्रमाणित कर दिया है।"

रामावत-संप्रदाय में सुरेश्वरानन्द की ही परम्परा में आगे चलकर गोस्वामी तुलसीदासजी का आविर्भाव हुआ। रामानन्द के विशिष्ट शिष्यों में पीपाजी का नाम अति प्रसिद्ध है। ये राजपूत जाति के राजवंशीय पुरुष थे और उनके हाथों में एक बड़ी रियासत का शासन था। सुरेश्वरानन्द की शरण में वे किस तरह उपस्थित हुए—इसकी भी अद्भुत कथा है।

उनका समय मुख्यतः युद्ध-विग्रह, राज-कार्य और विलास-व्यसन के बीच में ही कटे, यही स्वाभाविक था। किन्तु इन सांसारिक व्यापारों के बीच उनके शासकीय जीवन की अन्तर्धारा में एक निगूढ़ सात्त्विक संस्कार निरंतर मूलबद्ध था। समय और सुयोग मिलने पर वे अपनी कुल-देवी की आराधना में कभी-कभी घण्टों बेसुध होकर बैठे रहते, यह बात उनके राज-सेवकों से छिपी हुई नहीं थी।

एक दिन वे इसी तरह कुलदेवी की पूजा में निमग्न बैठे थे। तभी देवी ने स्पष्ट वाणी में निर्देश किया—"वत्स, इस तरह अपना समय व्यर्थ में क्यों नष्ट कर रहे हो ? अच्छा होता कि तुम सीधे काशीधाम चले जाते। वहाँ आचार्य रामानन्द स्वामी तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। पहले उनकी कृपा प्राप्त कर लो तभी परममुक्ति के अधिकारी हो सकोगे।

देवी का आदेश सुन लेने के बाद पीपाजी वाराणसी जाने के लिए अधीर हो गये। दूसरे ही दिन वे वाराणसी के लिए विदा हुए। संयोग से आचार्य रामानन्द उस समय वाराणसी में ही थे। पीपाजी ने दैन्य भाव से उनके सामने कर जोड़े खड़े होकर प्रार्थना की—'महाराज, मैं तो भोग-विलास में लिप्त और राजस-मोह से ग्रस्त एक साधारण व्यक्ति हूँ। चर्म-चक्षु रहते हुए भी मर्म-चक्षु की दृष्टि से मैं अंधा ही हूँ। अपनी कुलदेवी की कृपा से मुझमें आलोक-संधान के लिए व्याकुलता जगी है। उन्होंने ही मुझे आपके पास शरण पाने के निमित्त प्रेरित भी किया है। आप गुरु के रूप में मेरे-जैसे अधम का भार ग्रहण करेंगे, ऐसा आश्वासन भी मुझे कुलदेवी से ही मिला है। मेरी प्रार्थना है कि मुझपर कृपा की जाय और अभीष्ट के पथ में मुझे भी लगा दिया जाय।"

आचार्य रामानन्द ने पीपा की मनोदशा और पात्रता की परीक्षा लेने की दृष्टि से कहा—"वत्स, मेरे भावावेग के सहारे तो परमवस्तु को प्राप्त

नहीं किया जा सकता। तुम अभी जिस मर्कट वैराग्य से भावाकुल हो, वह कब तक ठहरेगा, इसका पता भी क्या है ? इससे भी बड़ी बाधा यह है कि तुम्हारा जन्म ही शाक्तों के कुल में हुआ है। युद्ध-विग्रह मार-काट और भोग-विलास में ही अब तक तुमने अपना समय व्यतीत किया है। ऐसी स्थिति में तुम्हारा चित्त भगवान विष्णु के चरणों में कब तक टिक पायेगा ? —इस प्रश्न पर तुम स्वयं ही विचार करके देखो। ऐसी स्थिति में मैं तुम्हें दीक्षा दे-दूँ, यह उचित नहीं प्रतीत होता।"

पीपाजी ने विनयपूर्वक निवेदन किया— "भगवन्, आपकी कृपा से असंभव भी संभव हो सकता है। उसके सहारे मैं अपने पुराने जीवन के समस्त संस्कारों और स्मृतियों को निश्चयपूर्वक चित्त से निर्मूल करने की निश्चिन्त चेष्टा कर सकूँगा। आपके आदेश पर मैं जीवन की आहुति देने के लिए प्रस्तुत हूँ।"

आश्रम के अगवासे से थोड़ी ही दूर हटकर एक पुराना गंभीर कूप था। उसकी ओर उँगली से संकेत करते हुए आचार्य रामानन्द ने कहा—"ये सारी बातें केवल कहने की हैं। मेरे आदेश के प्रति तुममें इतना गहरा भरोसा है, यह मैं कैसे मान लूँ ? यदि ऐसा ही है तो मेरे कहने से क्या तुम उस कुएँ में कूद पड़ोगे ?"

आचार्य के मुख से अंतिम वाक्य निकला ही था कि उनके चरणों में प्रणति निवेदित करके पीपाजी उस कूप की दिशा में वेगपूर्वक दौड़ पड़े। वे उसमें कुदना ही चाहते थे कि पीछे से आचार्य रामानन्द के शिष्यों ने उन्हें पकड़ लिया और वैसा करने से रोक दिया। पीपाजी को कुएँ में गिरने से बचाने के लिए आचार्य रामानन्द ने ही उन शिष्यों को उनके पीछे-पीछे लगा दिया था।

पीपाजी की इस तत्परता से आचार्य रामानन्द विगलित हो उठे। उनके मुख पर प्रसन्नता की मुस्कान फैल गई। उन्होंने मधुर स्वर में कहा —'बेटे, तुम्हें मैं दीक्षा दूँगा। लेकिन शर्त्त यह है कि दीक्षा के बाद तुम्हें इसी आश्रम में रहकर कठोर तपस्या करनी पड़ेगी।"

गुरु की इस परीक्षा में भी पीपाजी अन्ततः उत्तीर्ण हो गये। दीक्षा के बाद उनका नामकरण हुआ —पीपानन्द। राज्य और परिजनों को छोड़कर वे आधार-शुद्धि के लिए तपस्या में लीन हो गये। एक दिन गुरु की आज्ञा से वे और भी गंभीर तपस्या करने के लिए गहन अरण्य की दिशा में चले गये।

पीपाजी की प्रियतमा रानी भी उसके कुछ ही पूर्व आकर आचार्य रामानन्द से दीक्षा ले चुकी थी। पति के प्रति उनकी असीम भक्ति थी, इसलिए उन्होंने भी आचार्य रामानन्द महाराज से पति के साथ ही तपस्या के हेतु उसी गहन अरण्य में प्रवेश कर जाने की आज्ञा चाही। गुरु की आज्ञा उन्हें प्राप्त हो गई। दोनों ने उस गहन अरण्य में साथ-साथ तपस्या की। भक्तमाल के रचयिता ने इस राजदंपति की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। रामावत-संप्रदाय के साधुओं की मंडली में पीपाजी और उनकी भक्तिमती रानी की अनेक अनुश्रुतियाँ, अब तक, बड़ी श्रद्धा के साथ याद की जाती हैं।

आचार्य रामानन्द के एक प्रसिद्ध शिष्य थे—साधु रैदासजी। उनका जन्म चमार जातिके घरमें हुआ था। उस अत्यन्त निर्धन परिवार के पुत्र के रूप में रैदास को कठोर परिश्रम का जीवन बिताने के लिए बचपन से ही बाध्य होना पड़ा। उन्होंने अपने कुल की जीविका को आजीवन स्वीकृत किये रखा। चरम दैन्य, विनय और आर्त्तता की वे सजीव मूर्त्ति थे। लोगों के पाँव के लिए जूते बनाने के काम में लगे रहकर उन्होंने जीवन में असीम विनम्रता की आध्यात्मिक साधना की थी। अपने दैनन्दिन कार्यों में लगे रहकर वे निरन्तर इष्ट-मंत्र का जप करते रहते। हिन्दी के संत-कवियों में उनका स्थान अत्युच्च है। आचार्य रामानन्द की असीम कृपा ने इस गृहस्थ भक्त को जीवन-काल में ही भारत-प्रसिद्ध कर दिय था। कहते हैं कि कृष्ण-प्रेम की अद्‌भुत बावली रानी मीरा बाई ने इन्हीं से दीक्षा पायी थी।

भक्तप्रवर नाभादास ने रैदास की अलौकिक विभूति की एक अद्‌भुत कथा का हवाला दिया है।

एक दिन रविदास की एक शिष्या ने—जो रानी झाली के नाम से प्रसिद्ध हैं—साधुओं को एक बहुत बड़ा भण्डारा दिया। उस अवसर पर अपने गुरु रैदास को निमंत्रित करना भी वे नहीं भूल सकीं। यथासमय स्वामी रैदासजी भण्डारे के स्थल पर निमंत्रित होकर उपस्थित हुए।

स्वामी रैदास को उपस्थित देखकर भण्डारे के लिए निमंत्रित साधुओं की भीड़ में विवाद और उत्तेजना फैल जाना अप्रत्याशित नहीं था। साधु हो जाने के बावजूद जातिगत अभिमान छोड़ पाना उनमें बहुतों के लिए संभव नहीं हो सका था। ऐसे लोग आपस में विवाद करने लगे। सिद्ध-पुरुष हो जाने से ही तो कोई उच्च जातियों के सदस्यों के साथ एक पंक्ति

में बैठकर भोजन करने का अधिकारी नहीं हो जाता ? आखिर स्वामी रैदासजी का जन्म तो मोची जाति में ही हुआ है ना ? इस बात को स्मरण करने के साथ बहुत-सारे साधु पत्ते पर से उठ खड़े हुए और यह प्रकट कर दिया कि वे किसी भी स्थिति में रैदासजी के साथ, एक पंक्ति में बैठकर, भंडारे में भोजन नहीं कर सकेंगे।

रानी झाली देवी को इस अप्रत्याशित संकट का अंदाज न था। वे बड़ी कठिनाई में पड़ गईं। भंडारे का यश लूटने के लिए गुरु के प्रति असम्मान होने देना वे सहन नहीं कर सकती थीं। किन्तु वे इसके लिए भी उद्यत न थीं कि निमंत्रित साधुओं में से एक भी जन उस भंडारे से उठकर भूखे ही चले जायँ। इस समस्या का समाधान ढूँढ़ पाना उनके लिए कठिन हो रहा था।

अन्ततः साश्रुनयन रानी ने अपने गुरु रैदासजी महाराज के चरणों में जाकर पूरे वृत्तान्त का विनय पूर्वक निवेदन कर दिया।

स्वामी रैदास ने धीर-चित्त से रानी की प्रार्थना सुनी और उसी तरह धीर-कंठ से समस्या का समाधान भी बता दिया। उन्होंने कहा— "तुमलोग तनिक भी भय या चिन्ता न करो। मन में दुविधा को स्थान दिये बिना सभी आगत साधुओं को भंडारे की पाँत में प्रार्थना पूर्वक बैठा दो। मेरे भोजन की बात अभी छोड़ो। आये हुए सभी महात्मा, साधु भोजन करके जब विदा हो जायेंगे, तब मेरे भोजन की व्यवस्था तुम कर देना। इसके लिए मुझे जरा भी अपमान या कष्ट का अनुभव नहीं होगा। तुम निश्चिन्त होकर साधुजनों की अभ्यर्थना की व्यवस्था करो और अभी मेरी चिन्ता एकदम छोड़ दो।"

स्वामी रैदासजी ने जैसा कहा था, वैसी ही व्यवस्था कर दी गई। साधुओं के पत्तों पर भोज्यसामग्री पड़ोस दी गई। सभी रुचिपूर्वक भोजन करने लगे। तभी एक अद्‌भुत दृश्य उपस्थित हो गया। प्रत्येक साधु ने आश्चर्य पूर्वक देखा कि उनकी बगल में रैदासजी की ध्यानमग्न मूर्त्ति हाथ-पर -हाथ रखे बैठी है। इस अलौकिक चमत्कार का प्रभाव उनके हठ को मिटाने में बहुत दूर तक समर्थ हुआ होगा, इसमें संदेह नहीं।

भक्तकवि नाभादासजी लिखते हैं—कि यह अलौकिक चमत्कार स्वामी रैदास के इष्ट देव की कृपा ही का फल था। वे अपने चर्मकार भक्त के हृदय में निरन्तर विद्यमान हैं और अपने प्राणप्रिय भक्त की मर्यादा और सम्मान की रक्षा विकट-से-विकट परिस्थिति में भी करते रहेंगे, यह उस अलौकिक घटना के द्वारा रैदास के ईष्टदेव ने ही सबके समक्ष प्रमाणित कर दिखाया।

वाराणसी वेदान्त और शैव धर्म के केन्द्रीय स्थान के रूप में अत्यधिक प्राचीन काल से ही प्रसिद्ध रही है। आचार्य रामानन्द स्वामी ने अनके वर्षों तक उसी नगर में अवस्थान करके उसे वैष्णवधर्म की पवित्र भूमि के रूप में भी प्रसिद्ध कर दिया। वैष्णव भक्ति आन्दोलन के केन्द्र के रूप में वाराणसी की प्रतिष्ठा स्वामी रामानन्द के कारण ही संभव हुई, इस तथ्य में संदेह नहीं। कालान्तर में भारतवर्ष के दूर-दूर के क्षेत्रों से वैष्णव साधुओं का वहाँ आगमन होने लगा।

आचार्य राघवानन्द स्वामी ने गुरु की हैसियत से आचार्य रामानन्द को जो आशीर्वाद प्रदान किया था, वह अन्ततः सफल हुआ। भक्ति धर्म के उदार प्रवर्त्तक के रूप में आचार्य रामानन्द ने संपूर्ण भारत के वैष्णवों की एक लोकव्यापी सरल प्रेम-मार्ग का संधान दे दिया। उनकी योग-सिद्धि, वाग्मिता, प्रतिभा और आचार्यत्व के सम्मिलित प्रभाव से वैष्णव धर्म को पूरे देश में असामान्य प्रतिष्ठा सहज ही प्राप्त हो गई।

पहले ही बताया जा चुका है कि स्वामी रामानन्द गुरु-कृपा के प्रसाद से शताधिक वर्षों तक— संभवतः एक सौ ग्यारह वर्षों तक इस देश में संदेह विद्यमान रहे। जीवन के उत्तरार्द्ध में वे भगवद्भक्ति और भगवत्कृपा के अजस्र, प्रकाश की जंगम मूर्त्ति के रूप में जन-साधारण के बीच पूजित होते रहे। उनका समग्र अस्तित्व पूर्णतः इष्टमय हो चुका था। सर्वातिशायी परमप्रभु की ज्योतिः सत्ता उनमें निरन्तर ओत-प्रोत रही, इसका अनुभव जन साधारण के द्वारा भी किया जा चुका था।

नानक-पंथियों के ग्रंथ-साहिब में स्वामी रामानन्द की एक गाथा संकलित है। उस गाथा से प्रमाणित होता है कि अपने जीवन के उत्तर-काल में लोक-वंद्य आचार्य रामानन्द की प्रतिष्ठा और शक्ति कितनी अपरिमेय हो गई थी। उक्त गाथा में निम्नलिखित भाव की पंक्तियाँ कविता के रूप में आई हैं—

"कहाँ, किस दिशा में मैं भला अब परिव्रजन करूँ?
अब जाना-आना कहाँ रहा?
मैं तो अब सतत भासमान हूँ—
दिव्य आनन्द के रसस्रोत में
अपने गोपन पुर में निवास जो कर रहा हूँ।
मेरा अन्तर अब आना-जाना नहीं चाहता।
इधर-उधर की बात छोड़ो;

अब मैंने अपने उद्गम-स्थान में ही जगह बना ली है ।
याद आ रही है बीते हुए दिनों की बात
स्मृति के रूप में
कितनी सुगंधि
कितना आनन्द
फैल रहा है ।

श्रीखंड चंदन मैं घिसता हूँ,
अपने शरीर में उसका लेप चढ़ाता हूँ
किन्तु उसकी शीतलता और सुगंधि पूरे विश्व को आश्वस्ति प्रदान करता है
तीर्थों में और मंदिरों में जाता हूँ
देवता की आराधना के निमित्त
वहीं आविर्भूतहो गये हैं हमारे आलोकविहारी गुरुदेव
मेरे हृदय में दिव्य ज्योति जलादी है उन्होंने
जानता हूँ, जानता हूँ, जीवन प्रभुकी अपार कृपा की परमशक्ति को जानता हूँ ।
जानता तो हूँ वेदों को भी और पुराणों को भी
किन्तु यदि उनमें भगवान की मधुमय कृपा का मधुमय स्पर्श ही नहीं मिला—
तो वैसे वेद-पुराणों का महत्त्व ही क्या है ?
हे चिदानन्दमय सद्गुरो !
आपके चरणों में मैंने अपने को सदा के लिए सौंप दिया है ।
सभी दुविधाओं और संशयों को आपने मिटा दिया है मेरे चित्त से ।
रामानन्द ने परमोज्ज्वल सत्य को तुम्हारी कृपा से उपलब्ध कर लिया है
सारे विश्व में और उसके अणु-परमाणु में वे ही तो ओत-प्रोत हैं !
यही सत्य मेरे प्राणों में उद्भासित हो रहा है
कृपालु सद्गुरु की अपार कृपा बरस रही है
और लक्ष-लक्ष कोटि पापों की कालिमा
धुल-पुँछ कर, देखते-देखते ही, निश्चिह्न हो गई ।

जीवन के अन्त में आचार्य रामानन्द स्वामी ने अपने को लोक-चक्षु से ओझल कर कुछ दिन एकान्त-वास में व्यतीत करने का निश्चय किया था। उसी अवधि में एक दिन-१४१० खिृस्ताब्द या १४६१ संवत् में उन्होंने अपने नश्वर शरीर का त्याग किया। शरीर-त्याग के समय उनकी आयु एक सौ ग्यारह — (१११) वर्ष की थी। अपने समय के अन्यतम श्रेष्ठ आचार्य और वैष्णव भक्तों के परमगुरु भक्ति-भगीरथ आचार्य रामानन्द स्वामी नित्य-लीला के मधुमय लोक में प्रवेश करने के पूर्व भगवद्भक्तों को एक सुदृढ़ आधार-भूमि प्रदान कर चुके थे।

———

अद्वैत आचार्य

सैंकड़ों वर्ष पहले की कथा है यह। महाप्रभु चैतन्य के आविर्भाव के पूर्व नवद्वीप की गणना भारत के श्रेष्ठ विद्याकेन्द्र के रूप में की जाती थी। वहाँ के अध्यापक एवं विज्ञ पंडितगण अपने ज्ञान-गौरव के लिये प्रख्यात थे। विद्या-गर्वी पंडितों के उन्मत्त ज्ञान के अहंकार, न्याय के विवाद एवं कूटतर्कों के विश्लेषण की भीड़ में भक्त वैष्णवों का दल जाने कहाँ विलुप्त हो गया था। प्रेम-भक्ति की सरल, सहज कथा, नृत्य, कीर्त्तन एवं नाम-गान जनसाधारण के लिये उपहास की वस्तुएँ थीं। इसी संक्रांति-काल में कृष्ण-भक्त वैष्णव नेता के रूप में आचार्य श्री अद्वैत ने एक नूतन आलोक, नयें प्रकाश को बिखेरा था जन मन में।

अद्वैताचार्य असाधारण शास्त्रवेत्ता थे। प्रखर पांडित्य के साथ-साथ उनका जीवन प्रेम-भक्ति की अपूर्व सुधा से सिक्त था। अनेक वर्षों की कठिन नैष्ठिक साधना के फलस्वरूप उन्होंने इस ज्ञान-भक्ति को प्राप्त किया था। भक्त साधक अद्वैत आचार्य वैष्णवों के प्रवीणतम नेता, प्रधान आश्रय एवं सम्बल थे।

अद्वैत आचार्य की धर्म-सभा कभी शांतिपुर तो कभी नवद्वीप में नियमित रूप से संचालित होती थी। अपूर्व दीप्तिमय, प्रवीण साधक अपने भक्तों के साथ गीता और भागवत के श्लोकों को व्याख्यायित करते थे। अश्रुपूरित उनके दोनों नयन छल-छल कर उठते थे। भक्त श्रोताओं का अन्तर उसे सुनकर एक दिव्य सिहरन से भर-भर उठता था।

अद्वैत प्रभु ज्ञानमिश्रित भक्ति की साधना का उपदेश उन्हें देते थे। सार-गर्भित व्याख्या एवं भावमय संवेदनों के मध्य भक्ति का शुभ्र, सरस पुष्प पुष्पित करने का प्रयास करते थे। परंतु सारा देश उस समय दुस्सह अनाचारों से घिरा हुआ था। राष्ट्र की सहज गति अवरुद्ध थी। सब सोंचते थे कि इस दुर्वह क्षण में यह क्षीणकाय भक्ति-धारा ईश्वर विमुख मनुष्यों का उद्धार क्या कर सकेगी? इस उद्धार के लिये तो भक्ति की चार वेगवती धाराओं की आवश्यकता है। उस धारा को दिशाओं में विस्तारित करने के लिए एक नये भगीरथ की आवश्यकता थी। कहाँ था वह महाशक्तिधर युगप्रवर्त्तक महा-पुरुष? कब होगा उसका आविर्भाव? तिल, तुलसी और गंगाजल के साथ वृद्ध आचार्य प्रतिदिन अपनी यह प्रार्थना निवेदित करते रहते थे। सम्पूर्ण विश्व के मंगलार्थ कातर हो रो-रो कर विष्णु-गृह की मिट्टी को भिंगो देते थे।

अनेक वैष्णव-भक्तों से परिवेष्टित आचार्य उस दिन बैठे हुए थे। पवित्र भागवत की मर्मस्पर्शी व्याख्या चल रही थी। इसी समय सुसंवाद देते हुए एक भक्त ने कहा—"प्रभु! घोर आश्चर्य की बात है। जगन्नाथ मिश्र का पुत्र निमाई पंडित गया से एक परम वैष्णव भक्त के रूप में वापस लौट आया है। उनके पांडित्य का गर्व जाने कहाँ चूर्ण हो उठा है। 'कृष्ण-कृष्ण' की पुकार कर उन्मत्त हो उठा है निमाई पंडित! महाप्रभु, उसके इस दिव्य उन्माद की छाया भी कम नहीं है। जिसने उसे एक बार देख लिया है, उसके आकुल क्रन्दन को एक बार सुना है, भावविह्वल हो उठा है। तरुण निमाई पंडित कृष्ण प्रेम की जादुई शक्ति प्राप्त कर नवद्वीप लौटे हैं।"

आचार्य का कौतूहल जाग्रत हो उठा था। दोनों आँखें अतीव उत्साह से प्रदीप्त हो उठीं थीं। भावविह्वल हो उन्होंने कहा—"भाई, तुम्हारी बात सत्य हो, तुम्हारी आशा फलवती हो। यही मेरी प्रार्थना है।"

कुछेक क्षणों के मौन के बाद उन्होंने हँसते हुए कहा— "एक गोपन कथा मैं तुम्हें कह रहा हूँ। कल रात्रि के शेष प्रहर में मैंने एक स्वप्न देखा है। गीता के एक विशेष श्लोक का निहितार्थ न समझ पाने के कारण मेरा मन

अत्यन्त चंचल हो उठा था। उपवास करके मैं केवल उसी श्लोक के विषय में चिन्तन कर रहा था। तभी मैंने देखा हमसबों का यह निमाई पंडित मेरे सम्मुख आविर्भूत हो उठा है। मुझे उद्बोधित कर कह रहा है—"आचार्य, उठो, मन को और दुःखी मत करो"—कैसा अद्भुत रहस्य था ? गीता के उस श्लोक का अबूझ अर्थ एकबारगी ही मेरे सम्मुख उद्घाटित हो गया था। मेरा सर्वांग अतीव पुलक से भर उठा था। जगन्नाथ मिश्र के उस पुत्र को मैंने पहले बीच-बीच में अनेक बार देखा था। वह अपने बड़े भाई विश्वरूप के साथ अक्सर मेरे घर आया करते थे। यह अनेक दिनों की बात है। तुम लोगों का यह संवाद अत्यन्त शुभ है। देखता हूँ, इस महावैष्णव के द्वारा प्रभु अपनी किस रहस्यपूर्ण लीला का सूत्रपात करना चाहते हैं।"

इस नाट्यलीला के अनुष्ठित होने में अधिक विलम्ब नहीं हुआ। निमाई पंडित ने समस्त नवद्वीप को प्रेमभक्ति के आलोक से आलोकित कर दिया था, लोकहितकारी कृष्ण नाम की धारा से सम्पूर्ण देश के अणु-अणु, कण-कण को अभिसिंचित कर दिया था। निमाई पंडित अद्वैत आचार्य को आत्मसात कर लिया था। महाप्रभु श्री चैतन्य के एक प्रधान पार्षद के एवं लीलानाट्य के अन्यतम सूत्रधार के रूप में उनका अभ्युदय हुआ था।

गौड़ीय वैष्णव शास्त्र में चैतन्य महाप्रभु एवं नित्यानन्द अद्वैत आचार्य के परवर्त्ती हैं। चैतन्य भागवत में निताई एवं अद्वैत को श्री चैतन्य की दो भुजाओं के रूप में अभिहित किया गया है। अद्वैताचार्य के प्रति अभिभूत होकर भक्तकवि वृन्दावनदास ने लिखा है—"इनकी भक्ति के कारण ही चैतन्य महाप्रभु अवतरित हुए हैं।"

गौड़ीय वैष्णव समाज में श्री चैतन्यदेव की प्रतिष्ठा महाप्रभु के रूप में है। तथा नित्यानन्द एवं अद्वैताचार्य की प्रतिष्ठा प्रभुओं के रूप में है। प्रभुत्व की यह मर्यादा अन्य किसी चैतन्य पार्षद को प्राप्त नहीं थी।

भक्तकवि कृष्णदास कविराज ने अद्वैत के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए कहा है—

"भक्ति के सहारे, विस्तीर्ण कर जीव को,
ब्रह्म में मिला दिया,
गीता और भागवत व्याख्यायित किये गये,
भक्ति के अनूठे उपदेश वे देते रहे,
और नहीं कोई कार्य,
इसीलिये आचार्य नाम से पुकारे गये।"

चैतन्य-पार्षद अद्वैत भक्तों के प्रभु, महाप्रभु चैतन्य की भुजा एवं कृष्ण-भक्तिदाता थे। इसके अतिरिक्त उनमें एक और गौरव की बात थी। वे सिद्ध महावैष्णव माधवेन्द्रपुरी के शिष्य थे। माधवेन्द्र पुरी के अंतरंग शिष्य ईश्वर पुरी से गया के पवित्र धाम में जिस मंत्र को श्री चैतन्य ने प्राप्त किया था, उसीने उनके जीवन में एक नवीन रूपान्तर को उपस्थित किया था। इसीकारण माधवेन्द्र के शिष्य अद्वैताचार्य को श्री चैतन्य, गुरु के रूप में आदर करते थे। सुयोग पाकर श्री अद्वैत के चरणों की धूलि ग्रहण कर सबों के समक्ष उन्हें असीम मर्यादा एवं गौरव प्रदान करते थे। चैतन्य देव की इस सहज भक्ति से चैतन्य के चरणाश्रित वृद्ध वैष्णव भक्त उपद्रव से भर उठते थे। परंतु किसी वाद-प्रतिवाद का कोई परिणाम नहीं था। लौकिक लीलाओं के लिये महाप्रभु ने किसी समय धर्म, शास्त्र एवं लौकिक मर्यादा का उल्लंघन नहीं किया था, इसीलिये अद्वैत के प्रति भक्ति निवेदित करने से उन्हें कभी विमुख नहीं किया गया।

श्री चैतन्य एवं अद्वैत के पारस्परिक संबंध अत्यन्त मधुर एवं अन्तरंग थे। कवि कृष्ण दास कविराज की लेखनी से इस मृदु सम्पर्क का मनोरम स्वरूप इन पंक्तियों में फूट पड़ा है—

'माधवेन्द्रपुरी का शिष्य उन्हें जानकर,
मानते रहे सप्रेम ज्ञानी गुरु, प्रभु सदा,
आचार्य अपने गोसाईं को,
धर्म की रीति को मर्यादा देते हुए
लौकिक लीलाओं से अर्पित की वंदना।
स्तुति - भक्ति समवेत।
चैतन्य गोसाईं आचार्य रूप में,
उनके प्रभु थे।
जीवन का यही गर्वबोध उन्हें प्रिय था।'

समकालीन वैष्णव समाज के इस प्रवीण प्रतिभाशाली, नेता, महाप्रभु के अन्यतम अन्तरंग पार्षद अद्वैत आचार्य का जन्म श्री हट्ट में हुआ था। आज का सुनामगंज महकुमा अंचल तब लाउड़ परगना के नाम से सुविख्यात था। इसी परगना के अन्तर्गत नवग्राम में अद्वैत इस भूमि पर अवतीर्ण हुए थे।

उनके पिता कुबेर पंचानन लाउड़ के सम्राट दिव्य सिंह के महापंडित थे। धर्मपरायण एवं शास्त्रविद मनीषी के रूप में उनकी यथेष्ट ख्याति थी। उनके

वंश के गौरव की परम्परा अति प्राचीन थी। स्वनामधन्य नृसिंह नाड़ियाल उनके पूर्वज थे। पाठान युग में गौड़ीय हिन्दू राजा गणेश का मन्त्रित्व ग्रहण कर नृसिंह नाड़ियाल ने यथेष्ट प्रतिष्ठा अर्जित की थी। अद्‌भुत मनीषा, प्रचंड व्यक्तित्व एवं राजनैतिक सूक्ष्म बुद्धि की दृष्टि से उनके तुल्य व्यक्ति संपूर्ण गौड़ राजधानी में तब कम ही थे।

कुबेर आचार्य एवं उनकी धर्मपत्नी लाभादेवी अत्यन्त दुःखी एवं संतप्त थे। उनके अनेक पुत्रों ने जन्मग्रहण किया था। परंतु क्रूर नियति की प्रवंचना से एक भी जीवित नहीं रहा। और किसी पुत्र का जन्म होगा—इस आशा का उन्होंने परित्याग कर दिया था। तब क्या वंश में दीप जलाने-वाला भी कोई नहीं रहेगा ? क्या मृत्यु के उपरान्त पुत्र संतान से पिंड प्राप्त करना भी भाग्य में नहीं है ? इन्हीं चिन्ताओं ने भोले दम्पति को उद्विग्न एवं कातर बना रखा था। सांसारिक कर्मों से वे दिन-प्रति-दिन उदासीन होते जा रहे थे। अपने इस वैराग्यप्रवण मन को लेकर वे एकदिन लाउड़ का परित्याग कर शांतिपुर में आ गये।

पति-पत्नी दोनों ने अपने मन में पुण्यसलिला भागीरथी के तट पर कुछ दिन एकान्त वास करने का निश्चय किया। वहाँ रहकर भक्ति, पूजा, व्रत, उद्यापन आदि करने का विचार किया।

इस नूतन परिवेश में कुछ दिनों के पश्चात् लाभा देवी मातृत्व के गौरव से भर उठीं। कुबेर तर्क पंचानन के मुख पर इसबार हास्य की कौंध फूट पड़ी थी। इसी बीच राज्यसभा से आमंत्रण आ पहुँचा। पंडित अत्यन्त उल्लसित हो पत्नी के साथ फिर स्वदेश लौट गये।

माघी सप्तमी की पुण्य तिथि थी। आचार्य का घर उस दिन एक सुलक्षण पुत्र की स्वर्गिक किलकारी से भर उठा। पंडित एवं उनकी पत्नी के आनन्द की कोई सीमा नहीं थी। उस नवजात शिशु का नाम रखा गया कमलाक्ष।

बाल्यकाल से ही कमलाक्ष के जीवन में अपूर्व भक्तिपरायणता देखी जाती थी। सहजात धर्म-संस्कार को लेकर उसने जन्म ग्रहण किया था। निवेदित वस्तु को छोड़कर उसे और कुछ खिलाया नहीं जाता था।

देव-पूजा में उसे उन्मुख कर पिता जब नारायण की अर्चना करने बैठते, बालक कमलाक्ष भावाविष्ट हो वहाँ बैठ जाता। उसके दोनों नेत्रों से आनन्दाश्रु प्रवाहित होते रहते।

कुबेर पंचानन बालक की अप्रतिम मेधा एवं तीक्ष्ण बुद्धि से चमत्कृत थे। उन्होंने स्पष्टतः लक्षित किया था कि उत्तरकाल में यह बालक शास्त्रों में निष्णात हो कुल की अखंड भक्तिधारा को जुगाये रखेगा। कमलाक्ष तब बारह वर्षों का था। अध्ययन के लिये पिता ने उसे शांतिपुर भेज दिया। यह किशोर शिक्षार्थी असाधारण प्रतिभासंपन्न था। कुछेक वर्षों में ही वेद-वेदान्त, स्मृति एवं षड्दर्शनों के पाठ को उसने कंठस्थ कर लिया था।

इसी बीच कमलाक्ष के माता - पिता श्री हट्ट से चले आये थे। अपने पुत्र के साथ नवद्वीप एवं शांतिपुर में गंगातट पर वे रहते थे। नब्बे वर्ष की अवस्था में कुबेर पंचानन ने अपने नश्वर शरीर का परित्याग किया। कुछ दिनों के बाद ही कमलाक्ष की माता लाभा देवी ने भी उस दिव्य लोक में प्रस्थान किया।

पंडित कमलाक्ष के हृदय में तीव्र वैराग्य की आंधी चल रही थी। अविलम्ब गया जाकर माता - पिता का पिंडदान करने का निश्चय कमलाक्ष ने किया। विष्णु के चरण - कमलों में अपनी प्रणति निवेदित करने की अधीर लालसा ने उन्हें तीर्थयात्रा के लिये प्रेरित किया।

इसी बीच ईश्वर प्राप्ति की अति तीव्र आकांक्षा उनके तरुण जीवन में जाग्रत हो चुकी थी। भक्ति मार्गीय साधना द्वारा उस परम प्रभु की प्राप्ति का संकल्प उन्होंने अपने हृदय में धारण किया था। इस संकल्प को पूर्ण करने के लिये अत्यन्त निष्ठा से उन्होंने भक्ति शास्त्र का अनुशीलन किया। अहर्निश साधना एवं भजन में रत रहकर उन्होंने भक्तिप्रेम की उस वर्त्तिका को प्रज्वलित रखा।

गया में अपने कार्य को निष्पन्न करके कमलाक्ष दक्षिण के तीर्थों के दर्शन की आकांक्षा से बाहर निकल पड़े। उनके अन्तर में जीवन-नौका को पार उतारनेवाले सद्गुरु के अनुसन्धान की कामना सतत जागरूक थी। दाक्षिणात्य तीर्थ पथों में परिभ्रमण करते-करते एकदिन वे माधवाचार्य सम्प्रदाय के साधुओं की सभा में उपस्थित हो गये। उस सभा में नारदीय सूत्र की अपूर्व व्याख्या हो रही थी। इस व्याख्या को सुनते - सुनते कमलाक्ष हठात भावाविष्ट हो संज्ञाशून्य हो उठे। उनके अंगप्रत्यंग से विस्मयकर सात्विक भाव फूट रहे थे।

दाक्षिणात्य के अद्वितीय ज्ञानी एवं भक्त श्रीपाद माधवेन्द्रपुरी उस समय उस मण्डली में उपस्थित थे। नवागत भक्त कमलाक्ष के इस अद्भुत भावावेश से माधवेन्द्रपुरी आनन्द से विह्वल हो उठे थे। इस तरुण भक्त के

ऊपर उनकी अपार करुणा बरस पड़ी। अद्वैताचार्य के शिष्य एवं सेवक ईशान नागर ने इस अद्भुत मिलन के दृश्य की कथा इस प्रकार वर्णित की है-

"धीरे - धीरे हुई तरंग प्रेम - सिन्धु की,
कल्लोलित उत्ताल
धरती पर गिरे प्रभु मूर्छित अतीत सज्ञ,
माधवेन्द्रपुरी ने देखा उन्हें वैसे जब,
बोल उठे—'उत्तम अधिकारी है यह तो भक्ति पथ का।
साधारण जीव को ऐसी प्रेम भक्ति और श्रद्धा नहीं होती।
स्थिति है इस भक्त की चिन्मय आधार में,
प्रेमासव पीता है नित्य यह छक कर,
बाह्य ज्ञान नहीं लेश,
अन्तर में आनन्द का नित्य अधिवास है।
उद्धारक है यह अवश्य ही जगत का,
महापुरुष के समग्र चिह्न देते दिखाई हैं,
इसके शरीर में।"

आचार्य कमलाक्ष की लुप्त संज्ञा भक्त साधुओं की 'हरि-हरि' के पुकार से जाग्रत हो उठी। उन्होंने सुना कि जो महापुरुष उनके समक्ष दण्डायमान हैं, वह स्वयं माधवेन्द्रपुरी हैं। उनकी दोनों आँखें दिव्य आनन्द की प्रखर ज्योति से झलमल कर रही थीं। आनन्दातिरेक से विह्वल हो इन्होंने उस तरुण पंडित की ओर देखा।

कमलाक्ष असीम भक्ति से भर उनके चरणों पर गिर पड़े। सविनय निवेदन किया— "प्रभु, यह मेरा परम सौभाग्य है कि आज मैं आपका दर्शन कर पाया हूँ। आप भक्तत्राता हैं, इस युग के भक्तिकल्पवृक्ष हैं। अपने चरणों में आश्रय देकर मेरे इस अधम जीवन को धन्य कर दें। मुझे वैष्णव-मन्त्र की दीक्षा प्रदान करें।"

माधवेन्द्रपुरी ने कमलाक्ष को दीक्षा देना स्वीकार कर लिया। आचार्य कमलाक्ष के जीवन में सद्गुरु की कृपा से नूतन राग की दिव्य मनोहर छटा उद्भासित हो उठी। दीक्षा एवं प्रेमभक्ति तत्त्व के उपदेश ने उनके जीवन में एक नवीन रूपान्तर उपस्थित किया था।

माधवेन्द्रपुरी महाराज के सान्निध्य में कमलाक्ष के कुछ दिन ऐसे ही कट गये। अब विदा की घड़ी आ गई थी। मानवप्रेमी कमलाक्ष स्वभावतः

लोकमंगल की कामना से विकल था। मनुष्यों के अधःपतन से कमलाक्ष का कोमल हृदय कातर हो उठा था। करुण स्वर से उसने सद्गुरु के समक्ष निवेदन किया —" प्रभु, इस कलिकाल में मनुष्य धर्मविहीन एवं आदर्शरहित हो संस्कारच्युत हो गया है। उसने अपने को ही सर्वोपरि मान लिया है। लोकहितकारी कृष्ण नाम हरिनाम उसके मुख से उच्चरित नहीं होता। आप ही कृपा कर कहें किस प्रकार जीवों का कल्याण होगा, किस प्रकार उनका उद्धार संभव होगा।"

पुरी महाराज के चेहरे पर स्मित हास्य की रेखा कौंध रही थी। मधुर कण्ठ से उन्होंने कहा—'कमलाक्ष पृथ्वी के इस पाप-ताप को दूर करने के हेतु जीवों के उद्धार के लिये परम प्रभु के आविर्भाव की आवश्यकता है। इसके बिना तो यह असम्भव है। तुम महाभक्त हो। जिस प्रकार जीवों के कल्याण की कामना तुम्हारे अन्तर में प्रज्वलित है, उसी प्रकार तुम्हारे अन्तर में असीम ईश्वरीय शक्ति है। ईश्वर को पुकार कर, उसे जाग्रत कर धरती पर उतार लो।"

सद्गुरू का यह निर्देश आचार्य कमलाक्ष के अन्तर में उस दिन से ही गड़ गया था। असीम भक्ति से भर, उनके चरणों में प्रणाम कर फिर वे तीर्थाटन के लिये निकल पड़े। भारत के दक्षिण एवं पश्चिम में अवस्थित तीर्थों की परिक्रमा कर कमलाक्ष ब्रजमण्डल पहुँच जाते हैं। लीलापुरुष कृष्ण के एक-एक लीलास्थल का आचार्य ने दर्शन किया। उनका हृदय अपार आनन्द के तरंगों से उद्वेलित था। भावाविष्ट हो आचार्य नृत्य एवं कीर्त्तन में डूब जाते। दिन और रात कैसे कट जाते—भावावेश में वह जान भी कहाँ पाते थे ?

उस दिन आचार्य गोवर्धन पर्वत पर उपस्थित थे। अन्तर दिव्य आनन्द से प्रवाहित था। उनके मानस पटल पर परमप्रभु कृष्ण की द्वापर लीलाएँ एक पर-एक कौंध रहीं थीं। आचार्य की बाह्य संज्ञाएँ विलुप्त होती जा रही थीं। पागलों की तरह वहाँ भटकते-भटकते पूरा दिन बीत गया था। रात घिर आई थी। चारो दिशाओं में घना अन्धकार बिखरा था। शांत, निश्चल होकर आचार्य एक वटवृक्ष की जड़ के पास सोना चाह रहे थे। थोड़े ही समय में आचार्य की दोनों आँखें गंभीर निद्रा से भर गईं थीं।

इसी क्षण आचार्य एक अद्भुत स्वप्न से विस्मित हो उठे। मोर-पंखधारी, मुरलीधर गोपवेशी कृष्ण अपनी भुवनमोहिनी भंगिमा से युक्त हो उनके समक्ष खड़े हैं। कह रहे हैं—

"आचार्य ! जीवों के मंगल साधन का व्रत तुमने धारण किया है। यह परम आनन्द की कथा है। इस धरती पर यथासाध्य भक्ति-तत्त्व का प्रचार करो, जन-जन को कृष्ण नाम से उद्बुद्ध कर दो। इसके साथ ही छोटे तीर्थस्थानों का उद्धार करो। और सुनो, मैं तुम्हें एक निगूढ़ संवाद दे रहा हूँ। मेरी एक दिव्यमूर्त्ति द्वादश-आदित्य तीर्थ में यमुना नदी के तट पर छिपी हुई है। मेरे उस विग्रह का नाम है—'मदनमोहन'। द्वापर में कुब्जा ने मेरी इस मूर्त्ति की सेवा की थी। आज मेरा वह विग्रह यमुना के तट पर भूगर्भ में अवस्थित है। तुम उसका उद्धार करो।"

इस अपूर्व स्वप्न के आनन्द से आचार्य और सो नहीं सके। प्रभात होते ही गाँव के सभी लोगों को पुकारना प्रारंभ कर दिया।

इस अद्भुत स्वप्न का वृत्तान्त सुन लोगों को जुटते देर नहीं लगी। कोदाल और शावल लेकर ग्रामवासी द्वादश आदित्य तीर्थ की ओर निकल पड़े। खुदाई करने पर सत्य ही भूगर्भ में एक परम मनोहर कृष्णमूर्त्ति ललित त्रिभंगी मुद्रा में खड़ी थी। स्वप्न में देखी गई उस मूर्त्ति को हाथों में पाकर आचार्य हर्षातिरेक से विह्वलहो उठे। एक परम सदाचारी ब्राह्मण को मूर्त्ति की सेवा का दायित्व सौंपकर आचार्य वृन्दावन की ओर चल पड़े।

मदनमोहन कृष्ण की नाट्य-लीला की समाप्ति बस यहीं नहीं थी। अद्वैत आचार्य को उन्होंने एक नूतन लीला दिखलाना प्रारंभ किया।

सम्पूर्ण भारतवर्ष तब राजनैतिक विपर्यय एवं तीव्र घात-प्रतिघातों से उद्भ्रान्त था। चारो दिशाओं में अत्याचार एवं अनाचार का ताण्डव हो रहा था। स्वप्न में देखे गये मदनमोहन की मूर्त्ति को पूजा-सेवा की व्यवस्था कर आचार्य वृन्दावन चले आये थे। इसी बीच इस मूर्त्ति को लेकर एक अद्भुत घटना घटित हो गयी।

भूगर्भ से निकली इस मूर्त्ति के दर्शनार्थ सदैव जनता की अपार भीड़ लगी रहती थी। अति दुष्ट स्वभाव के पाठानों के एक दल की कुदृष्टि इस ओर पड़ी। एक मूर्त्ति को लेकर भव्य समारोह एवं जनता की भीड़ उन्हें अच्छी नहीं लगी। एक दिन दल-बल के साथ मदनमोहन की मूर्त्ति को उन्होंने अधिकृत करना चाहा। उस मूर्त्ति को तोड़कर फेंक देने के लिए वे कटिबद्ध थे।

परंतु प्रभु मदनमोहन ने अपनी एक अलौकिक लीला प्रकट की। पाठानों ने मूर्त्ति को तोड़ने के अभिप्राय से कुटी में जब प्रवेश किया तब

कृष्ण की वह मनोरम मूर्त्ति वहाँ नहीं थी। किसीने विद्युत गति से उस मूर्त्ति को कहीं फेंक दिया था। अन्ततः अत्यन्त निराशा से भर वे सब वहाँ से चले गये।

नये पुजारी यमुना के तट पर स्नान-तर्पण में तल्लीन थे। पाठानों के आक्रमण की कथा सुनते ही वह अस्तव्यस्त दशा में कुटी के भीतर गये। देखा—वेदी के ऊपर अवस्थित मूर्त्ति जाने कहाँ अन्तर्हित हो गई थी। उन्होंने सोचा निश्चय ही पाठानों ने इसे अपवित्र कर जल के भीतर फेंक दिया है। अन्तर कातर हो, दुःख से परितप्त हो पुजारी हाय-हाय कर रोने लगे।

यह दुःखद समाचार सुनते ही अद्वैत आचार्य घटना स्थल पर पहुँचे। उनकी दोनों आँखों से आँसू झर रहे थे। अस्नात, अभुक्त आचार्य ने अत्यन्त व्याकुल हो चारो दिशाओं में उस मूर्त्ति को ढूँढ़ने का प्रयास किया। परंतु खोयी हुई उस मूर्त्ति का कहीं कोई सन्धान नहीं मिला।

रात्रिकाल में निकटस्थ वटवृक्ष के मूल में आचार्य सो रहे थे। स्वप्न में फिर उन्होंने नन्दनन्दन का साक्षात्कार किया। मधुर स्वर से प्रभु उन्हें कह रहे थे—अरे ओ आचार्य! क्यों इस प्रकार विकल हो रहे हो? क्यों दुःख से मर रहे हो? मुझे उस दुष्ट पाठान ने न तो फेंका, न ही अपसरित किया। उस दुष्ट को अपने आगे देख मैं वेदी से कूद पड़ा था। उसके बाद चुपचाप बाहर निकल कर, कुटी के पास वाले पुष्पोद्यान के एक ओर छिप गया हूँ। वहाँ से तुम मुझे निकाल कर ले आओ। और सुनो, मेरे इस विग्रह का अब नाम दो 'मदन गोपाल'। 'मदन मोहन' नाम को बदल दो।"

आनन्द से अधीर कमलाक्ष अविलम्ब बगीचे की ओर दौड़ पड़े। कुछ देर के अनुसन्धान के बाद ही प्रभु की वह मूर्त्ति निकल पड़ी। पुनः मदनगोपाल के रूप में प्रभु की सेवा-पूजा का अनुष्ठान होने लगा।

परंतु प्रभु ने शीघ्र ही अपने लिए एक अन्य व्यवस्था की। पुनः कमलाक्ष को स्वप्न में आदेश मिला—"आचार्य, जिस स्थान में तुमने मेरी मूर्त्ति स्थापित की है, वहाँ तुम सुरक्षित नहीं हो। मलेच्छों का अत्याचार अक्सर यहाँ होगा। तुम एक कार्य करो। दो-एक दिनों में मथुरा के एक परम भक्त चौबेजी यहाँ आयेंगे। तुम मुझे उन्हें अर्पित कर दो। उससे मेरी सेवा-पूजा में कोई विघ्न उपस्थित नहीं होगा।"

आचार्य को आश्वस्त करते हुए ठाकुर ने और कहा—"वत्स! तुम दुःख मत करो। मदनगोपाल के इस विग्रह के हस्तान्तरित होने से क्या अन्तर

होगा ? मेरा और तुम्हारा सम्बन्ध तो शाश्वत है। तुम्हारे समान भक्त के द्वारा ही मेरी इस लीला की परिपुष्टि होगी। एक बात और सुनो। मेरा एक अत्यन्त प्राचीन चित्रपट निकुञ्जवन में संगोपित है। श्रीराधा की प्रिय सखी विशाखा की परिकल्पना से मेरी यह प्रतिकृति रचित हुई थी। इस चित्रपट को अपने साथ लेकर तुम देश चले जाओ।"

दूसरे दिन मथुरा के चौबेजी आ पहुँचे। प्रभु मदनगोपाल का दिव्य संकेत इस महाभक्त को मिल गया था।

आचार्य के समीप आकर दैन्य से भरकर उन्होंने अपने स्वप्न का वृत्तान्त कहा। अश्रुपूरित नयनों से आचार्य ने अपने उस प्राणप्रिय विग्रह को उन्हें अर्पित किया। कुछ दिनों के बाद वे शांतिपुर लौट गये। पूजा-अर्चना के लिये अपने साथ निकुंजवन का वह पवित्र चित्रपट लेते आये।

माधवेन्द्रपुरी महाराज तीर्थाटन के क्रम में इस बार शांतिपुर आ पहुँचे थे। गुरु के चरणों के दर्शन कर एवं उनकी सेवा का सुयोग पा कमलाक्ष के आनन्द की कोई सीमा नहीं थी। परम भक्त माधवेन्द्रपुरी ने वृन्दावन से लाये गये कृष्ण के उस दिव्य चित्रपट का दर्शन किया। उसे देख बार-बार वे भावाविष्ट हो उठते थे। चैतन्य प्राप्त होने पर अपने परमप्रिय शिष्य कमलाक्ष को उस दिन उन्होंने एक निगूढ़ उपदेश दिया—

बोले पुरी—

"वत्स ! तुम सचमुच हो पुण्यमय, प्रेमवान।
राधिका की छवि है प्रत्यक्ष कर दी तुमने।
राधा और कृष्ण के दर्शन की उत्कंठा,
तेरे सहारे लोकगोचर है हो रही,
गोपी भाव बनकर।
यही युगल सेवा सर्वश्रेष्ठ रूप भक्ति का।"

— 'अद्वैत प्रकाश'

अद्वैत आचार्य ने गुरु के निर्देशानुसार इस युगल भक्ति की उपासना प्रारंभ की। प्राक् चैतन्य युग में उनके द्वारा अनुष्ठित कृष्ण एवं कृष्ण की परम शक्ति राधा की युगल उपासना का स्वरूप अत्यल्प काल तक ही रहा परन्तु चैतन्य महाप्रभु की मण्डली में इसका सर्वोपरि स्थान रहा। आचार्य के भक्तिमय जीवन में इन घटनाओं के गुरुत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

शान्तिपुर से प्रस्थान करने के पूर्व श्री माधवेन्द्रपुरी ने उन्हें एक और निर्देश दिया।

कहा— "वत्स ! तुम अब विवाह कर गृहस्थ बनो। संसार में कृष्ण नाम के प्रचार का व्रत ग्रहण करो, जीवों के कल्याण की साधना करो।"

फिर राधा और मदनगोपाल का अभिषेक सम्पन्न कर माधवेन्द्रपुरी महाराज शांतिपुर से जगन्नाथधाम की ओर चल पड़े।

यहाँ से आचार्य कमलाक्ष के जीवन का एक नितान्त नवीन अध्याय प्रारंभ होता है। अपने घर में ही उन्होंने एक चतुष्पाठी की स्थापना की। प्रतिभाशाली विद्यार्थियों के दल ने इस अप्रतिम साधक एवं शास्त्रवेत्ता के पास आश्रय प्राप्त किया। उनके जीवन को लक्ष्य बनाके शनैः शनैः वैष्णव भक्तों की एक छोटी-सी मण्डली इस अंचल में सक्रिय हो उठी। श्री चैतन्य के अभ्युदय के पूर्वकाल में इस मण्डली में वैष्णव साधना की क्षीण धारा प्रवाहित हो रही थी। परवर्त्ती काल में गौड़ीय वैष्णव आन्दोलन इसका कम ऋणी नहीं रहा।

पंडित श्यामादास कमलाक्ष आचार्य के अन्यतम भक्त एवं शिष्य थे। तत्त्व-विचार में आचार्य कमलाक्ष से पराजित हो उन्होंने उनके भक्ति सिद्धांत को सहर्ष स्वीकार किया था। श्यामादास ने ही आचार्य प्रभु का नूतन नामकरण किया था— अद्वैत आचार्य। इसी समय से कमलाक्ष पंडित इस नवीन नाम से सुप्रसिद्ध हो उठे।

अद्वैत आचार्य के दूसरे शिष्य थे श्रीहट्ट लाउड़ के राजा दिव्य सिंह। वैष्णव भक्ति की दीक्षा प्राप्त करने पर इनका नया नाम हुआ कृष्णदास। वृद्ध राजा कृष्णदास ने अद्वैत प्रभु की बाल लीला की कथा लिपिबद्ध की है।

स्वनामधन्य यवन हरिदास आचार्य प्रभु के अन्यतम श्रेष्ठ भक्त थे। तरुण हरिदास के त्याग, वैराग्यमय जीवन में एक दिन प्रेमभक्ति प्रचंड वेग से प्रवाहित हो उठी। हरिप्रेम के उन्माद में अधीर हो उठे थे हरिदास। इसी उन्मत्त अवस्था में हरिदास, शांतिपुर में अद्वैत आचार्य की धर्म-सभा में उपस्थित हुए। आचार्य प्रभु के नाम एवं साधन ऐश्वर्य की कथा उन्होंने सुनी थी। अपनी साधना के पथ-प्रदर्शक के रूप में उन्होंने मन-ही-मन आचार्य का वरण किया था।

कृष्ण-प्रेम के रस से विह्वल हरिदास अद्वैत प्रभु के चरणों पर गिर पड़े। व्याकुल स्वर से बार-बार उनके आश्रय की याचना करने लगे।

उसकी याचना ने आचार्य को विगलित कर दिया। गौरवर्ण, सुदर्शन इस तरुण भक्त ने आचार्य को अपनी ओर सम्मोहित कर लिया था। एक सिद्ध साधक के सम्पूर्ण लक्षण उसमें विद्यमान थे। सर्वांग भक्ति-रस के दीप्त लावण्य से झलमल कर रहा था।

अति आग्रह से आचार्य ने पूछा "वत्स! तुम्हारा नाम क्या है? कहाँ से आये हो तुम?"

आचार्य के चरणों में नत उस युवा भक्त ने उत्तर दिया— "प्रभु, मैं अधम मलेच्छ हूँ। आपकी शरण में आया हूँ। कृष्ण-भक्ति किस प्रकार प्राप्त कर सकूँगा—कृपा कर ऐसा उपदेश मुझे प्रदान करें।"

प्रगाढ़ स्नेह से सिक्त हो आचार्य ने उस नवागत भक्त को आलिंगनबद्ध कर लिया। उनके आश्रय में हरिदास के भक्तिशास्त्र का अध्ययन प्रारंभ हुआ। अपनी अपूर्व मेधा एवं गंभीर निष्ठा के बल पर उसने अमूल्य भक्ति-तत्त्व प्राप्त किया। भक्तसिद्ध महापुरुष के रूप में उनकी यथेष्ट ख्याति हुई।

भक्त हरिदास आर्त्तता एवं दैन्य की प्रतिमूर्त्ति थे। उन्होंने एकदिन आचार्य के पास करबद्ध हो निवेदन किया—"प्रभु, आपकी कृपा से शास्त्र-पाठ, साधना की उच्चता को तो मैंने प्राप्त किया; किंतु मेरे सदृश अधम जीव का उद्धार इतना सहज नहीं। आपकी कृपा-शक्ति के बिना यह कार्य कभी निष्पन्न नहीं होगा। अपनी उस कृपाशक्ति का आज प्रयोग कीजिए, अन्यथा इस अस्पृश्य, नराधम की और कोई गति नहीं है।"

प्रेम से उद्दीप्त हो अद्वैत ने तब कहा—

"सुनो वत्स, धर्मशास्त्र सिद्ध वाणी यह,
छोटा कौन? बड़ा कौन?
निश्चित यह होता नहीं,
आचरण पवित्र जिसका हो,
श्रेष्ठ उसको ही मैं मानता।
अष्टविध भक्ति यदि मलेच्छ में प्रकट हो,
मैं तो उसे ही,
श्रेष्ठ द्विज से कहूँगा। किन्तु—
उत्तम वही है जो भजता है कृष्ण को
विमुख उससे है जो,
वही तो अधम है!"

—अद्वैत प्रकाश

यह सर्वजनीन, उदार, जीव-उद्धारक आह्वान परवर्त्ती काल में श्रीवास अंगन से लेकर गौड़सुन्दर के श्रीमुख से ध्वनित होता रहा। इसीका पूर्वाभास अद्वैत आचार्य के मुख से सुना गया।

अद्वैत आचार्य के पास यवन हरिदास की वैष्णवी शिक्षा की परिसमाप्ति हो चुकी थी। भक्तसिद्ध महापुरुष ने अब शांतिपुर छोड़ने का निश्चय कर लिया था।

आचार्य ने विदा के क्षण उन्हें आलिंगनबद्ध कर कहा था— हरिदास, तुम नाममंत्र के महाचारण हो। धरती पर इस नाम-प्रचार के व्रत को एकान्त भाव से ग्रहण करो— प्रत्येक दिशा में परमप्रभु के नाम को विस्तारित कर दो। गुरुदेव माधवेन्द्रपुरी महाराज ने यह निर्देश मुझे दिया था। तुम्हारे लिये ही आज मैं इस व्रत को निर्दिष्ट कर रहा हूँ।

"नाम के सहारे प्रवर्त्तन करो धर्म का,
नाम ब्रह्म का प्रचार करो,
हरि नाम से जीवों का त्राण करो,
चिन्मय, अनन्त शक्ति जो है भगवान की,
नाम ब्रह्म की भी वही शक्ति,
नित्य सिद्ध है।
नाम के सहारे जीव होता है त्रिताप-मुक्त,
माया के बन्धन टूटते हैं हरिनाम से,
चिन्तामणि-कृष्ण-नाम स्वयं भगवान हैं।
पूरे ब्रह्माण्ड में महिमा है नाम की,
नाम से बड़ी है नहीं शक्ति और।
निष्ठा हो जाती है जब नाम में,
प्रेम दीप्त होता है,
प्रेम-धन प्राप्ति का उपाय,
एकमात्र यही।"

आचार्य प्रभु ने वैष्णव साधक हरिदास को संन्यास प्रदान किया। मस्तक मुंडन कर उन्हें कौपीन-डोर एवं गले में तुलसी-माला दिया गया। इस महाभक्त के कर्णों में शक्ति-संचारित करने के लिये नाम का बीज-मंत्र आचार्य ने डाला।

भक्त हरिदास तब नाम-प्रेम के सम्मोहन से उन्मत्त था। घूमते-घूमते गंगा की मृत्तिका गुफा में निवास करने लगे। वहाँ उनका नैत्यिक व्रत था तीन लाख नाम जप करना। अद्वैत आचार्य की अलौकिक शक्ति के प्रकाशरूप में नाम ब्रह्म के चारण यवन हरिदास को देखा गया। आचार्य ने उन्हें नाम दिया—'ब्रह्म हरिदास'। उत्तरकाल में श्री चैतन्य की कृपा से इस महापुरुष ने वैष्णवीयदैन्य एवं भक्ति के माहात्म्य को दिगन्तों में प्रसारित किया।

गुरु माधवेन्द्रपुरी ने अद्वैत आचार्य को गृहस्थ होने का निर्देश दिया था। शीघ्र ही विवाह के लिये उपयुक्त पात्री भी मिल गई।

नारायणपुर के नृसिंह भादुड़ी एक कुलीन एवं धर्मनिष्ठ ब्राह्मण थे। इनकी दो यमन कन्याएँ थीं—सीता एवं श्रीरूपा। इन दोनों कन्याओं को उन्होंने अद्वैत आचार्य को प्रदान किया।

शांतिपुर के विज्ञसमाज में मेधावी अध्यापक अद्वैत आचार्य की तब विराट प्रतिष्ठा थी। अनेक शास्त्रों में निष्णात आचार्य का भक्तिशास्त्र पर विशेषतः असामान्य अधिकार था। अनेक स्थानों से छात्र दल बनाकर उनके पाठशाला में एकत्र होते थे। उच्चस्तर के विष्णुभक्त साधक के रूप में उनकी प्रचुर ख्याति थी। भक्तिमार्ग की साधना के उत्सुक अनेकानेक व्यक्ति इस परम भक्त ब्राह्मण के चरणों का आश्रय ग्रहण करते थे, उनसे दीक्षित होते थे। आचार्य के गीता एवं भागवत की व्याख्या तथा विश्लेषण की ख्याति इस समय चारो दिशाओं में व्याप्त हो चुकी थी।

भक्तप्रवर हरिदास उस दिन अपने शिक्षागुरु अद्वैत आचार्य के पास आये थे। उन्हें देखकर अद्वैत आचार्य के आनन्द की कोई सीमा नहीं थी, हृदय असीम अनुराग एवं नवीन भाव से भर उठा था।

यवन भक्त हरिदास के आगमन की बात शांतिपुर के ब्राह्मणों को ज्ञात हुई। हरिदास की महासिद्धि एवं अलौकिक शक्ति के विषय में उन्होंने सुना था। परन्तु हरिदास की यह प्रतिष्ठा उन्हें भली नहीं लगी। मलेच्छ साधक का यह विराट गौरव उन्हें मान्य नहीं था। समाज के एक वर्ग के लोगों ने परम आदरणीय अद्वैत से सरोष कहा कि यवन हरिदास का साथ न छोड़ने पर उन्हें बहिष्कृत कर दिया जायगा।

इसी बीच शांतिपुर में एक विचित्र घटना से सभी चमत्कृत हो उठे। किसी संपन्न ब्राह्मण के घर उस दिन पूजा हो रही थी। गाँव के सैकड़ों

प्रतिष्ठित व्यक्ति वहाँ उपस्थित थे। भोजन की व्यवस्था भी थी। इसी समय निकटस्थ वृक्ष के नीचे कहीं से एक संन्यासी आ पहुँचे थे। संन्यासी के अंग-प्रत्यंगों की छटा अपूर्व थी, चेहरे और आँखों में सिद्ध साधक की दिव्य प्रभा विद्यमान थी। संन्यासी केवल वाक्सिद्ध ही नहीं थे, परम कृपालु भी थे। आर्त्त होकर जो भी उनसे कुछ याचना करते, वह उसे प्राप्त हो जाता। उनके चरणधूलि के स्पर्श से कितने लोगों के असाध्य रोग छूट गये थे। वृक्ष के नीचे जनता की अपार भीड़ थी।

यह वृत्तान्त सुनकर उत्सव-गृह से गृहस्वामी संन्यासी के पास दौड़े आये। निवेदन करते हुए कहा—"प्रभु, आज यहाँ भोजन आदि की व्यवस्था है। अनेक विशिष्ट व्यक्ति निमन्त्रित हैं। आप भी दया करके यहाँ अन्न ग्रहण करें–यह हमलोगों की आन्तरिक कामना है।"

भावाविष्ट हो संन्यासी ने उत्तर दिया—"मैं अ-निवेदित खाद्यान्न ग्रहण नहीं करता। विष्णु का प्रसाद यदि हो तब मैं भोजन करने बैठूँगा।"

"ऐसा ही होगा। घर में नारायण की प्रतिमा है। उन्हें नैवेद्य चढ़ाकर आपको भोज्यपदार्थ देता हूँ। पत्तल लगा है। आप यहाँ आकर बैठें।"

संन्यासी तब भी भावाविष्ट थे। धीरे-धीरे भोजनस्थान के पास जा बैठे। सबसे आगे आचार्य के रूप में उन्हें बिठाया गया।

कुछ देर के बाद अद्वैत आचार्य वहाँ उपस्थित हुए। संन्यासी को देखकर सहज भाव से कहा—"यह क्या हरिदास ? तुम यहाँ हो ? देखता हूँ गाँव के विशिष्ट ब्राह्मणगण तुम्हें पंक्ति में बिठाकर भोजन करने बैठ गये हैं यह तो अद्भुत कांड है। अब इसबार यह तुम्हारा कौन-सा ऐश्वर्य-प्रकाश प्रत्यक्ष हुआ है ?"

कानों में अद्वैत प्रभु के स्वर को सुनते ही हरिदास का भावावेश विलुप्त हो गया था। चैतन्य लाभ करते ही उन्होंने कहा—"प्रभु यह मेरा अपराध नहीं। कृष्ण कृपा से ही इन सज्जनों ने आज मुझे एक विशेष दृष्टि से देखा है। आग्रह करके मुझे अपने साथ भोजन करने के लिये पंक्ति में बिठाया है।"

आचार्य के चरणों में गिरकर हरिदास ने साष्टांग निवेदन किया। दोनों आँखों से अविरल अश्रुधारा प्रवाहित हो रही थी, भाव गद्गद् स्वर से आचार्य की स्तुति कर रहे थे। एक अपूर्व भावमय परिवेश की सृष्टि उस स्थान में हो गई थी। वहाँ उपस्थित सभी लोग निर्वाक् विस्मित एवं स्तब्ध हो खड़े थे।

उस दिन की इस घटना से, विशेषतः महाभागवत हरिदास के व्यक्तित्व के इस इन्द्रजाल का दर्शन कर गौड़ ब्राह्मणों के ज्ञान-चक्षु खुल पड़े थे। इसके साथ ही अद्वैत प्रभु की अद्वितीय महिमा से वे परिचित हो उठे। यवन हरिदास की अलौकिक कहानियाँ उन्होंने सुनी थीं—आज प्रत्यक्ष रूप में उन्होंने स्वयं उसके प्रभाव को देखा था। यवन हरिदास के कारण आचार्य अद्वैत को अपांक्तेय सिद्ध करने के लिये ये लोग सदैव सचेष्ट रहे। इस अपराध के लिये आज ये क्षमा की भिक्षा माँग रहे थे।

भक्तश्रेष्ठ हरिदास की महिमा साधारण मनुष्य नहीं समझ सकते थे। इस महिमा को समझा था वैष्णव महापुरुष श्री अद्वैत ने। इसीलिए उन्होंने अपने घर में श्रद्धानुष्ठान में प्रथम भोज्यपात्र इस भक्तिसिद्ध यवन भक्त को दिया था।

आचार्य के इस प्रेम ने हरिदास को विस्मित कर दिया था। करबद्ध हो उन्होंने कहा—"यह क्या प्रभु? इस श्राद्धपात्र का अधिकार तो ब्राह्मणों को है। उसे आपने मेरे सदृश अस्पृश्य मलेच्छ को क्यों दिया?"

प्रेमाश्रु से छलछल नेत्रों से अद्वैत आचार्य ने उत्तर दिया—"हरिदास, मेरे अनुसार तुम्हीं प्रकृत ब्राह्मण हो, प्रकृत वैष्णव हो। जानते हो, प्रकृत वैष्णवों के हृदय में गोलोकवासी कृष्ण सदैव विहार करते हैं। तुम्हारे समान दिव्यपुरुष को श्राद्धपात्र देना ब्राह्मण भोजन के सदृश है। ऐसा करके मैंने कोई अन्याय नहीं किया है।

यवन साधक को यह स्वीकृति देकर उस दिन अद्वैत आचार्य ने एक अभूतपूर्व साहस का परिचय दिया था। परम्परा प्रेमी समाज उस दिन उनके अलौकिक व्यक्तित्व एवं साधन माहात्म्य को एक नये रूप में स्वीकार करने को बाध्य हो उठा था।

अद्वैत आचार्य के इस औदार्य एवं साहस ने परवर्त्ती काल में वैष्णव आन्दोलन के नेताओं को अनेक प्रकार से प्रभावित किया था, इसमें कोई सन्देह नहीं।

नवद्वीप में स्थित अद्वैत की चतुष्पाठी का विकास हो रहा था। प्रतिदिन वे अत्यन्त उत्साह से छात्रों को गीता, भागवत, स्मृति आदि का पाठ करवाते एवं रात्रि में परम भक्त हरिदास के साथ अपने घर में बैठकर प्रेमाविष्ट हो नाम-कीर्त्तन करते।

विष्णुभक्त अद्वैत आचार्य के नेतृत्व में नवद्वीप में इस समय एक छोटी वैष्णव गोष्ठी का संचालन होने लगा था। श्रीवास आदि भक्त आचार्य की इस धर्मसभा में अक्सर उपस्थित रहते। कृष्ण-कथा के परम आनन्द में समय व्यतीत कर घर लौट जाते थे।

देश में उस समय चारो दिशाओं मे धर्म के नाम पर अनेकानेक अनाचार एवं अधर्म का ताण्डव नर्त्तन हो रहा था। पाखण्डियों के अत्याचार से जन-जीवन जर्जरित हो उठा था। वैष्णव-भक्तों के प्रति उनका आक्रोश सर्वाधिक था।

इस दुस्सह अवस्था में जीवन दुरूह होता जा रहा था। अश्रुपूरित नयनों से हरिदास ने एक दिन आचार्य से कहा—"प्रभु! धरती का भार अब असह्य हो उठा है। इसकी रक्षा का क्या उपाय है? धरती के पाप-ताप के परित्राण के लिये कब आयेंगे प्रभु? कब होगा जीवों का उद्धार?"

आचार्य ने हरिदास को सान्त्वना देते हुए कहा—हरिदास, अधीर मत बनो। मैं भी तुम्हारे समान बहुत दिनों से विकल हो रोता हूँ। चन्दन, तुलसी और गंगाजल लेकर कृष्ण की आराधना करता हूँ, उनके आगमन की कामना करता हूँ। वे अवतीर्ण होंगे, निश्चय ही आयेंगे।"

श्रीवास, गंगादास आदि अनेक भक्त, पाखंडियों के घोर अत्याचार का वर्णन सभा में करते थे। परमाश्रय, सब जीवों के उद्धारक प्रभु का आविर्भाव कब होगा?— बोल-बोलकर भक्त-जन दुःख से भर उठते थे।

शुद्धाचारी, महातेजस्वी आचार्य का हृदय तीव्र विक्षोभ से आलोड़ित हो उठा था। भक्तों के समक्ष अपने संकल्प की घोषणा करते हुए उन्होंने कहा—

हुए अवतीर्ण यदि, सच ही, हमारे प्रभु,
तब तो अवश्य ही,
होगा उद्धार सभी जीवों का,
तब तो अद्वैत सिंह ही हैं, प्रधान हमलोगों के,
ये ही दिखायेंगे हमें उस प्रभु को,
जो हैं बैकुंठनाथ।"

'अद्वैत सिंह' की हुंकार एवं भक्तप्रवर हरिदास के गुफावास में नाम-कीर्त्तन एवं आर्त्तता का फल अविलम्ब फलीभूत हुआ। उस दिन आचार्य अपने घर में संचालित धर्मसभा में आलोचना-प्रत्यालोचना कर रहे थे। उसी समय अनेक भक्तों ने एक सुसंवाद दिया। जगन्नाथ मिश्र का तार्किक एवं

विद्यागर्वी पुत्र विश्वम्भर गयाधाम से एक परम वैष्णव के रूप में रूपान्तरित हो लौट आया है। अलौकिक भाव प्रवाह के वेग से ओत-प्रोत थी उसका सम्पूर्ण सत्ता, दुर्लभ सात्विक प्रेम से उसकी सारी देह स्फुरित थी। परस्पर लोग विमर्श कर रहे थे कि प्रचंड तेज से दीप्त इस तरुण साधक के द्वारा ही क्या ईश्वरीय लीला का महाप्रकाश आलोकित हो उठेगा ?

उत्कंठित हो अद्वैत आचार्य ने इस शुभ संवाद को सुना। उनका सर्वांग उस क्षण भावावेग से कंटकित था। नयनद्वय पुलक से भर छल-छल कर रहे थे। मन असीम विश्वास से तृप्त था। यह सब उस महाप्रभु कृष्ण की कृपा तो नहीं ! नीलाम्बर चक्रवर्ती के दौहित्र जगन्नाथ मिश्र के इस युवा पुत्र के माध्यम से प्रभु ने अपना आत्मप्रकाश तो नहीं प्रसारित किया है ? प्रभु की इच्छा किस आधार से, किस प्रकार प्रकट होना चाहती है, कौन जाने ?

यदि ऐसा ही है तो आचार्य धीर, प्रशांत भाव से उस परम प्रभु के आगमन की प्रतीक्षा करेंगे। कृष्ण की आराधना ही तो उनके जीवन की कठिन, दीर्घ तपस्या है। उनके आर्त्त और विगलित चित्त की पुकार कभी निष्फल नहीं होगी। उससे खिंच कर प्रभु को अद्वैत के पास, उनके प्रांगण में आना ही होगा।

भोर का आलोक धरती के कण-कण को आलोकित कर रहा था। आंगन के तुलसी के नीचे आचार्य पूजा-वन्दना में लीन थे। गोलोक पति कृष्ण के उद्देश्य को जान कभी विनीत, नम्र भाव से, तो कभी तीव्र भावावेग से उद्दीप्त हो आचार्य प्रबल हुंकार कर उठते थे।

उसी समय गदाधर के साथ विश्वम्भर वहाँ उपस्थित होते हैं। आचार्य के दर्शनमात्र से ही उनका हृदय उत्ताल भावतरंगों से उद्वेलित हो उठा था। तत्क्षण संज्ञाशून्य हो वे धरती पर गिर पड़े। निर्निमेष दृष्टि से अद्वैत इस संज्ञाशून्य देह को देखते रहे — लावण्य की अपूर्व दीप्ति से युक्त यह कैसी देह है ? कसा विस्मययुक्त प्रेम का यह दृश्य उनके समक्ष उपस्थित हो उठा है ? इस अद्भुत भक्ति-आवेश का संचार किसी मानव-अन्तर में क्या संभव है ? इस मोहिनी मूर्त्ति के जादू से अद्वैत बँध कर सम्मोहित हो गये थे।

भक्ति सिद्ध आचार्य का अन्तर एक नूतन दिव्य बोध से भर उठा था। यही तो हैं वे परम आराध्य, उनके प्राणप्रिय – जिसके लिये आजीवन

उन्होंने तपस्या की है, साधना की है। जीवन का हर पल इस प्रिय की प्रतीक्षा में विकल रहा है।

भावविमुग्ध आचार्य विष्णु-पूजा के समस्त उपकरणों को लेकर विश्वम्भर की अचेत देह के पास आकर बैठते हैं। परम भक्ति से भर, उनके चरणों की पूजा कर, विष्णु के स्तोत्रों का ायन कर, उनकी वन्दना करते हैं।

सत्तर वर्षों के वृद्ध आचार्य के नयनों से अविरल अश्रु झर-झर कर अचेत विश्वम्भर के चरणों को सिक्त कर रहे थे। प्रेम भक्ति का यह करुण द्रावक दृश्य कैसा अपूर्व था! शब्दों से परे इस अपूर्व दृश्य से गदाधर स्तम्भित हो उठे। सर्वप्रिय, वरेण्य आचार्य ने यह क्या किया! एक अज्ञात, अनाम भय से गदाधर भर उठे थे। आचार्य को झकझोरते हुए गदाधर ने कहा—

"प्रभु! यह विश्वम्भर तो आपके समक्ष कोरा बालक है। उसकी पूजा-अर्चना क्या आपके लिये उचित है?"

भविष्यद्रष्टा आचार्य की वाणी गंभीर थी। गुरु स्वरों से उन्होंने कहा— "गदाधर! यह बालक! इसे तो सारी सृष्टि जानेगी—तुमलोग कुछ दिन और प्रतीक्षा करो।"

इसी समय संज्ञाशून्य विश्वम्भर का बाह्य चैतन्य लौट आता है। आँखें मलकर देखते हैं कि तुलसी के नीचे वे मूर्छित पड़े हैं, उनके चरणों के नीचे महाभागवत आचार्य अश्रुजल से उन्हें भिगो रहे हैं।

अस्त व्यस्त विश्वम्भर उठ कर बैठ जाते हैं। अद्वैत आचार्य के चरण-रज को अपने माथे से लगा दैन्य से भर, विगलित हो कह उठते हैं—

कृपा करो मुझपर, महानुभाव,
लगता है, मैं तुमको सचमुच पहचान गया।
धन्य हो गया मैं तुम्हें देखकर,
कृष्ण नाम देकर तुमने है मुझे जीत लिया।"

निर्निमेष, अन्तर्भेदी दृष्टि से अद्वैत विश्वम्भर को देखते रहे। सोंच-सोंच कर अद्वैत विकल हो उठते हैं—

"अरे ओ कपटी, इस बार यह तुम्हारा और कौन नया छल है? परन्तु तुम मुझे अब और नहीं ठग पाओगे! तुम्हारे परम आविर्भाव का वह अद्भुत स्वप्न मैं इतने दिनों से देख रहा हूँ। तुम्हारे भीतर मेरा वह स्वप्न साकार हो उठा है। मेरा आराध्य आज मेरे समक्ष प्रकट हुआ है।"

भावाविष्ट हो उन्होंने कहा—"विश्वम्भर, तुम मुझे अब और धोखे में मत रखो। मेरी उपलब्धि तो मेरे समक्ष है। तुम्हीं मेरे श्रेय हो, मेरे आराध्य हो और सुनो ! सारे देश का अन्तर नैराश्य और वेदना से आकुल हो उठा है। वैष्णव प्रेम की धारा स्तम्भित हो ठहर गई है। आज सबों को तुम्हारे नेतृत्व की आवश्यकता है। मनमोहन कृष्ण के कीर्त्तन-भजन के रस को प्राप्त करने के लिये जन-मानस व्याकुल है। हमलोगों की यह आकांक्षा तुम पूर्ण करो।"

यह प्रबुद्ध नेता अपने लोगों को पहचान कर एक सुसम्बद्ध भक्तमण्डली का निर्माण करे—बस यही तो आचार्य की चिर दिनों की चाह थी।

यह सब सम्पन्न कर अद्वैत आचार्य ने शांतिपुर के लिये प्रस्थान किया। जाने का एकमात्र कारण था नवद्वीप से बाहर रहकर विश्वम्भर की परीक्षा करना। सच ही यदि वे अद्वैत के प्राण-प्रभु हैं तो इस लीला को संपन्न कर वे स्वयं उन्हें बुला लेंगे।

इसी बीच नवद्वीप के भक्त-समाज में श्री गौरांग-प्रभु की कीर्त्तन लीला प्रारंभ हो गई थी। श्री वास के आंगन में एक-से-एक विशिष्ट वैष्णव-भक्तों का आगमन होता जा रहा था। मण्डली की शक्ति दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी। कुछ दिनों के बाद श्री नित्यानन्द के आगमन से यह शक्ति और भी बढ़ गई।

नित्यानन्द माधवेन्द्रपुरी के परम प्रिय थे। वे भक्ति-प्रेम रस के उत्स स्वरूप थे। माधवेन्द्रपुरी द्वारा प्रचारित कृष्ण-भक्ति-रस के अन्यतम धारक एवं वाहक थे अद्वैत आचार्य। इसी कारण नित्यानन्द एवं अद्वैत—दोनों की एक साथ उपस्थिति नहीं रहने के कारण, श्री चैतन्य महाप्रभु का वह प्रेमोत्सव अपने संपूर्ण सौष्ठव एवं रंग में जमता नहीं था।

उस दिन प्रभु श्री चैतन्य दिव्य भावावेग से आविष्ट थे। औचक ही श्री वास पंडित के भाई रमाई को पुकार कर कहा–

चलो, हे रमायी !
तुम चलो, जहाँ वास अद्वैत का है।
वहाँ जा बता दो वृत्त मेरे प्रकाश का।
कहो उन्हें—
"जिनके लिये रहे करते आराधना,
जिनके लिये की है साधना,
जिनके वियोग में निरन्तर तुम रोते रहे।

किया उपवास निराहार, निर्जल सदैव,
वे ही तुम्हारे प्रभु प्रकट हैं हो चुके।
भगवान आप ही पधारें यदि,
तब फिर किसके निमित्त सारे उपचार ये ? "
— (चै० भा०)

प्रकाश का लग्न उपस्थित हो चुका था। गौर सुन्दर प्रभु ने और न कुछ कह, प्रभु के आविर्भाव के परम तत्त्व को अनेकानेक भावों से उद्घाटित कर दिया था। उनके लिये इस समय अद्वैत आचार्य की उपस्थिति अनिवार्य थी।

रामाई पंडित को प्रभु ने कहा—"सुनो ! तुम चुपचाप अद्वैत आचार्य को श्रीपाद नित्यानन्द के आगमन का संदेश कहना। यहाँ इतने दिनों तक तुमने जो देखा-सुना है वह सब उन्हें कहना ! इसके साथ ही मेरे इस आदेश को भी कहना कि वे अपनी पूजा के समस्त उपचारों का संग्रह कर यहाँ चले आवें। सपत्नीक यहाँ आकर मेरी पूजा करें।"

रामाई को देखते ही आचार्य बोल उठे—"अरे रमाई, अचानक ही तुम शांतिपुर कैसे आ गये ? हो-बोलो तो ? मुझे पकड़कर ले जाने का आदेश आया है " क्या ?"

चतुर वृद्ध आचार्य ने प्रभु के दूत को पकड़ कर पूछा —अच्छा रमाई, तुम सबों ने तो यह निश्चय कर लिया है—परंतु मैं कैसे समझूँगा कि मानव देह में भगवान का आविर्भाव संभव है ? संसार के सारे प्रमुख स्थानों को छोड़कर नवद्वीप की धरती पर उतरकर प्रभु कैसे आवेंगे ? वैराग्य एवं त्याग के पथ, ज्ञानमिश्रित भक्ति के पथ को मैं स्वयं जानता हूँ, सबों का विश्लेषण करता हूँ। तुम्हारा अग्रज श्रीवास पंडित मेरे सम्बन्ध में इन सारी बातों से पूर्णत: भिज्ञ हैं। परंतु रमाई तुम सबों की इस भावमत्तता का कारण मैं समझ नहीं पाता !"

आचार्य अद्वैत, गौर सुन्दर के उस नवीन आन्दोलन के एक सुदृढ़, सबल स्तम्भ हैं—रमाई इस तथ्य से सुपरिचित था।

प्रभु ने उन्हें स्मरण किया है—उनकी प्रतीक्षा में वे आज अधीर हैं। इसके अतिरिक्त गदाधर से उन्होंने सबकुछ सुना है। आचार्य ने स्वयं उसदिन स्वयं प्रभु को आविर्भूत होते देखा है। अपने घरमें तुलसी चौरा के सामने उनकी पूजा-अर्चना कर वे स्वयं कृतार्थ हो चुके हैं।

भक्त रमाई आचार्य के गौरव एवं दीप्ति के सम्मुख नत था। प्रभु गौरसुन्दर की बातों को उन्होंने अक्षरशः दुहरा दिया।

युक्तपाणि हो रमाई ने कहा—"आचार्य, प्रभु अत्यन्त व्याकुल हो आपकी प्रतीक्षा में बाट निहार रहे हैं। समस्त पूजा के उपचारों को लेकर आप शीघ्र ही चलें। महाप्रभु और आपके मिलन के उस मधुर एवं स्निग्ध मिलन के दृश्य को देख हम सब अपने जीवन को सार्थक करेंगे।"

क्षण भर में ही सबों ने एक अद्‌भुत्, विस्मयपूर्ण परिवर्तन को घटित होते देखा। आचार्य के विचार एवं विश्लेषण की पद्धति, तथ्य एवं अनुसंधान की पद्धति जाने कहाँ तिरोहित हो गई थी। प्रेम भक्ति के प्रचंड आवेग से उनकी सारी देह थर-थर काँप रही थी। महापंडित आचार्य बालकों की तरह बिलख-बिलख कर रो रहे थे। आचार्य पुकार-पुकार कर कह रहे थे—"मेरे आँसुओं ने मेरे प्रभु को इस धरती के रजकणों पर उतार कर रख दिया है।"

कुछेक क्षणों के बाद आचार्य शांत हो उठे। इसी क्षण रमाई ने कहा—"आचार्यवर, प्रभु ने अविलम्ब अपने समक्ष आपकी उपस्थिति चाही है।"

अद्वैत आचार्य ने इस बार अपने मन की बात खोल कर कही—"देखो रमाई, मैं प्रभु के पास अवश्य जाऊँगा परंतु मैं तभी प्रभु को अपने प्राणनाथ, अपने प्रभु के रूप में वरण करूँगा यदि वे अपनी ईश्वरीय विभूति एवं श्री से युक्त ऐश्वर्य को मुझे दिखायेंगे। इसके साथ ही मेरे इस श्वेत केशों से आवृत्त मस्तक के ऊपर अपने दोनों चरणों को रख मुझे कृतार्थ करेंगे।"

सपत्नीक नवद्वीप पहुँच कर अद्वैत आचार्य एकबारगी हो प्रभु की सभा में नहीं गये। नन्द आचार्य के घर में गुप्त रूप से रहने लगे।

एकाकी रमाई को श्रीवास के आँगन में उपस्थित होते देख प्रभु ने चीत्कार किया—"देखो-देखो वह अब भी मेरी परीक्षा लेना चाहता है। मुझे जाँचना चाहता है। पत्नी के साथ नन्दन आचार्य के घर में छिप गया है। तुम सभी अभी उसे पकड़ कर ले आओ।"

अद्वैत एवं अद्वैत की पत्नी को प्रभु की सभा में लाया गया। प्रभु आज ईश्वरीय ऐश्वर्य से प्रमत्त हैं। उनका वह दिव्य रूपैश्वर्य चारो दिशाओं में बिखरा पड़ा है। भावविह्वल हो, अद्वैत निर्निमेष नयनों से यह मोहक

दृश्य देख रहे है। प्रभु भावाविष्ट हो श्रीविष्णु की तरह बैठे हैं। श्री पाद नित्यानन्द ने सिर पर छत्र रख दिया है। नरहरि प्रेमावेश से चँवर डुला रहे हैं, श्रीवास, मुरारी आदि भक्तगण हाथ जोड़ कर दण्डायमान हैं। सबों के सामने ही गौर सुन्दर के सौन्दर्य का अमृत-सागर लहरा रहा था। अद्वैत अवाक् हो देख रहे हैं—

"ऐसा लावण्य जो करोड़ों कन्दर्पों की
शोभा को कर देता झूठा है,
ज्योतिर्मय, स्वर्णमय, सुन्दर शरीर वह,
वैसा ही,
कोटि पूर्णचन्द्र-सा प्रसन्नमुख प्रभु का,
सदय है आज अद्वैत के लिए सचमुच।"

मात्र इतना ही नहीं। अद्वैत आचार्य की आँखों से प्रभु ने जैसे एक परदा उतार लिया था। अपने दिव्य ज्योतिर्मय रूप को प्रभु ने अनावृत्त किया था। इस रूप की प्रखर ज्योति से सबकुछ उद्भासित हो उठा था। भक्त कवि वृन्दावन दास के शब्दों में—

"देख लिया है जब प्रत्यक्ष ज्योति वल्लभ को,
और तब क्या देखूँ ?
क्या देखूँ प्रभु को
क्या गण को,
क्या भूषा को।"

इस अलौकिक दर्शन ने पति-पत्नी दोनों को अतीव आनन्द से भर आत्मविस्मृत कर दिया था। अत्यन्त भक्ति से विह्वल हो दोनों ने अनेकानेक उपचारों से श्रीगौरांग के चरणों की पूजा सम्पन्न की। भावविह्वल आचार्य के मुख से बार-बार विष्णु-ध्यान के स्तोत्र उच्चरित हो रहे थे।

प्रभु को पूजा एवं स्तुति की समाप्ति के पश्चात साष्टांग प्रणाम निवेदित करते समय प्रभु एक अद्भुत कांड कर बैठे। वृद्ध, सर्वजनमान्य आचार्य के मस्तक पर अपनी लीला के लिए उन्होंने अपने दोनों पाँव रख दिये। भक्तों की गोष्ठी में उच्चरित हरिध्वनि के निनाद से दसों दिशाएँ प्रकम्पित हो उठी थीं।

अद्वैत का यह संकल्प था—ईश्वर के रूपमें जिन्हें स्वीकार किया है—जीवन-प्रभुके रूपमें जिन्हें अपने हृदय-सिंहासन पर बिठाया है—उसे अपने ऐश्वरीय ऐश्वर्य को दिखाना होगा, अपनी शक्ति से अद्वैत की श्रद्धा एवं

आनुगत्य का मान रखना होगा। अद्वैत का वह संकल्प आज सिद्ध हो चुका था। आज का दिन उनके जीवन का श्रेष्ठतम दिन था। प्रभु एवं उनके स्वजनों के ज्योतिर्मय रूप को उन्होने देखा था। अद्वैत के सिर पर अपने चरणों को स्थापित कर प्रभुने आदेश दिया—

"अद्वैत, अब शांत होकर उठ बैठो। सपत्नीक पंच-उपचारों से मेरे चरणों की पूजा करो।"

प्रभु के इसी आदेश के लिये तो आचार्य इतने दिनों से पिपासित थे। ऐसा कर प्रभु ने उन्हें धन्य कर दिया था। यही तो उनकी चिर कामना थी।

आचार्य ने अतीव उत्साह से भर, उठ कर माला, वस्त्र एवं अलंकारों से प्रभु को सुसज्जित किया। पति-पत्नी दोनों मिलकर षोड्षोपचारों से प्रभु की पूजा सम्पन्न की। आचार्य की दोनों आंखों से उस समय अश्रु झर रहे थे। प्रभु विश्वम्भर आज अपूर्व, दिव्यभाव से उद्दीप्त थे। अद्वैत की पूजा-आरती उन्होंने गम्भीर भाव से अंगीकार की। अपने गले की माला को प्रभु ने अपने उस महाभक्त के गले में डाल दी।

आचार्य को प्रभु ने इस बार एक नूतन आदेश दिया—"मेरी पूजा अब शेष हो चुकी है। अब कीर्त्तन होगा, उसमें तुम नृत्य करो।"

उत्साहित भक्तगणों ने कीर्त्तन प्रारंभ कर दिया। इसके साथ ही एक अद्भुत दृश्य सबों के समक्ष कौंध उठा। महाज्ञानी, परम गंभीर, वृद्ध आचार्य परम आनन्द से भर दोनों हाथों को उठाकर नृत्य कर रहे हैं, उनके दीर्घ नयनों से झर-झर आँसू बह रहे थे। अद्भुत प्रेम से आविष्ट विस्मित हो सब सोंच रहे थे क्या यह वही कठोर व्रती, तापस अद्वैत आचार्य हैं—अनेको भक्तजन जिनपर आश्रित हैं, असंख्य भक्तों के अध्यात्म्य जीवन के पथ-प्रदर्शक के रूप में जिनका गौरव है ? ,पारसमणि-से प्रभु के जादुई स्पर्श से यह भाव-गंभीर ज्ञानी पुरुष आज उन्मत्त हो नृत्य-कीर्त्तन कर रहे हैं। इस अद्भुत और मनोरम दृश्यने सबों को अवाक् बना डाला था।

महाप्रभु के चेहरे पर करुणा की आभा कौंध रही थी। प्रसन्न मधुर कंठ से उन्होंने कहा—"आचार्य, तुम्हारी प्रार्थना क्या है ? तुम स्वेच्छा से मुझसे वर माँगो। जो चाहोगे मैं दूँगा।"

दोनों हाथ जोड़कर आचार्य मूक हो खड़े हैं। परंतु भगवान उन्हें छोड़ते कहाँ हैं ? बार-बार भावाविष्ट हो कहते हैं—"ना आचार्य, तुम प्रार्थना करो, तुम्हारे अन्तर की अभिलाषा से मैं परिचित होना चाहता हूँ।"

अद्वैत आचार्य निरुत्तर हैं। प्रभु ने फिर कहा—"सुनो आचार्य, घर-घर में नाम-कीर्त्तन का प्रचार अब मैं प्रारंभ करूंगा। चारो दिशाओं में इस अपूर्व भक्ति-रूपी धन को मैं वितरित करूँगा।"

अद्वैत आचार्य ने इस बार कहा—"प्रभु, यदि तुम कृपा कर अवतरित हुए हो, यदि तुम्हारी देवदुर्लभ भक्ति हमें प्राप्त हुई है–तो तुम्हारी कृपा, तुम्हारा अनुग्रह उन चिरवंचितों को भी प्राप्त हो। शूद्रों एव स्त्रियों को भी तुम्हारी यह परम भक्ति की अनुकम्पा प्राप्त हो।"

भावाविष्ट प्रभु ने उनकी यह प्रार्थना स्वीकार कर ली। चतुर्दिक जय-जयकार की ध्वनि होने लगी।

प्रेममय प्रभु के साहचर्य एवं भक्तजनों के सामीप्य में आचार्य के आनन्द से भरे दिन व्यतीत हो रहे थे। परंतु उनके अन्तरमें कही दूर तक एक काँटा गड़ा पड़ा था। उसकी कसक से वे व्यथित और उन्मन बने रहते थे।

श्रेष्ठ वैष्णव नेता कहकर प्रभु ने उन्हें अपना सम्पूर्ण प्रेम और अनुग्रह प्रदान किया है, अपने समकक्ष देखा है। एक सामान्य भक्त को यह सम्मान देकर क्या लज्जित नहीं किया है प्रभु ने उसे?

अद्वैत आचार्य का सम्पूर्ण अन्तर तब एक अव्यक्त, नीरव, करुण क्रन्दन से फट पड़ता था। दारुण क्षोभ और ग्लानि से विगलित हो उठते थे आचार्य। अद्वैत को यह सम्मान दे प्रभु क्यों दंडित करना चाहते है? प्रभु का प्रभुत्व तो उनकी प्रभुता के प्रदर्शन में हैं। कारण-अकारण आचार्य को दंडित कर ही तो उनके प्रभुत्व का ऐश्वर्य प्रकट होगा।

आचार्य ने चतुर प्रभु के साथ स्वयं चातुर्यपूर्ण खेल खेलने का आनन्द लेना चाहा। कुछ ही दिनों के पश्चात हरिदास को अपने साथ ले अद्वैत शांतिपुर चले जाते हैं।

आचार्य की भक्ति का वह मधुर, प्रेममय रूप अब पूर्णतः परिवर्त्तित हो चुका था। प्रेम भक्ति के बदले अब ज्ञान-विचार की तार्किक पद्धति का अनुसरण, दिग्दर्शन ही उन्हें मान्य था। सरस और मोहक प्रेम का स्थान अब ज्ञान ने ले लिया था—

डोल रहे चारो ओर बेसुध, बखानते,
सदैव दिन-रात भावावेश में,
ज्ञान जो वशिष्ठ ने प्रकाशित किया था कभी,
कहते हैं ज्ञान बिना विष्णु भक्ति शक्ति भला पाती है?
ज्ञान ही सर्वशक्ति प्राण की।

ज्ञान के अभाव में,
अनेक सुधी, विज्ञ जन,
वन में भटकते हैं,
छोड़ कर घर को।
'विष्णु-भक्ति' दर्पण है,
किन्तु 'ज्ञान' नेत्र स्वयं।
नेत्रहीन दर्पण में,
किसको पहचानेगा ?
सभी शास्त्र पढ़ने के बाद,
यह वृद्ध जन कहता है तुम्हें,
सुनो—मूल ज्ञान मात्र है।"

अन्तरंग भक्तगण अद्वैत आचार्य के इन परिवर्तित विचारों से आश्चर्य-चकित हो अवाक् थे। अद्वैत गौरांग महाप्रभु के प्रेम-भक्ति मार्ग के अन्यतम धारक एवं वाहक थे। ज्ञान विचार की यह नई बात उनके मुख से सुनना स्वयं एक रहस्य था। सब आशंकित थे कि क्या आचार्य ने अपने जीवन के आदर्शों को बदल लिया है ?

भक्त हरिदास शांतचित्त था। उसकी आँखों में आचार्य का धूल झोंकना संभव नहीं था। हरिदास ने अच्छी तरह समझ लिया था कि इस बार आचार्य ने प्रभु गौर सुन्दर से चतुस्तार युद्ध छेड़ा है। प्रभु को शीघ्र ही शांतिपुर लाये बिना आचार्य मानेंगे नहीं। पाठकक्ष के एकान्त कोने में बैठकर हरिदास आचार्य से ज्ञानमिश्रित भक्ति-तत्त्व की व्याख्या सुनकर गुपचुप हँसा करते थे।

अद्वैत आचार्य की इस चतुराई और अद्भुत कौशल का फल शीघ्र ही प्रकट हुआ। अचानक गौरांग महाप्रभु श्री पाद नित्यानन्द के साथ शांतिपुर आ पहुँचे। प्रभु को देख आनन्दमग्न आचार्य एव उनके घर के लोग प्रभु के चरणों में लोट पड़े।

दोनों हाथ जोड़कर अद्वैत प्रभु के समक्ष खड़े हैं। सतीक्ष्ण नेत्रों से आचार्य की ओर देखते हुए प्रभु ने अत्यन्त उत्तेजित हो पूछा —"अरे मूर्ख, भक्ति श्रेष्ठ है या ज्ञान ? आज मुझे स्पष्ट कहो।"

अद्वैत ने देखा— रोष से प्रभु का सर्वांग थर-थर कर रहा था। अद्वैत आचार्य का अन्तर एक अलौकिक आनन्द से विहँस उठा। अपने उद्देश्य की सिद्धि

से प्रफुल्लित हो उठे आचार्य। प्रभु के इस रोष को ही तो आचार्य ने चाहा था। प्रभु क्रुद्ध हो उनपर कुपित होंगे, उन्हे दंडित करेंगे— यही तो आचार्य की चाह थी। आचार्य उस दंड को सानन्द ग्रहण करेंगे।

आचार्य ने सविनय उत्तर दिया युग-युग से सर्व समाज में ज्ञान की श्रेष्ठता ही सर्वमान्य है। ज्ञानहीन भक्ति के बिना तो सारे कार्य निष्फल हैं।

प्रभु अतिशय क्रोध से भर हुंकार कर उठे—"मूर्ख, भक्ति से ज्ञान श्रेष्ठ है? मेरे समक्ष खड़े होकर तुम यह कह रहे हो?

बराम्दे से आचार्य को खींचकर प्रभु ने गिरा दिया और प्रबल वेग से उनपर प्रहार करने लगे। प्रहार जर्जरित आचार्य के मुख में शब्द गूंगे हो गये थे। मृतप्राय आचार्य भूमि पर पड़े थे। यह करुण दृश्य आचार्य-पत्नी से और सहा नहीं गया। वह करुण स्वर से चित्कार कर उठी—"अब और नहीं प्रभु, शांत हो जाएं अब। इस वृद्ध ब्राह्मण के प्राण एकबार ही नहीं लें।"

भक्त हरिदास एकपाँव पर दण्डायमान थे। प्रभु की इस विचित्र कोपलीला ने उसे भय और विस्मय से भर दिया था। अविरल कृष्णनाम का जप कर रहे थे हरिदास।

इस कोलाहल को सुन अनेक लोग आचार्य के आँगन में आ गये थे। सभी हतप्रभ एवं संत्रस्त थे। वृद्ध आचार्य की यह क्या दुर्गति हो गई है!

खिल-खिल कर हँस रहे थे केवल सदानन्दमय श्रीपाद नित्यानन्द। प्रभु को क्रोध का ज्वार अब थम गया था। अद्वैत आचार्य को मुक्ति मिली। परन्तु इस घटना से प्रभु का आत्म-परिचय सबों को मिल गया था।

प्रभु का यह कृपादण्ड शिरोधार्य कर आचार्य के आनन्द की कोई सीमा नहीं थी। वृद्ध वैष्णवनेता आँगन में खड़े हो, दोनों हाथ उठाकर नृत्य करने लगे।

नृत्य की समाप्ति के पश्चात् श्रीगौरांग महाप्रभु के चरणों पर मस्तक रख आचार्य ने कहा—"प्रभु अपने हाथों दंड देकर तुमने अपनी प्रभुता प्रदर्शित की है। तुम्हारे इस स्वरूप का उद्घाटन ही तो मैं चाहता था। अब मुझे अपने चरणों में आश्रय प्रदान करो।"

प्रबल प्रेम से भरकर प्रभु गौरसुन्दर ने आचार्य को अपने आलिंगन में बाँध लिया। दोनों के कपोल आँसुओं से भींग गये थे। आँसुओं की निर्मल धारा में सब कुछ धुल कर निखर गया था। आचार्य के आँगन का कोना-कोना कृष्णप्रेम के संगीत से गूंज उठा।

प्रभु शांत हो चले थे। भावाकुल हो वाह्यज्ञान नष्ट हो जाने के कारण अद्वैत वृद्ध आचार्य को उन्होंने लांछित किया था, उनपर प्रहार किया था। अपनें इस कृत्य से प्रभु लज्जित थे। अत्यन्त मधुर कंठ से प्रभु ने कहा—"अपने कल्याण के लिये जो तुम्हारा आश्रय ग्रहण करेगा, उसके शत अपराधों को मैं क्षमा करूँगा।"

प्रभु के चरणों के पास बैठे आचार्य के वस्त्र आँसुओं से भींग रहे थे।

अब प्रभु की आनन्द-लीला एवं गोष्ठी प्रारंभ हो चुकी थी। नित्यानन्द, हरिदास, अद्वैत आदि भक्तों के साथ गोष्ठी का रंग मनोहर हो उठा था। आचार्य की पत्नी सीता देवी के आनन्द की कोई सीमा नहीं थी। अतिशय उत्साह से भर उन्होंने प्रभु के लिये भोजन बनाना प्रारंभ किया।

गंगा-स्नान समाप्त कर प्रभु तुलसी-चौरे के समक्ष खड़े थे। सुडौल, पुष्ट देह की रेखा-रेखा दिव्य लावण्यश्री से झलमल कर रही थी। जिह्वा से इष्टनाम उच्चरित हो रहा था। सभी भक्त एवं पार्षदगण प्रेम की इस अनन्य मूर्ति की ओर विस्मयपूर्ण दृष्टि से देख रहे थे।

भावाविष्ट प्रभु ने कृष्ण-प्रेम का उद्देश्य प्रकट कर, कृष्ण को साष्टांग प्रणाम किया। इसी सुयोग की प्रतीक्षा तो अद्वैत को थी। आचार्य प्रभु के चरणों पर गिर पड़े। परम भक्त हरिदास भी इस महासुयोग को खोनेवाले नहीं थे। अद्वैत के माध्यम से प्रभु गौरसुन्दर का परमाश्रय उन्हें प्राप्त हुआ था। आज दोनों ही उनके सम्मुख धरती पर गिरे पड़े थे। एक क्षण भी विलम्ब न कर हरिदास भी अद्वैत आचार्य के चरणों पर साष्टांग प्रणत हो उठे।

आचार्य के आँगन में सबों के समक्ष उसदिन एक नयनाभिराम दृश्य फूट पड़ा था।

जाति वर्ण को महत्त्व न देनेवाले भक्तों की सूची में उस समय सर्वोपरि स्थान महाप्रभु चैतन्यदेव का निर्विवाद रूप से आता है। उसके बाद क्रमशः अद्वैताचार्य और श्रीहरिदास का आता है। वृन्दावन दास ने इन तीन प्रणम्य पुरुषों का अभिनन्दन करते हुए कहा है कि धर्म का सेतु इन तीन रूपों के माध्यम से प्रकट हुआ है।

इसके पश्चात् भोजन का आयोजन प्रारम्भ हुआ। श्रीनित्यानन्द सदैव बच्चों की तरह उमंग से भरे रहते। अतिशय आनन्द से भर दोनों हाथों से भोजन करने लगे। सभी संत्रस्त हो उठे इस दृश्य को देखकर।

अद्वैत आचार्य महाप्रभु के दूसरे रूप नित्यानन्द के स्वरूप से पूर्णतः परिचित थे। उन्हें खिझाने, उनसे वाक्-युद्ध करने में उन्हें बड़ा आनन्द आता था। कुपित होकर आचार्य कह उठे – "इस नित्यानन्द के कारण तो घोर कष्ट में पड़ गया हूँ। सबों का धर्म नष्ट किये बिना यह रहेगा नहीं। कहाँ से यह मातल आ गया– यह कोई नहीं जानता कि इसके गुरु कोई हैं। यह अपना परिचय संन्यासी कहकर देता है। इसकी जाति क्या है, किस घर में इसका जन्म हुआ है– इसे जानने का कोई उपाय शेष नहीं। पश्चिम देश में जाकर, जिस किसी के घर भात खा, जाति-धर्म खोकर इसने बड़ा उपद्रव कर दिया है। हरिदास, तुम सबों को सतर्क रहना पड़ेगा।"

नित्यानन्द एवं अद्वैत आचार्य का यह प्रचण्ड वाक्युद्ध प्रचण्डतर हो जाता। दोनों की इस बालसुलभ क्रीड़ा देख प्रभु श्री गौरांग एवं हरिदास हँस-हँस कर लोटपोट हो जाते।

कुछेक क्षणों में ही उनका यह युद्ध थम जाता। अद्वैत आचार्य एवं नित्यानन्द दोनों ही सब कुछ भूल, परम आह्लाद से भर एक दूसरे के आलिंगन में बँध जाते।

चैतन्य महाप्रभु इसी भाव से अद्वैत आचार्य के घर अनेक दिनों तक ठहर कर अपने अन्तरंग भक्तों को लेकर पुनः नवद्वीप लौट पड़े। अद्वैत आचार्य एवं श्रीहरिदास के इस बार के आगमन ने वैष्णव गोष्ठी के मध्य एक नूतन एवं प्रचंड शक्ति को संचरित किया।

अद्वैत आचार्य को प्रभु ने अपने में आत्मसात् कर लिया था। इसलिये आचार्य प्रभु के नूतन आन्दोलन के अन्यतम शक्ति-स्तम्भ के रूप में लौट-पड़े थे। नवद्वीप के लीलाक्षेत्र में श्रीपाद नित्यानन्द ने प्रभु के प्रधान सहायक के रूप में अपना आत्मप्रकाश किया था। श्रीपाद नित्यानन्द के संयोग से अद्वैत आचार्य की मर्यादा, जनप्रियता एवं नेतृत्वशक्ति और द्विगुणित हो गई। इसीलिये चैतन्य भागवत में इन दोनों पार्षदों को भगवान के दोनों बाहुओं की संज्ञा दी गई है।

अनेक वर्षों के बाद की कहानी है। प्रभु गौरसुन्दर ने इसी बीच संन्यास ग्रहण कर लिया था। उनकी नाट्य-लीला के एक नवीन अंक का प्रारम्भ हो रहा था। प्रभु के वियोग की ज्वाला से आचार्य का हृदय निरंतर दग्ध हो रहा था। प्रभु के इस नवीन रूप एवं जीवोद्धार लीला के दर्शन के लिये वे अपने हृदय को आश्वस्त करते रहते थे।

इसी बीच प्रभु के नीलाचल जाने का संदेश उन्हें मिला। जाने के पूर्व माता एवं अन्तरंग भक्तों से प्रभु मिलकर विदा लेना चाहते थे। श्री पाद नित्यानन्द को नवद्वीप में संवाद देने भेजकर वे स्वयं शांतिपुर आ गये।

सहस्र-सहस्र जनों की भीड़ प्रभु के दर्शनार्थ आचार्य के आंगन में जमा हो गई। चारों ओर नृत्य एवं कीर्तन मुखरित हो उठा। समस्त शांतिपुर भक्ति प्रेम के हाट के रूप में परिणत हो उठा।

गौरसुन्दर के इस सर्वत्यागी, वैराग्य मूर्त्ति का दर्शन कर आचार्य अधीर हो विह्वल हो उठे थे। भावोद्वेलित हो प्रभु के चरणों पर गिर कर अचेत हो उठे।

अनेक क्षणों के बाद आचार्य का बाह्य चैतन्य लौट पड़ा। प्रभु ने अब अपनी गोष्ठी प्रारंभ की। भक्तों से घिरे प्रभु बैठे हुए थे। इसी क्षण अद्वैत का शिशु-पुत्र अच्युत वहाँ उपस्थित होता है। धूल से सना हुआ नटखट शिशु खेल रहा था। लोगों की भीड़ एवं इस देव-दुर्लभ मूर्त्ति को देख समीप आ पहुँचा। धूल-घूसरित शिशु को गोद में लेकर प्रभु ने सस्नेह कहा—"अच्युत, तुम मेरे कौन हो, कहो तो? जानते हो—आचार्य मेरे पिता हैं। इसलिये हम दोनों भाई हैं।"

सबों को विस्मित करते हुए उस दिन उस बच्चे ने उत्तर दिया था—ना, ना, ऐसा नहीं! ईश्वर कृपा से तुम जीवों के सखारूप में आये हो। तुम्हारा पिता कौन हो सकता है? तुम तो स्वयं प्रकाश हो।

भक्तजन एवं सारे दर्शनार्थी हतवाक् थे। अद्वैत आचार्य के इस अबोध शिशु ने एक अद्‌भूत तत्वपूर्ण ज्ञान की बात कही थी। अद्वैत के सात्विक संस्कारों को लेकर इस बालक ने जन्म लिया है। यह असाधारण बालक है—सब समझ गये थे।

नवद्वीप में जिन्होंने प्रभु के जिस ईश्वरीय ऐश्वर्य को देखा था—अद्वैत के घर में भक्तों ने उस विभूति का साक्षात दर्शन किया। प्रभु ने अपने तत्वों को स्वयं प्रकाशित किया था।

विदा के पूर्व अद्वैत आदि अनेक अन्तरंग भक्तों के समीप प्रभु ने उद्‌घोषित किया—

"एकमात्र भक्ति ही 'हमारा है',
नहीं कोई दूसरा।

भक्त को ही मानता हूँ माता, पिता, पुत्र, बन्धु.
यद्यपि मैं हूँ स्वतंत्र,
लीला-विहार में अपेक्षा,
किसी की न मुझे ।
फिर भी स्वभाव से,
अधीन मैं हूँ भक्तों के ।
जन्म-जन्म का है हमारा,
सम्बन्ध तुमलोगों से,
बार-बार, हेतु तुमलोगों के
धरा पर उतरता हूँ ।
छोड़ तुमलोगों को,
टिका तो कहीं जाता नहीं,
एक घड़ी का भी वियोग सह पाता नहीं,
बात यह सत्य है ।'

प्रतिवर्ष भक्तों की मंडली अद्वैत आचार्य के नेतृत्व में पद यात्रा कर प्रभु के दर्शनार्थ नीलाचल जाया करती थी। इस अभियान में मात्र वैष्णव भक्त ही नहीं उनकी स्त्रियां एवं अन्य लोग भी साथ रहती थीं। प्रभु को देखने की भक्त लालसा की सीमा नहीं थी। प्रभु को जो कुछ रुचिकर था, जिस आहार को वे पहले पसन्द करते थे—सब को लेकर वे सब चल पड़े थे।

उन दिनों यात्रा करना बड़ा ही दुस्सह एवं कष्टकर था। दीर्घ पथ का पर्यटन कर गौड़ीय वैष्णवदल नीलाचल पहुँचते हैं। प्रभु के दिव्य मनोहर रूप का दर्शन ही उनकी यात्रा के सारे कष्टों, उनकी सारी पीड़ाओं एवं क्लेशों को क्षण भर में ही हर लेता है। भक्तजन प्रभु को देखते ही प्रफुल्लित हो उठते हैं। क्लान्ति दूर हो जाती है।

प्राणप्रिय वैष्णव भक्त प्रभु के दर्शनार्थ आ रहे हैं— यह संवाद मिलते ही प्रभु हर्ष से व्याकुल हो उठते हैं। अद्वैत, नित्यानन्द एवं अन्यान्य भक्तों को वे अपने प्रेमपूर्ण आलिंगन में बद्ध कर लेते हैं। प्रभु की गोष्ठी एवं अद्वैत की गोष्ठी तुमुल कोलाहल से भर उठती है। चारों ओर आनन्द का सागर लहरा उठता है।

प्रभु की पूजा एवं अर्चना के लिये आचार्य अनेक उपकरण अपने साथ ले आये थे। परन्तु आचार्य तो भावविभोर हो आत्मविस्मृत हो चुके थे। वृद्ध आचार्य परम आनन्द से अभिभूत हो दोनों बाँहें उठा-उठाकर गर्जन करने लगे—"प्रभु को मैं ले आया हूँ, ले आया हूँ।"

आचार्य का व्याकुल क्रन्दन ही प्रभु को खींच कर ले आया है—सभी भक्तों का अन्तर इस विश्वास से भरा हुआ था। समवेत स्वर से होनेवाले प्रभु एवं आचार्य के जयरव से दिशाएं गूँज उठीं थीं। इसी बीच प्रभु के सकेत से भगवान जगन्नाथदेव की माला लेकर सेवक दौड़ कर आते हैं। इस माला एवं चन्दन को प्रभु सर्वप्रथम आचार्य के गले में पहनाते हैं। फिर अन्य वैष्णवजन प्रसाद के रूप में माला को पाकर कृतार्थ हो उठते हैं।

नीलाचल पहुँचकर आचार्य अपने हाथों से बनाकर प्रभु को एक दिन भोजन कराना चाहते हैं। निमन्त्रण पा प्रभु उल्लसित हो उठते हैं—

"बोले प्रभु—"जो भी तुम्हारा अन्न खाता है,
निश्चय ही पाता है कृष्ण-भक्ति और कृष्ण को।
जीवन हमारा,
आपके ही अन्न का प्रताप,
कृष्णमय अन्न यह अपने आचार्य का
जो भी पकाते आप,
होता नैवेद्य वही,
कृष्ण का प्रसाद वही,
माँग, हम खाते हैं।"

भक्तवत्सल प्रभु की इस मधुर वाणी से सब तृप्त थे। आचार्य आनन्दविह्वल हो आत्मविस्मृत हो उठे।

आज प्रभु का निमन्त्रण है। आचार्य एवं आचार्य पत्नी प्रत्यूष से ही कार्यरत हैं। परन्तु आज के इस विशिष्ट दिन आचार्य भोजन बनाने क अधिकार पत्नी सीता देवी को नहीं देना चाहते। प्रभु से यह अधिकार उन्होने आज अपने लिये माँगा है। वृद्ध आचार्य ने परम उत्साह से अनेको उपादेय पदार्थ बनाये। पास बैठी पत्नी सब कुछ जुटातीं रहीं।

परन्तु इस समय आचार्य के मन में रह-रह कर एक गोपन इच्छा जग रही थी। प्रभु भिक्षाटन करते समय सेवकों एवं प्रिय अन्तरंग भक्तों से घिरे रहते हैं। आचार्य के परम सौभाग्य से उन्होंने इस निमंत्रण को स्वीकार किया है। सारे भक्तों के साथ आने पर आचार्य, प्रभु को क्या इच्छानुरूप मन भर खिला पायेंगे?

पत्नी को बुलाकर आचार्य ने अपने मन की बात कही। फिर बैठे-बैठे सोंचने लगे—'अहा, किसी दैव दुर्योग से आज क्या ऐसा नहीं हो सकता कि

प्रभु अकेले ही मेरी कुटी में उपस्थित हों ! तभी मुझे उन्हें परम परितोष से भोजन कराने का सुयोग प्राप्त हो सकेगा ।'

दोपहर हो गया था । आचार्य ने सबकुछ बना लिया था । हठात ही आकाश काली-काली घनघोर घटाओं से घिर गया । थोड़ी ही देर बाद प्रचंड वृष्टि होने लगी ।

आचार्य भय-प्रकम्पित हो उठे । प्रभु के आने की प्रतीक्षा में आचार्य अधीर हो बैठे थे । परंतु इन बादलों ने यह क्या किया ? असमय ही बादलों का ताण्डव होने लगेगा—कौन जानता था ? आचार्य उन्मन और उदास थे ।

इसी समय एक विस्मयपूर्ण दृश्य देख आचार्य चौंक उठे । वर्षा से भींग कर—"हरे-कृष्ण-हरे-कृष्ण कहते हुए प्रभु उनके द्वार पर खड़े थे ।

दौड़कर आचार्य उन्हें घर के भीतर खींच कर ले आते हैं । कुछ देर विश्राम कर प्रभु खाने बैठे । अनेक प्रकार के खाद्य-पदार्थ थे । प्रभु को आकंठ भोजन कराकर आचार्य का अन्तर तृप्त था ।

फिर अतीव श्रद्धा से आकाश को निहारकर आचार्य ने इन्द्र देवता की स्तुति प्रारंभ कर दी । विस्मित हो प्रभु ने कहा—"आचार्य, अचानक इन्द्रदेवता पर तुम्हारी इतनी भक्ति और श्रद्धा कब से हो गई ?

आचार्य का उत्तर था—"प्रभु, आज इन्द्र के अनुग्रह से ही तो तुम्हें आज मैंने यहाँ अकेले पाया है । अकेले तुम्हें भोजन कराकर मेरी अधीर लालसा तृप्त हो गई है ।

प्रभु को आचार्य की इस बात पर विश्वास नहीं था । यह तो वर्षा का समय नहीं था । यह आचार्य का ही खेल है । अपनी भक्ति के बल से ही उन्होंने यह अलौकिक दृश्य उपस्थित किया है । अद्वैत ने प्रशस्ति गान करते हुए गाया —

"करते अन्यथा स्वयं ही श्रीकृष्ण सदा,
जिसके संकल्प को ।
साक्षात कृष्ण को,
उसीने पा लिया है सत्य ।
उसके वचन को ।
पूरा करते हैं स्वयं कृष्ण ।
प्रभु की कृपा की वृष्टि,
सचमुच अनूठी है ।"

आवेग कम्पित अद्वैत तत्क्षण प्रभु के चरणों पर गिर जाते हैं। रो-रो कर कहते हैं —"प्रभु, तुम तो भक्त-वत्सल हो। भक्त की मनोकामना क्या तुमसे छिपी रहती है ? तुम स्वयं उस कामना को पूर्ण करते हो। मेरी सारी शक्ति इसी विश्वास पर प्रतिष्ठित है। लोग मुझे 'अद्वैत सिंह' कहते हैं। परंतु इस सिंह का बल तुम्हारा ही बल है।"

भक्तों की गोष्ठी के साथ प्रभु अत्यन्त आनन्दित थे। कृष्ण कथा एवं कीर्त्तन करते हुए सबके दिन कट रहे थे।

अनेकों भक्त से घिरे प्रभु उस दिन बैठे थे। इसी समय अद्वैत आचार्य वहाँ पहुँचते हैं।

हँसते हुए प्रभु ने पूछा—आचार्य, कहाँ से आ रहे हो तुम ? किस काम में तुम व्यस्त थे – बोलो तो ?

"प्रभु मैं श्रीमंदिर में बैठा हुआ था। जगन्नाथ देव का दर्शन कर आ रहा हूँ।"— आचार्य ने उत्तर दिया।

"बड़ी अच्छी बात है आचार्य ! परन्तु जगन्नाथदेव के दर्शन कर फिर तुमने क्या किया ?"

"प्रभु, श्री मूर्त्ति का दर्शन कर मैं प्रतिदिन उसकी प्रदक्षिणा करता हूँ। आज भी मैंने प्रदक्षिणा की है।

अट्टहास करते हुए प्रभु ने कहा—"आचार्य, आज तुम्हारी पराजय हुई है।"

यह सुनकर आचार्य स्तब्ध हो स्तम्भित हो उठते हैं। प्रभु के समक्ष आचार्य की पराजय – तो कोई बड़ी बात नहीं। परन्तु यह पराजय कैसी है, किसलिये है यही तो आचार्य समझ नहीं पाते ! आचार्य ने पूछा "प्रभु, इस जय-पराजय का विषय क्या है ? पहले यह तो कहें। तभी तो मैं समझूँगा।

प्रभु एवं भक्त के इस संलाप को सुनने के लिये सभी उत्कंठित थे। अब सारी बातें स्पष्ट हो उठीं—

बोले प्रभु—"सुनो, हरि-दर्शन की रीति यह,
करते परिक्रमा, तो सीखो व्यवहार यह।
पड़ जाते पीठ पीछे, कभी उस क्रम में,
तब-तब सदैव तुम्हें;
उतने क्षण के लिये

दीखते नहीं हैं प्रभु।
किन्तु मैं देखता हूँ,
तब भी जगन्नाथ को,
तब-तब न कोई अन्य,
दीखता मुझे है कभी।
मेरी टिकी आँखें,
देखती ही रह जाती हैं,
मात्र जगन्नाथ को।
सामने या पीछे या दायीं या बायीं ओर
दीखते हैं सदा जगन्नाथ देव,
ऐसा नहीं होता कि न दीखें वे,
और मैं कि कुछ देखूँ जगन्नाथ को।

इष्ट-दर्शन का प्रकृत तत्त्व तो यही है। और, इसका दर्शन चैतन्यदेव प्रतिदिन करते थे। चैतन्यदेव के दोनों नयनों में चिरस्थिर था जगन्नाथदेव का वह भुवनमोहन रूप।

प्रभु के श्रीमुख से इन बातों को सुन भक्तमण्डली निश्चल और अवाक थी।

आचार्य ने करबद्ध प्रार्थना की—"प्रभु, तुम्हारे समक्ष मैं पराजित हुआ हूँ। परन्तु मेरी यह पराजय कोई नवीन पराजय नहीं है। परन्तु जगन्नाथदेव के दर्शन का यह परम तत्त्व तुम्हारे श्री मुख से ही उद्घाटित हो सकता है—इतना मैं समझता हूँ।"

वृद्ध आचार्य का हृदय उस दिन प्रेम के आवेग से उमगित था। चैतन्य महाप्रभु का जो आलोक आचार्य के हृदय में उद्भासित था—उसे दिगन्तों में प्रवाहित करने की कामना से वे व्याकुल हो उठे। श्रीवास आदि अनेक अन्तरंग भक्तों को पुकारकर आचार्य ने कहा—

'आज हम सब मिलकर प्रभु श्री चैतन्यदेव का नामकीर्तन प्रारंभ कर दें। जीवों के उद्धार हेतु प्रभु अवतीर्ण हुए हैं - यह हमे ज्ञात है, हमें इसपर विश्वास है। तब प्रभु के नाम एवं स्तुतिगान में व्यवधान कहाँ है?

प्रभु के नाम-कीर्तन करने के लिये भक्तों में उत्साह की कमी नहीं थी। बाधा केवल एक थी। प्रभु यदि अपनी स्तुति-गान सुन कुपित हो उठे तब? परंतु अद्वैत के प्रेमावेग एवं उत्साह के अतिरेक ने सबों के भय को काट डाला। प्रचण्ड स्वर से प्रभु का नाम-कीर्त्तन प्रारंभ हुआ।

अपनी आत्मस्तुति सुनकर प्रभु प्रसन्न नहीं थे। स्तुति-गान और गुन नहीं सके, शीघ्र ही घर चले गये।

कीर्त्तन समाप्त हो चुका था। भयभीत भक्त गौरांग प्रभु को प्रणाम करने पहुँचे। प्रभु सेवक गोविन्द से ज्ञात हुआ कि वे तो बहुत देर से चुपचाप सोये पड़े हैं। मन-ही-मन जाने क्या-क्या सोच रहे हैं। अद्वैत, श्रीवास आदि अन्यतम भक्तों को आगे रख भक्तों ने भगवान की कुटी में प्रवेश किया।

भक्तों को देखते ही प्रभु ने पूछा— श्रीवास, तुम सब तो श्रेष्ठ, विज्ञ पंडित हो। परंतु यह सब हो क्या रहा है ? कृष्ण नाम, कृष्ण कथा छोड़कर तुम सभी मुझे प्रभु का अवतार क्यों घोषित कर रहे हो ? तुम सबों की यह तत्परता क्यों है, बोलो तो ?"

श्री वास ने कहा—"प्रभु हमारी क्षमता ही क्या है, हमारी शक्ति ही कितनी है ? ईश्वर ने जो कहा है—बस उसी का मुख से उच्चारण ही तो हम कर रहे हैं।"

धीर कंठ से प्रभु ने कहा था—''तुम सभी शास्त्रविद हो, धीर हो, प्रखर हो। जो व्यक्ति एकान्तप्रिय है, आत्मगोपन भाव से रहता है—उसे जनमानस के मध्य प्रत्यक्ष कर देना, उछाल देना क्या तर्कसंगत हैं ?

प्रभु के प्रश्न से खिल-खिल हँसते श्रीवास ने अपने हाथों से सूर्य को आच्छादित करने का संकेत किया।

श्रीवास के इस संकेत के अर्थ से सर्वज्ञ प्रभु अनभिज्ञ थे। उन्होंने इस अर्थ को स्पष्ट करने का आग्रह किया।

श्रीवास का उत्तर था—"प्रभु अपने हाथों से मैंने सूर्य को आच्छादित करने का प्रयास किया है। परंतु क्या कभी सूर्य को आच्छादित किया जा सकता है ? तुम्हारा यह आत्म-गोपन भाव उचित ही है परंतु इसे अब और गुप्त नहीं रखा जा सकता, तुम्हारे इस रूप को प्रकाश में लाना ही है।"

श्रीवास और गौरांग प्रभु का यह तर्क-वितर्क उस दिन और नहीं चल पाया। देखते-देखते ही एक विराट जनसमुद्र से हठात प्रभु का घर घिर गया। गौड़ एवं अन्यान्य स्थानों से बहुत सारे लोग जगन्नाथ देव के दर्शन को उपस्थित हुए थे। जगन्नाथ के दर्शन कर सभी प्रभु के दर्शनार्थ आ पहुँचे। अचल, निराकार जगन्नाथ के दर्शन कर सभी साकार जगन्नाथ को देख भक्तगण घर लौटेंगे। इन भक्त दर्शनार्थियों के समक्ष यह परम सत्य प्रकट हो चुका था कि प्रभु स्वयं प्रकाश्य, चिन्मय एवं परब्रह्म हैं।

प्रभु को प्रकाशित करने की अद्वैत आचार्य की वह चेष्टा सफल हो चुकी थी । इस प्रकार प्रभु के लीला नाट्य का एक महत्तर रूप उद्घटित हो चुका था ।

इसी बीच सनातन एवं रूप दो वैष्णव भक्त पुरी से आकर चैतन्यदेव के पास पहुँचे । दोनों भक्तों के समक्ष प्रभु ने अद्वैत आचार्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की । फिर कहा—

"यदि तुम्हें प्रेम भक्ति प्राप्त करने की सच ही आकांक्षा है तो तुम्हें अद्वैत की शरण में जाना होगा । उसकी कृपा के अभाव में सहज कृष्णभक्ति की उत्पत्ति असंभव है ।

नवागत दोनों भक्त उसी क्षण अद्वैत आचार्य के चरणों पर साष्टांग नत हो उठे । प्रसन्न मधुर कंठ से प्रभु ने कहा—"आचार्य, इन दोनों को तुम्हारी कृपा की अपेक्षा है । तुम भक्ति-धन के भण्डारी हो । तुम्हारे आशीर्वाद के बिना इन सबों का कल्याण संभव नहीं ।

सनातन एवं रूप की मनीषा, कवित्व एवं नेतृत्व शक्ति से आचार्य सुपरिचित थे । उन्होंने सोचा कि यह प्रभु की इच्छा है कि प्रकृत कृष्णभक्ति इन दोनों प्रतिभासम्पन्न भक्तों के अन्तर में स्फुरित हो । और, इसका उद्रेक हो उनके आशीर्वचनों के माध्यम से ।

प्रवीणतम वैष्णव नेता, शास्त्रसिद्ध आचार्य ने कहा—"प्रभु, कृष्ण भक्ति के अधिकारी तो आप हैं । मैं उस धन का भण्डारी हूँ या नहीं—मैं स्वयं नहीं जानता । परंतु भंडार का धन मैं तुम्हारी आज्ञा से ही दे सकता हूँ । तुम अनन्त करुणामय हो । जहाँ तुम्हारी खुशी हो, जिस किसी को भी देकर तुम अपनी कृपा वितरित करो । आज मैं अपनी सम्पूर्ण श्रद्धा से यह आशीर्वचन देता हूँ—इन दोनों बन्धुओं के जीवन में प्रकृत प्रेम भक्ति की उत्पत्ति होगी ।

सनातन और रूप को आश्वस्त करते हुए प्रभु ने कहा—"अब तुम्हें चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं । शक्तिधर आचार्य की असीम कृपा तुम्हें प्राप्त हुई है—

भक्ति वह प्रेममयी,
होती तभी है,
जब अद्वैत की हो कृपा असीम ।
जानो अद्वैत को,
वे ही हैं पूर्ण शक्ति योगेश्वर कृष्ण के ।"

एक दिन की बात है। अन्तरंग भक्तों से घिरे श्री चैतन्य उस दिन नीलाचल पर बैठे हुए थे। भावावेश से उनकी देह थर-थर कर रही थी—दोनों आयत नयन छल-छल कर रहे थे। हठात श्रीवास को पुकार कर प्रभु ने एक अद्भुत प्रश्न पूछा—पंडित, अद्वैत को तुम किस कोटि का वैष्णव मानते हो ?"

बड़ा ही गंभीर एवं विचित्र प्रश्न था प्रभु का यह प्रश्न ? क्या इसका उत्तर दिया भी जा सकता है ? श्रीवास पंडित ने जो उत्तर दिया वह प्रभु को संतुष्ट नहीं कर सका।

फिर प्रशान्त गंभीर स्वर से प्रभु श्रीवास एवं अन्य भक्तों के समक्ष अद्वैत के विशिष्ट स्वरूप का वैशिष्ट्य एवं महिमा का वर्णन करने लगे। भक्तों के हृदय में अद्वैत के सारे तत्त्व सदा-सदा के लिये उस दिन अंकित हो गये।

आचार्य अन्य भक्तों के साथ प्रतिवर्ष नीलाचल पर्वत अवश्य जाते थे। प्रभु का दर्शन कर, उनके सामीप्य में कुछ दिन व्यतीत कर फिर अपने कर्मक्षेत्र गौड़ देश लौट जाया करते थे। उस प्रदेश में प्रभु द्वारा प्रवर्तित भक्ति आन्दोलन के अन्यतम श्रेष्ठ धारक एवं वाहक के रूप में उनकी परिगणना होती थी।

एक बार एक भक्त ने आचार्य को परम संकट में डाल दिया। इस भक्त का नाम था बाउलिया विश्वास। आचार्य इन दिनों अर्थाभाव से ग्रस्त थे। आर्थिक विपन्नता से आचार्य परम संकट में थे।

बाउलिया विश्वास सरल व्यक्ति था। गुरु के आर्थिक कष्ट ने उसे उद्विग्न बना रखा था। इतने समृद्ध भक्तों एवं राजे-महाराजाओं के रहते भी आचार्य की यह दुर्गति उसे सह्य नहीं थी। उसने सोचा किसी प्रकार उड़ीसा के अधिपति प्रतापरुद्र के कानों में यह बात पड़ जाय तो सारे संकट के बादल छँट जायेंगे। बाउलिया विश्वास ने ऐसा ही किया। आचार्य के अर्थ-संकट से प्रतापरुद्र को अवगत कराते हुए उसने तीन सौ रुपयों की सहायता की प्रार्थना की।

जाने किस सूत्र से याचना की यह बात चैतन्यदेव के कानों में पड़ी। प्रभु क्रोध के अतिरेक से गर्जन कर उठे। तत्क्षण उन्होंने सेवकों को आदेश दिया—

"देखो, यह विश्वास कभी भी मेरे पास आने नहीं पाय। मैं उसका मुख देखना नहीं चाहता। शुद्ध, पवित्र अद्वैत आचार्य को वह उस विषयी अधिपति से दान दिलवाना चाहता है। मैं उसे कभी क्षमा नहीं करूँगा।"

प्रभु की इस दण्डाज्ञा ने सम्पूर्ण भक्त समाज को आलोड़ित कर दिया। प्रभु का आश्रय ग्रहण कर विषयी, भोगी से दान ग्रहण करना अनुकूल नहीं होगा—भक्तों ने स्पष्टतः समझ लिया था।

बाउलिया विश्वास के दण्ड से अद्वैत आचार्य अत्यन्त दुखी थे। यह याचना उसने स्वयं के लिये नहीं आचार्य के शुभ के लिये, सहायता के लिये की थी।

कुछ दिनों के बाद नीलाचल पर आचार्य का प्रभु से साक्षात्कार हुआ। आचार्य ने सकौतुक कहा—"प्रभु, बाउलिया विश्वास पर तुम्हारी ऐसी कृपा है? हमलोगों की ओर तो तुम एक बार भी पलट कर देखते नहीं हो।"

हँसते हुए प्रभु ने उत्तर दिया—"आचार्य, तुम सब वैष्णवों के आश्रय-स्थल हो। प्रकृत वैष्णव का जीवन ईश्वर के चरणों में निवेदित है। वह ईश्वर प्रेम में सदैव उन्मत्त बना रहता है। भोग-विषयों के भयावह अँधेरे पथ का जिसने वरण किया है उसके समक्ष सहायता की प्रत्याशा क्यों? तुम्हारी ऋण-मुक्ति के लिये राजा प्रताप रुद्र से निवेदन करने की आवश्यकता क्या है? जो सबों का योग-क्षेम वहन करते हैं, उन्होंने तुम्हारा भार लेना भी स्वीकार किया है। फिर उस बाउलिया विश्वास ने यह हठ और दुराग्रह क्यों किया? इसीलिये तो मैंने उसे दंडित किया है। परंतु बाउलिया विश्वास तुम्हारा भक्त है। भक्त के दंड ने तुम्हें विचलित कर दिया है। अच्छा इस बार मैं उसे क्षमा करता हूँ। फिर कभी यह कुमति उसे न हो।"

भक्त जगदानन्द पंडित एक बार नीलाचल होते हुए गौड़ गये थे। वृद्ध अद्वैत ने उनके द्वारा श्री चैतन्य को एक निवेदन भेजा था—

"कोटि-कोटि नमस्कार,
प्रभु को निवेदित करेंगे मेरी ओर से।
उनके चरणों में निवेदन यही है मेरा—
बाऊल को कह देना,
आकुल है लोक यह,
चावल अब बिकता नहीं है इस हाट में,

अब यहाँ रहने की,
कोई दरकार नहीं।
बाऊल को कह देना—
बाऊल ने भेजा संदेश है।"

भक्तों से परिवृत्त प्रभु नीलाचल पर बैठे गोष्ठी कर रहे थे। उसी समय जगदानन्द ने उस संदेश की आवृत्ति की। विचित्र प्रहेलिकापूर्ण था आचार्य का

वह निवेदन। सभी नीरव, शान्त हो चुपचाप बैठे थे। स्मित हास्य से प्रभु ने बस इतना ही कहा—तुम्हारी जैसी आज्ञा।"

सिद्ध श्रेष्ठ एवं मर्मज्ञ भक्त दामोदर प्रभु के समीप ही बैठे थे। उनका मन अनेकों संशयों से घिरा हुआ था। व्यग्र हो उन्होंने कहा—

"प्रभु, इस रहस्यमय संदेश का अर्थ किसी प्रकार हम समझ नहीं पाते। यह बड़ा दुर्बोध्य है। सारी बातें स्पष्ट कर कहें।"

प्रभु ने कहा—"आचार्य आगम शास्त्र के विज्ञ पंडित हैं। एक परम नैष्ठिक भक्त के रूप में उनकी पर्याप्त प्रसिद्धि है। देवताओं का आवाहन एवं विसर्जन—दोनों ही अनुष्ठान उन्हें ज्ञात हैं। लगता है आचार्य ने इंगित से कुछ कहना चाहा है। किन्तु तुमलोगों की ही तरह मैं भी वह सब समझ नहीं पाता।"

वास्तविक मर्म की प्रभु ने अभिव्यक्ति नहीं की, उस रहस्य को उन्होंने छिपा लिया था। परंतु उन्होंने अपने आप यह समझ लिया कि आचार्य ने अपने देवता के विसर्जन का इंगित इसके माध्यम से करना चाहा है। यह अनुमान मिथ्या सिद्ध नहीं हुआ। आचार्य के इस निवेदन को सुन प्रभु अतिशय गंभीर हो अंतर्मुखी एवं अन्तर्लीन हो गये थे।

समय का रथ अत्यन्त वेग से दौड़ता जा रहा था। अद्वैत आचार्य के जीवनावसान की बेला धीरे-धीरे निकट आती जा रही थी। तिल, तुलसी और अश्रुजल से सिक्त कर उन्होंने जिस लीला का सूत्रपात किया था उसका समापन भी आचार्य की मृत्यु के साथ ही हुआ। एक विशाल संभावनाओं का अन्त हो चुका था।

गौड़ीय वैष्णव समाज के अन्यतम स्तम्भ के रूप में अतीव श्रद्धा एवं सम्मान की दृष्टि से अद्वैत आचार्य को देखा जाता है।

भक्तों के हृदय में आचार्य का वह दिव्य रूप आज भी प्रज्वलित है जिसका संकेत श्री चैतन्य ने उनके प्रिय सखा मुरारी गुप्त के समक्ष बहुत पहले ही प्रकाशित किया था—

"अद्वैत आचार्य धन्य हैं त्रिलोक में !
धन्य हैं त्रिलोक में गुसाईंजी !
मुझे उनसा प्यारा कोई नहीं दूसरा,
वे हैं जगद्गुरु, अंश उस ईश्वर के,
उनकी ही पूजा है पूजा श्रीकृष्ण की।"

★

अवधूत नित्यानन्द

वीरभूम का एकचक्र ग्राम। एक परिव्राजक संन्यासी उस दिन ग्राम के हाड़ाई पंडित के घर आकर उपस्थित हुए हैं। सिर पर जटाओं का भार, गौरकान्ति, दीर्घवपु, इन अभ्यागत को देखकर पंडित के आनन्द की सीमा नहीं है। साष्टांग प्रणाम करने के बाद उन्होने करबद्ध प्रार्थना की, "प्रभु, जब आपने आज कृपा करके दर्शन दे ही दिया है तो मुझे सेवा का अधिकार भी प्रदान करें। यहाँ मेरे आतिथ्य में आज रात बितायें।

मुस्कराते हुए, हाथ उठाकर, संन्यासी ने आशीर्वाद दिया। स्पष्ट हो गया कि रात भर के लिए आतिथ्य ग्रहण करने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं है। हाथ पैर धोकर वे आसन बिछा कर बैठ गये।

पंडित का बालक पुत्र कुबेर है, जो खेल कूद कर अभी वापस आया है। दौड़ते हुए आकर उसने अतिथि के चरणो में दण्डवत् किया।

संन्यासी अवाक्, नेत्रों से उसे देखते रहे। स्थिर दीप्तिपूर्ण नेत्रों से वे बालक की ओर एकटक देखते ही रह गये। गौर वर्ण तथा सुन्दर देह यष्ठि, रूपलावण्य से भरपूर। नेत्रों में दिव्य आनन्द की आभा है। हाड़ाई पंडित

का यह पुत्र, माया मुक्त संन्यासी को पता नहीं किस आकर्षण से आज बांधता जा रहा है ? संभवतः यह किसी जन्मान्तर का सम्बन्ध है। आज के इस साक्षात्कार की पृष्ठभूमि में संभवतः कोई गूढ़ दैवी इंगित हो ! सर्वत्यागी परिव्राजक की दृष्टि बारबार बालक की ओर आकृष्ट हो रही है।

पंडित तथा उनकी स्त्री के सेवा-यत्न में कोई त्रुटि नहीं है। अतिथि पूर्णरूपेण संतुष्ट हुए। भगवत् कथा प्रसंग एवं आनन्द में काफी समय कट गया।

दूसरे दिन प्रातः पंडित को बुलाकर संन्यासी ने जो कुछ कहा वह उनके लिये वज्रपात के समान था। कहा, "देखो बाबा, मैं नाना तीर्थों के पर्यटन के लिये बाहर निकला हूँ। मेरी अवस्था काफी अधिक हो चुकी है. तथा मेरी देखभाल करने वाला, साथ में कोई नहीं है। मैं सोच रहा हूँ कि तुम्हारे ज्येष्ठ पुत्र कुबेर को अपने साथ ले लूँ। तुम्हें चिंतित होन का कोई कारण नहीं है। पुत्र के समान मैं उसका लालन-पालन करूंगा तथा उसे तीर्थ एवं धर्म, दोनों का ही लाभ होगा, एवं कुल पवित्र होगा। इसके लिये तुम्हारी स्वीकृति चाहता हूँ।'

हाड़ाई पंडित, सिर झुकाये निस्तब्ध खड़े रहे। यह सोच कर व्याकुल हो उठे, कि ज्येष्ठ पुत्र, कुबेर उनकी आँखों का तारा है। उसे विदा करते हुए, उनका हृदय विदीर्ण हो जायगा। इसके अलावा स्वीकृति देने के अलावा चारा ही क्या है ? संन्यासी के कोप से इह-काल तथा पर-काल दोनों का ही सर्वनाश हो जायगा। हाड़ाई स्वयं भगवद्भक्त, शास्त्रज्ञ एवं धर्मपरायण हैं। थोड़ा संयत होकर वे सोचने लगे, मनुष्य अपनी क्षुद्र शक्ति से पुत्र का कितना कल्याण कर पाता है ? फिर इन शक्तिधर संन्यासी के साथ ही उसे क्यों न छोड़ दूं ? दशरथ इतने पराक्रमी तथा चक्रवर्ती राजा थे, उन्होंने भी अपने प्राणप्रिय दो पुत्रों को ऋषि विश्वामित्र को समर्पित कर डाला था।

चिंताकुल हृदय से पंडितप्रवर अपनी पत्नी पद्मावती के पास उपस्थित हुए। इस विषय में उसका भी मत ले लेना आवश्यक है। उन्होंने सन्यासी के इस अनुरोध की बात उससे कहा।

पद्मावती को कई दिन पूर्व की एक घटना स्मरण हो आयी। बालक कुबेर, एक दिन अकस्मात् गभीर ध्यान में मूर्छित हो गया, उसके उपरान्त काफी सुश्रुषा के फलस्वरूप उसे सज्ञालाभ हुआ। उत्कंठित माता के प्रश्नों के उत्तर में उसने बताया, "माँ री, पता नहीं क्यों अकस्मात् मेरी चेतना लुप्त हो गयी। उसके बाद उसी अवस्था में मैंने स्वप्न देखा—एक दिव्यकांति

महापुरुष के साथ, मैं सुदूर तीर्थस्थानों में घूम रहा हूँ। उसके बाद जो दृश्य मेरे समक्ष आये, उनका स्मरण नहीं है।"

माँ के हृदय में पुत्र की उस दिन के बात की स्मृति ने तीव्र आलोड़न उपस्थित कर डाला। उनके दुश्चिन्ता एव उत्कठा की सीमा नहीं रही। अश्रुरुद्ध कण्ठ से उन्होने स्वामी स कहा, "धर्म की ओर दृष्टिपात करते हुए, जो भी तुम स्थिर करोगे, उसी स मेरी सहमति है।"

पंडित ने अपने जीवन-सर्वस्व इस पुत्र को सन्यासी के हाथों में अर्पित कर डाला। बारह वर्ष का बालक कुबेर, इन दण्ड-कमण्डलुधारी संन्यासी के साथ, घर स बाहर निकल पड़ा। इसके बाद वह फिर वहाँ वापस नहीं आया। पर्यटन, परिव्राजन एवं अवधूत जीवन के नाना सापानों का लाँघने के बाद कुबेर एक दिन वापस आये थ, परन्तु एकचका में नहीं वरन् नवद्वीप में—प्रेमभक्ति प्रचार हेतु एक चिह्नित पुरुष के रूप में। तब उनका नाम था—नित्यानन्द अवधूत। उन दिनों श्री चैतन्य के कीर्तन-नर्तन से नदिया ओत-प्रोत था। इसी समय, शक्तिधर नित्यानन्द के आविर्भाव ने इस आनन्द के स्रोत में ज्वार उठा दिया। अद्वैत प्रभु इसी की स्तुति उस समय गा उठे थे :

तुमि से बुझाओ चैतन्येर प्रेम भक्ति,
तुमि से चैतन्येर वक्षे धर पूर्ण शक्ति।

लगता है हाड़ाई पंडित के घर, संन्यासी किसी दैवी आदेश के कारण ही उपस्थित हुए थे, तथा बालक कुबेर की जीवनधारा को श्रृंखलामुक्त कर गये। देश-देशान्तर का अतिक्रमण करते हुए, एक दिन वह चैतन्य प्रेम के समुद्र में गोता लगा गया।

× × ×

चौदहवीं सदी की बात है। एकचाका ग्राम में उन दिनों एक सम्पन्न एवं धर्मनिष्ठ ब्राह्मण परिवार निवास करता था। गृहस्वामी का नाम था, सुन्दर मल्ल, तथा वंश की उपाधि थी, बाँड़ुरी। लोग ओझा कह कर पुकारते थे। यजन-याजन तथा अध्यापन कार्य से उनकी गृहस्थी चलती थी। धन एवं प्रतिष्ठा का कोई अभाव नहीं था। परन्तु पंडित के मन में बहुत कष्ट था, संतान होकर बचती नहीं थी। बहुत पूजा-आराधना एवं शान्ति-अनुष्ठान के उपरान्त एक पुत्र का जन्म हुआ। उमा-महेश्वर के चरणों में उसे समर्पित करके, उन्होंने उसका नामकरण किया, हाड़ाई। अच्छा नाम दिया मुकुन्द बाँड़ुरी।

विद्वता एवं सच्चरित्रता के कारण यह पुत्र क्रमशः विख्यात हो उठा। वंश में वह एकमात्र पुत्र था। बाप-माँ ने प्यार से उसका अल्प वयस में ही विवाह कर डाला। संभ्रान्त वंश की, सुलक्षण कन्या पद्मावती, उनके घर वधू रूप में आयी। इसके थोड़े समय बाद ही सुन्दर मल्ल तथा उनकी स्त्री का देहान्त हो गया ?

हाड़ाई पंडित स्वयं शास्त्रविद् एवं धर्म परायण थे, एवं पत्नी भी अत्यन्त भक्तिमती थीं। व्रत-पूजा, दान-ध्यान एवं अतिथि सत्कार में उनकी अपूर्व निष्ठा थी। परन्तु लम्बी अवधि तक कोई पुत्र संतान न होने के कारण उन्हें सुख एवं शांति नहीं थी। कुछ दिनों के बाद पद्मावती ने रात्रि में एक विचित्र स्वप्न देखा। मानो उनके नयनों के समक्ष एक विराट् ज्योतिर्मय आभा बिखर गयी। एक जटा-जूटधारी, आजानुलंबित बाहुओं वाले दिव्य पुरुष, उनके समक्ष आकर उपस्थित हो गये। प्रसन्नतापूर्वक मुस्कराते हुए उन्होंने कहा, "वत्से तुम्हारी ग्लानि का अब कोई प्रयोजन नहीं है। शीघ्र ही, एक महा-शक्तिधर पुरुष, पापी-तापी जनों के उद्धार के लिये जन्म ग्रहण करेंगे। तुम व्यर्थ की चिंता न करो।" स्वप्न साकार हो उठा। १३९५ शकाब्द के माघ मास की शुक्ला त्रयोदशी को एक शुभ लग्न में शिशु ने जन्म ग्रहण किया। यही शिशु आगे चल कर गौड़ीय वैष्णव आन्दोलन का श्रेष्ठतम नायक नित्यानन्द हुआ। गौड़ीय वैष्णवों के लिये वे प्रभुस्वरूप थे।

शिशु अत्यन्त सुन्दर है, तथा जो भी देखता है, मुग्ध हो जाता है। पिता माता ने उसका नामकरण कुबेर किया। यथा समय हाड़ाई पंडित ने काफी धूम-धाम से पुत्र का अन्नप्राशन समारोह किया। यह शिशु, केवल माता-पिता का ही नहीं, वरन् पड़ोसियों के लिये भी आनन्द का स्रोत था। रूप तो अत्यन्त सुन्दर था ही, मधुर तोतली बोली में हरिनाम का उच्चारण करता। साथियों के साथ जब वह खेलने के लिये बाहर निकलता, तो माँ पद्मावती उसे मोहन के रूप में सजा डालतीं। यह उनके लिये एक व्यसन जैसा हो गया था। अपनी लाल पाड़ की नीलाम्बरी साड़ी उसे पहना डालतीं। कपाल पर श्वेत चंदन का तिलक लगातीं, तथा नेत्रों में काजल डालतीं। कुबेर घर-घर घूमता रहता, तथा जो भी उस सुन्दर बालक को देखता, बरबस प्यार करता।

क्रमशः, कुबेर बड़ा होता गया। साथियों के साथ, उसके खेल भी विचित्र होते। शास्त्र एवं पुराणों की कहानियाँ सुनने में ही उसे विशेष उत्साह था। ये ही कहानियाँ, उसके आमोद-प्रमोद एवं क्रीड़ा में भी रूपायित हो उठतीं।

अपने मित्रों के साथ, कभी रामलीला तथा कभी कृष्णलीला का अभिनय करता वह घूमता फिरता।

बालक प्रसिद्ध ब्राह्मण पंडित वंश की संतान है। बिना शास्त्रों का पारंगत हुए कैसे काम चल सकता है? मान-सम्मान एवं अर्थोपार्जन, सभी तो इसी के ऊपर निर्भर करता है। इसी दृष्टिकोण से हाड़ाई ओझा ने पुत्र को पाठशाला में भर्ती करा दिया। मेधा एवं प्रतिभा की दृष्टि से बालक अद्वितीय था। अल्पकाल में ही व्याकरण में उसकी व्युत्पत्ति हो गयी। जब उसकी अवस्था मात्र बारह वर्षों की थी, तो बालक कुबेर दुरूह न्यायशास्त्र में भी पारंगत हो गया। पंडितों ने स्नेह पूर्वक न्याय चूड़ामणि की उपाधि प्रदान कर डाली। अद्वैत प्रकाश ग्रन्थ मे इसी का उल्लेख करते हुए लिखा हुआ है—"न्याय चूड़ामणि इहार शास्त्रेर आख्याति, नित्यानन्द नाम प्रेमानन्द पुरे स्थिति।"

उसकी अवस्था मात्र बारह वर्षों की है, परन्तु कुबेर के जीवन में मानो उसी समय से एक नवीन अध्याय की सृष्टि हो रही है। खेल-कूद एवं अध्ययन से फुरसत मिलने पर अकस्मात् वह पता नहीं क्यों गंभीर हो जाता है, एवं अपने परिवेश से अपने को अनायास ही विच्छिन्न कर डालता है। विगत जन्म के सात्विक संस्कार अब जीवन के द्वार पर बार-बार आघात करने लगे हैं। संसार का तो कोई आकर्षण ही मानो उसे नहीं है।

पुत्र का यह परिवर्त्तन देख कर, माता-पिता के चिंता की कोई सीमा नहीं है। यह कैसी अद्भुत उदासीनता एवं रूपान्तर उसे ग्रस्त करता जा रहा है? दोनों ही सोचते, कि क्या पुत्र को शीघ्र ही विवाह बंधन से बांध दिया जाय? क्या, इस कार्य से, संसार से कुछ लगाव बढ़ सकेगा?

ठीक ऐसे ही समय पर, हाड़ाई ओझा के घर में संन्यासी का आकस्मिक आविर्भाव हुआ था। इसके कारण कुबेर के विरागी मन में सुप्त भावनाओं को जाग्रत होने में विशेष सहायता मिली।

अब संन्यासी के साथी के रूप में उसके परिव्राजन के अध्यायका आरंभ हुआ। दूर-दूर के पर्वतों-वनों को लांघते हुए वे दुर्गम तीर्थस्थलों की परिक्रमा करते रहे। क्रमशः कुबेर परिव्राजक जीवन को कठोरताओं के अभ्यस्त होते गये। त्याग-तितिक्षा एवं पवित्रता के माध्यम से उनके साधन जीवन की भित्ति दिन पर दिन दृढ़ होती गयी। इसी तरह वर्ष पर वर्ष बीतते चले गये। अन्ततः एक दिन कुबेर को अपने अभिभावक-संन्यासी का भी वियोग सहन करना पड़ा। अब किशोर साधक के जीवन में अकेले ही पर्यटन करने के अध्याय का श्री गणेश हुआ।

कुछ दिनों से कुबेर का अंतर दीक्षा ग्रहण करने हेतु अत्यन्त व्यस्त हो उठा है। कहाँ हैं उनके चिह्नित गुरु, तथा कब, किस शुभ मुहूर्त में वे उनके अध्यात्म जीवन के बीज का रोपण करेंगे, यही चिन्ता उन्हें दिन-प्रतिदिन व्यग्र किये रहती।

नाना तीर्थों का पर्यटन करते हुए वे वृन्दावन पहुँचे। कृष्ण लीला की मुख्य भूमि पर पहुँचते ही उनका सारा अंतर कृष्णावेश से परिपूर्ण हो उठा। कुञ्जगली के गली-कूचों में तथा जंगलाकीर्ण लीला-स्थलों में वे यत्र-तत्र, दिन-रात घूमते रहते। उनकी आर्त पुकार लगातार अंतर से निकलती रहती, कि जीवन-सर्वस्व कृष्ण-धन कहाँ हैं ? कौन उन्हें इस परम सम्पत्ति से मिलाने में सहायता कर सकेगा ? पागल प्रेमी की तरह, उन दिनों वे सारे वृन्दावन में चक्कर लगाते रहे।

अकस्मात्, एक दिन उनकी दृष्टि, बहुत से शिष्यों से घिरे, परम भागवत एक संन्यासी मूर्त्ति पर पड़ी जिनका तन-मन सदा कृष्ण से परिपूर्ण रहता। इन संन्यासी का नाम था, श्री पाद माधवेन्द्र पुरी। श्री चैतन्य लीला के सहायक ईश्वर पुरी एवं अद्वैत आचार्य इन्हीं के कृपापात्र थे।

महात्मा के दर्शन मात्र से तरुण साधक, कुबेर के सारे शरीर में भक्ति रस का ज्वार उमड़ पड़ा। भाव प्रमत्त होकर, कुछ देर में ही अपने होश ही खो दिये।

माधवेन्द्रपुरी अत्यन्त विस्मित हो उठे। कौन है यह वैष्णव जो सर्वदा कृष्ण-रस में अवगाहन करता है ? इस तरुणाई में ही इस तरह कृपा धन्य हो चुका है। उसके सारे शरीर पर अष्ट सात्विक विकार हैं तथा मुख पर अपरूप ज्योति की आभा फूट पड़ी है। धरती पर गिरे शरीर को माधवेन्द्र निर्निमेष दृष्टि से देख ते ही रह गये।

काफी देर के बाद बाह्‌य ज्ञान वापस आने पर तरुण उठ कर बैठ गया। शरीर को अश्रुधारा से भिगोते हुए उसने कहा, "प्रभु, बहुत भाग्य से आज आपके दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। कृपा करके, इस अधम का उद्धार करें। आशीर्वाद दें कि मुझे कृष्ण-प्रेम की प्राप्ति हो।"

महाप्रेमिक माधवेन्द्रपुरी ने दोनों हाथ फैला कर उसे आलिंगनबद्ध कर लिया।

उसके बाद एक शुभ-लग्न में उन्होंने इस नवीन साधक को दीक्षा प्रदान की। उसका नामकरण हुआ, नित्यानन्द। दोनों के ही नर्तन-कीर्तन से वृन्दावन

में आनन्दरस की बाढ़ आ गयी। प्रेम-भक्ति-सिद्ध महापुरुष माधवेन्द्र का पवित्र सान्निध्य लाभ करने के उपरान्त उस समय नित्यानन्द के आनन्द की सीमा नहीं रही। गद्‌गद् स्वर में बार-बार वे उनकी महिमा का कीर्तन करने लगे। भक्त कवि ने इन पुरी महाराज की प्रेम-शक्ति की प्रशस्ति गाते हुए कहा है—

> माधवेन्द्र पुरी प्रेममय कलेवर,
> प्रेममय यत सब संगे अनुचर।
> कृष्ण रस बिने आर नाहिक आहार,
> माधवेन्द्र पुरी देहे कृष्णेर विहार।[१]

माधवेन्द्र की कृपादीक्षा[२] ने इस समय साधक नित्यानन्द के जीवन में एक नया रस तरंग प्रवाहित कर डाला। कुछ दिनों तक वृन्दावन में निवास करने के पश्चात् वे पुनः पर्यटन हेतु, बाहर निकल पड़े। अब वे एक स्वेच्छा विहारी अवधूत हो चुके हैं। भावावेष में प्रमत्त होकर निकल पड़ते हैं। कृष्ण रस के ऐन्द्रजालिक माधवेन्द्र पुरी के स्पर्श से मानो उनकी सम्पूर्ण सत्ता उद्वेलित हो उठी है। वे जिस किसी पवित्र स्थान में जाते हैं, आकुल होकर मात्र यही ढूढ़ते हैं, कहाँ हैं प्राण सर्वस्व नन्द-नन्दन, कब उनके दर्शन से यह जीवन स्निग्ध एवं सार्थक होगा ?

कृष्ण विरह में व्याकुल, नित्यानन्द फिर वृन्दावन वापस लौट आये। अब वे निरंतर, भावसागर में निमज्जित रहने लगे। दिन एवं रात्रि का कोई ज्ञान नहीं है. तथा आहार एवं निद्रा का प्रयोजन भी मानो समाप्त हो गया है। वे धीरे-धीरे प्रेम-साधना के गंभीर स्तर में प्रवेश करते गये।

इसी तरह आनन्दपूर्वक, वृन्दावन में उनका समय व्यतीत हो रहा है। अकस्मात् एक दिन कृष्ण ने उन्हें स्वप्न द्वारा आदेश दिया, 'अवधूत, क्यों इस तरह व्यर्थ घूम-फिर कर समय नष्ट कर रहे हो ? गौड़ देश से नवद्वीप चले

---

१. वृन्दावन दास : चैतन्य भागवत

२. भक्तिरत्नाकर एवं अन्य ग्रन्थों में माधव सम्प्रदाय के आचार्य लक्ष्मीपति लिखित नित्यानन्द का दीक्षा दान की कथा है। परन्तु इस सम्बन्ध में कोई ठीक प्रमाण नहीं मिलता। माध्व दर्शन एवं साधन प्रणाली के साथ श्री चैतन्य प्रवर्त्तित गौडीय वैष्णव धर्म का कोई मेल नहीं है। इस कारण—

(द्रष्टव्य : साधक में मध्वाचार्य की जीवनी) नित्यानन्द के माध्व दीक्षा की बात युक्ति संगत नहीं है।

जाओ। वहाँ प्रेम-भक्ति का सुधापात्र लेकर निमाई पंडित चाण्डाल तक को परम संपदा का वितरण कर रहे हैं, उन्हीं के कार्य में अपना तन-मन-प्राण समर्पित कर डालो। भागवत् धर्म एवं भगवत्-प्रेम के प्रचार हेतु, तुम चिह्नित पुरुष हो। तुम्हारे माध्यम से यह महाव्रत उद्यापित हो उठे।

भावाविष्ठ नित्यानन्द, उसी समय उठकर बैठ गये। प्रेम-भक्ति के स्रोत का संधान अब उन्हें मिल चुका है। उसी लक्ष्य को लेकर वे बाहर निकल पड़े।

× × ×

लम्बा रास्ता तय करके नित्यानन्द नवद्वीप आ गये हैं। सर्वप्रथम, उनका नन्दन आचार्य के साथ साक्षात्कार हुआ। आचार्य की देव-द्विज एवं संन्यासियों के ऊपर अगाध भक्ति थी एवं उनकी वैष्णवीय निष्ठा भी अपूर्व थी। नित्यानन्द की देव दुर्लभ कान्ति, आजानुलम्बित बाहु एवं आयत नेत्रों को देखकर वे मोहित हो गये, और उन्हें आदरपूर्वक अपने घर में स्थान दे दिया। अतिथि की एकमात्र अभिलाषा यही थी कि वे चुपचाप एकान्त में जीवन-यापन करेंगे, इसलिये उनके निर्देशानुसार, आचार्य ने किसी को यह सूचना नहीं दी।

परन्तु नित्यानन्द के आगमन का संवाद, सर्वज्ञ गौराङ्ग के लिये अज्ञात नहीं रह पाया। कई दिनों से प्रभु भक्त-पार्षदों से यही बार बार कह रहे हैं, "तुम सभी देखोगे, शीघ्र ही नवद्वीप धाम में एक महापुरुष का आविर्भाव होगा।"

भक्तगण, जिज्ञासु होकर उनके मुँह की ओर देखते ही रह जाते। कौन हैं, ये महापुरुष, तथा उनका परिचय क्या है? उनके लिये कुछ भी समझ पाना अत्यन्त कठिन था।

कौतुकी प्रभु ने इस मसले को कुछ और अधिक स्पष्ट कर डाला। कहा, "तुम सभी एक आनन्ददायक सूचना सुनो। कल रात को मैंने एक अत्यन्त विस्मय जनक स्वप्न देखा। मोहन वेषधारी, अनिन्द्य सुन्दर एक अवधूत पुरुष सहसा मेरे सामने आकर खड़े हो गये हैं। उनके सारे शरीर से ज्योति की आभा फैल रही है। वे कह रहे हैं कि क्या मैं और वे अभिन्न हृदय नहीं हैं। साथ ही साथ उन्होंने यह भी कहा कि आज ही वे मुझे दर्शन दान करेंगे।

महापुरुष के इस प्रसंग की चर्चा करते ही प्रभु का यह कैसा रूपान्तर हो गया! भावाविष्ठ होकर वे बार-बार हुंकार करने लगे। थोड़ी देर बाद अपनी स्वाभाविक अवस्था में आते ही उन्होंने कहा, 'देखो, तुम लोग नवद्वीप धाम

में चारो ओर पता लगाओ। इन महापुरुष को शीघ्र ही खोज निकालना होगा। उन्हें देखने के लिये मैं अत्यन्त व्याकुल हो उठा हूँ।"

भक्तगण, तुरत बाहर निकल पड़े। परन्तु काफी खोजबीन करने के उपरान्त भी उनका पता नहीं चल सका।

अब गौरांग स्वयं अपने पार्षदों के साथ नगर में बाहर निकल पड़े। स्वप्न में दीखे महापुरुष के दर्शन के बिना उन्हें चैन नहीं है। नयनों में प्रेमाश्रुओं की धारा है तथा सारा शरीर पुलकित—प्रभु यन्त्रचालित जैसे नवद्वीप के राजपथ पर चले जा रहे हैं। साथ-साथ बहुत से भक्त भी चल रहे हैं। नन्दन आचार्य के घर के सामने आकर प्रभु रुक गये। उसके बाद आँगन में घुस पड़े। उनके सामने ही खड़े हैं शुभ्रकान्ति प्रेम की मूर्त्ति—नित्यानन्द। दर्शन मिलते ही प्रभु ने अपने भक्तों के साथ उन्हें साष्टांग प्रणाम निवेदित किया।

यह क्या चमत्कार है। जिस परम वस्तु के लिये अनेक तीर्थों तथा जंगल पर्वतों की वे खाक छानते रहे हैं, आज वे स्वयं ही तलाश करके नन्दन आचार्य के घर में आकर उपस्थित हैं। मात्र इतना ही नहीं, प्रभु उतावली से इतने दिनों तक नित्यानन्द की प्रतीक्षा कर रहे थे। अब उन्होंने उनके एकान्त वास को भंग करके क्षण भर में ही तो उन्हें आत्मसात् कर डाला।

आनन्द के आवेश से नित्यानन्द अधीर हो उठे। अत्यन्त उत्सुकतापूर्वक वे प्रभु के भुवन मोहन रूप को देख रहे हैं। यह रूप देख कर मानो उनकी पलके गिरने का नाम नहीं ले रही हैं। वृन्दावन दास ने इस अपरूप दृश्य का इस रूप में चित्रण किया है—

विश्वम्भर मूर्त्ति येन
मदन समान।
दिव्य गन्ध माल्य
दिव्य वास परिधान॥
कि हय कनक द्युति
से देहेर आगे।
से बदन देखिते
चांदेर साध लागे॥
देखिते आयत दुई
अरुण नयन।
आर कि कमल आछे
हेम हय ज्ञान॥

से आजानु दुइ भुज
हृदय सुपीन ।
ताहे शोभे यज्ञसूत्र
अति सूक्ष्म क्षीण ।।

गौर सुन्दर के पद्मपलाश नेत्रों की ओर देखते हुए, नित्यानन्द भावावेश में निमज्जित हो गये हैं । निर्निमेष नेत्र, तथा अवाक् वे एकदम स्थिर खड़े हैं । प्रभु ने अत्र भक्त प्रवर श्रीवास से उत्साहपूर्वक कहा, "पंडित, यदि तुम दिव्य प्रेमावेश का दर्शन करना चाहते हो, तो नित्यानन्द की उद्दीपना को जगा डालो । शीघ्र ही भागवत् से श्री नन्दनन्दन के रूप का वर्णन करो ।"

प्रभु से आज्ञा प्राप्त होते ही श्रीवास, परम आनन्दपूर्वक श्लोक पढने लगे ।—वर्हापीड़य् नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारम् ..। श्याम सुन्दर के रूप के वर्णन से नित्यानन्द का संपूर्ण शरीर आनन्द से उद्वेलित हो उठा । सारे शरीर में ही प्रेम विकार के चिह्न, अश्रु, कम्प एवं पुलकादि प्रकट होने लगे ।

थोड़ा बाह्य ज्ञान होते ही उनका नर्तन एवं कीर्त्तन शुरु हुआ । हुंकार ध्वनि से नन्दन आचार्य का गृह मुखरित हो उठा । इस अपरूप दृश्य को देख कर भक्तगण का हृदय आनन्द से परिपूर्ण हो उठा ।

धीरे-धीरे नित्यानन्द शान्त हुए । अब परस्पर कुशल क्षेम एवं प्रशस्ति के दौर का आरंभ हुआ ।

पुलकाश्रु विसर्जन करते करते नित्यानन्द ने कहा, "प्रभु, इतने तीर्थ तथा जनपदों में तुम्हारी खोज में भटकता रहा, परन्तु कहीं भी तुम्हें नहीं ढूढ़ पाया । अन्त में मुझे यह पता लगा कि तुम्हारा आविर्भाव नवद्वीप में हुआ है, और तुमने जाव के उद्धार का व्रत ग्रहण किया है । इसीलिये तो दर्शन की आशा लेकर भागता हुआ यहाँ आया ।"

प्रभु भी छोड़ने वाले नहीं थे । समागत भक्तों के सम्मुख नित्यानन्द की मर्यादा बढ़ाते हुए उन्होंने कहा—

महाभाग्य देखिलाम तोमार चरण ।
तोमा भजिले से पाई कृष्ण प्रेमधन ।।

(चैः भाः)

प्रेमावेश से विह्वल दोनों, प्रभु तथा नित्यानन्द पुलकाश्रु विसर्जित करते-करते आलिंगनबद्ध हो गये । उसी समय से नित्यानन्द, गौराङ्ग के प्रधान पार्षद हो गये, तथा नवद्वीप के प्रेम भक्ति आन्दोलन के प्रधान नियन्ता के रूप में

प्रतिष्ठित हो गये। इसी कारण वैष्णव भक्तों ने अपने प्राण सर्वस्व गौरनिताई को एक सम्मिलित भावघन विग्रह के रूप में प्रतिष्ठित किया है। इसीलिये वैष्णव कवि ने प्रेमपूर्वक गाया है—

दुई भाई एक तनु समान प्रकाश।

× × ×

दूसरे दिन ही व्यास पूजा समारोह है। यही निश्चित हुआ कि श्रीवास पंडित के घर पर, नित्यानन्द इस पूजा का अनुष्ठान करेंगे। संध्या के बाद ही, गौराङ्ग श्रीवास पंडित के आंगन में आकर उपस्थित हो गये। प्रतिदिन ही भक्तों के साथ यहाँ वे कीर्तनानन्द में मत्त हो उठते हैं। आज तो मानो उनका उत्साह सौ गुना बढ़ गया है। फाटक बन्द कर दिया गया। गौर-निताई को केन्द्रबिन्दु बना कर वैष्णव भक्तों का कीर्त्तन आरम्भ हुआ।

आज तो मानो गौराङ्ग के उद्दीपन की सीमा ही नहीं है। प्रेमावेश से शरीर थर-थर काँप रहा है। मुख से गंभीर हुंकार प्रतिध्वनित हो रहा है। अविराम उद्दाम नृत्य चल रहा है। दिव्य लावण्यमय विशाल शरीर बार-बार जमीन पर लोट पड़ता है—भक्तगण हाहाकार कर उठते हैं। अश्रु, कम्प, पुलकादि, सात्विक विकारों का प्रकाश देख कर सभी के विस्मय की सीमा नहीं है। लोगों ने इतने दिनों तक जो बात मात्र सुनी है अथवा भक्तिशास्त्रों में पढ़ी है, आज श्रीवास के आंगन में वही अपूर्व दृश्य दृष्टिगोचर हो रहा है। नृत्य की समाप्ति पर भावाविष्ठ नित्यानन्द को शान्त करके गौराङ्ग ने विदा ली।

रात हो जाने के कारण, नित्यानन्द, श्रीवास पंडित के घर पर ही रुक गये हैं। गौरांग की अद्भुत नृत्य लीला तथा भक्तगण का यह कीर्त्तन एवं जयध्वनि ने आज उन्हें उद्वेलित कर डाला है। लगता है हृदय के इस प्रेम का स्रोत जो कि शत धाराओं में फूट पड़ा है, विश्व को पूर्ण रूप से प्लावित किये बिना दम नहीं लेगा।

प्रेमाविष्ट नित्यानन्द रात्रि में एक अद्भुत काण्ड कर बैठे। संन्यासी जीवन का परम धन-दण्ड एवं कमण्डलु को अनायास ही उन्होंने तोड़ डाला। जंगलों पहाड़ों तथा अनेक तीर्थों में भ्रमण करते हुए उन्होंने अत्यन्त कठोर जीवन यापन किया है। आज उनकी चिरवाञ्छित निधि बहुत दिनों बाद मिल गयी है। अब उनके लिये नये जीवन का शुभारंभ है। प्रेम के प्रभु के साथ रह कर उन्हें प्रेम भक्ति के प्रचार हेतु व्रती होना होगा। इसीलिये तो उन्होंने दण्ड कमण्डलु का बोझ दूर फेंक दिया है।

प्रात: उठ कर श्रीवास पंडित ने विस्मयपूर्वक देखा, श्रीपाद नित्यानन्द भावावेश में संज्ञाशून्य हो रहे हैं, तथा संन्यास दण्ड एवं कमण्डलु जमीन पर बिखरे पडे हैं ।

सूचना मिलते ही गौराङ्ग शीघ्र ही वहाँ आकर उपस्थित हुए । देखा, नित्यानन्द, अर्धबाह्य अवस्था में पड़े हुए हैं, तथा शरीर से दिव्य आनन्द की ज्योति झड़ रही है । श्रीपाद की सहायता से प्रभु उन्हें स्नान घाट पर ले आये । भग्न दण्ड एवं कमण्डलु उसी समय गंगा में विसर्जित कर दिये गये । अवधूत नित्यानन्द, महाप्रेमिक नित्यानन्द में परिवर्त्तित हो गये—श्री गौराङ्ग के प्रधान पार्षद ।

भाव राज्य में विचरण करने वाले, आनन्द चंचल नित्यानन्द के कारण भक्तों की समस्या बढ़ ही गयी । गंगा स्नान हेतु गये हैं, बच्चों जैसी जलकेलि शुरु हो गयी है, और आनन्द विह्वल हो उठे हैं और इधर व्यास पूजा का समय प्राय: हो चुका है ।

गौराङ्ग किसी तरह उन्हें समझा-बुझाकर पंडित के घर पर ले आये । वहाँ पर षोड़शोपचार पूजा का आयोजन है । आँगन में प्रभु भक्तों के साथ कीर्तनानन्द में विभोर हैं, और घर के भीतर नित्यानन्द व्यासपूजा के आसन पर बैठ गये हैं । पूजा की समाप्ति पर माला अर्पण करके प्रणाम निवेदित करना होगा, परन्तु नित्यानन्द को तो जैसे होश ही नहीं है । आवेश-विह्वल हृदय से माला हाथ में लिये वे बैठे हुए हैं ।

श्रीवास बार-बार व्यग्रतापूर्वक कह रहे हैं, "श्रीपाद, व्यासदेव को माला अर्पित कर के अब आप पूजा समाप्त करें ।"

उनकी कोई भी बात नित्यानन्द के कानों में नहीं पहुँच पा रही है । पूर्णत: भावाविष्ठ हैं । इधर-उधर देखते हुए पता नहीं किसे खोज रहे हैं ।

कोई अन्य उपाय न देख कर श्रीवास पंडित, गौराङ्ग को बुला कर ले आये । कहा, "देखो प्रभु, तुम्हारे नित्यानन्द, पूजा समाप्त ही नहीं करने दे रहे हैं । अब माला एवं अर्घ्य देने की बात है, परन्तु वह तो उनके हाथों में ही पड़ी हुई है । तुम अब आकर, जो करना हो करो ।"

प्रभु को नृत्य-गीत बन्द करना पड़ा । जल्दी ही वे पूजा घर में घुस पड़े । वेदी के सामने जाकर उन्होंने कहा, श्रीपाद, यह क्या कर रहे हो तुम ? माला को हाथ में लेकर इस तरह चुपचाप बैठे क्यों हो ? अब व्यासदेव को भक्तिपूर्वक अर्घ्य दो ।"

अवधूत नित्यानन्द भावविभोर हो रहे हैं। चेहरे पर एक अपूर्व आनन्द की ज्योति फैल गयी। वहुवांछित प्रभु उनके सम्मुख खड़े हैं। हाथ की यह माला उन्हें न पहना कर और किसे निवेदित करेंगे ? परमानन्दपूर्वक उन्होंने गौर-सुन्दर के गले में वह माला पहना डाली। समवेत भक्त कण्ठों की जय ध्वनि से सारा परिवेश मुखरित हो उठा।

माला प्रदान के साथ ही साथ, निताई, आनन्द एवं विस्मय से हत्वाक हो उठे। प्रभु के उस नयनाभिराम प्रेममधुर रूप के बदले यह कैसी अलौकिक ऐश्वर्यमय मूर्त्ति ! इस ऐश्वर्य एवं विभूति को देख कर वे मूर्छित हो पड़े। थोड़ी ही देर बाद, विभूति लीला का संवरण करके गौराङ्ग उनसे कहने लगे—

ये कीर्तन निमित्त करिला
अवतार।
से तोमार सिद्ध हैल
किबा चाह आर॥
तोमार से प्रेमभक्ति
तुमि प्रेम मय।
बिने तुमि दिले कारो
भक्ति नाहि हय॥
आपना संबरि उठ
निज जन चाह॥
याहारे तोमार इच्छा
ताहारे बिलाह॥

प्रभु गौराङ्ग के प्रेमधर्म प्रचार के प्रधान एवं चिह्नित परिकर उपस्थित हैं। अब वे स्वेच्छापूर्वक नाम-प्रेम-धन लुटाते फिरेंगे।

हाथ जोड़ कर भक्ति गद्‌गद् कण्ठ से अवधूत नित्यानन्द सभी के समक्ष गौराङ्ग की स्तुति गान करने लगे।

× × ×

एक तो यों ही नित्यानन्द एक महाप्रेमिक पुरुष हैं, इसके अलावा अंतर में प्रेमावतार गौरांग का दिव्य स्पर्श लग चुका है। इसी कारण दिव्य भाव के प्रवाह की उत्ताल तरंगे उन्हें नित नई लीलाओं के माध्यम से नचाती जा रही हैं। इस प्रमत्त अवस्था में उन्हें स्थिर करके रखेगा कौन ? चैतन्य भागवत् की भाषा में उन दिनों वे—

अहर्निश भावावेशे
परम उद्दाम ।
सर्व नदियाय बुले
ज्योतिर्मय धाम ।।

निमाई अपराह्न में अपने घर में विश्राम कर रहे हैं। ऐसे समय में अवधूत नित्यानन्द एकदम नंगे वहाँ आकर उपस्थित हो गये। उस समय वे प्रेमावेश में मतवाले हो रहे थे। दोनों नेत्रों से लगातार पुलकाश्रु झड़ रहे थे। कभी अट्टहास कर उठते हैं, तो कभी उल्लासपूर्वक प्रभु के आँगन में नृत्य कर रहे हैं। नृत्यपरायण इस दिगंबर पुरुष को देख कर घर की औरतें लज्या से पलायन कर गयीं। निमाई विश्राम कर रहे थे, परन्तु जल्दी-जल्दी बाहर निकल आये। प्रेमोन्माद से ओत-प्रोत नित्यानन्द को शांत करने में अधिक समय नहीं लगा। अपने सिर पर लिपटे वस्त्र को उन्होंने संभाल कर उनकी कमर में बाँध दिया। अपने हाथों से उन्हें चन्दन चर्चित किया तथा गले में एक सुगन्धित पुष्पों की माला पहना दी। इसके बाद उन्होंने अवधूत की अपूर्व स्तुति आरंभ की—

नामे नित्यानन्द तुमि
रूपे नित्यानन्द।
एई तुमि नित्यानन्द
राम मूर्तिमन्त ।।
नित्यानन्द — पर्यटन
भोजन व्यवहार।
नित्यानन्द बिने किछु
नाहिक तोमार ।।
तोमार बुझिते शक्ति
मनुष्येर कोथा ?
परम सुसत्य-तुमि
यथा कृष्ण तथा ।।

मात्र इतने पर ही वे नहीं रुके। भिक्षा माँगी, "श्रीपाद्, मेरी बड़ी अभिलाषा है – कृपा करके अपना एक कौपीन मुझे दान करो।"

नित्यानन्द का कौपीन मंगाया गया। गौरांग ने उसके टुकड़े-टुकड़े करके बिखेर दिया। भक्तगण विस्मित एवं व्याकुल होकर प्रभु का यह काण्ड देख रहे

थे । अब उन्होंने सभी को संबोधित करते हुए कहा, "तुम सभी इस पवित्र वस्त्र के टुकड़ों को सिर पर धारण करो । नित्यानन्द कृष्णरसमय हैं । उनकी कृपा के फलस्वरूप तुम सभी में कृष्ण भक्ति का उदय होगा ।"

प्रभु के आदेश का भक्तों ने उल्लासपूर्वक पालन किया, उसके बाद सभी ने नित्यानन्द का पादोदक लिया । परन्तु अवधूत पूर्ववत् प्रेमाविष्ठ एवं मौन धारण किये हुए हैं और मुस्करा रहे हैं ।

नवद्वीप के वैष्णव समाज में प्रभु श्री गौराङ्ग ने उस दिन नित्यानन्द की महिमा का इस तरह मूल्यांकन कर डाला था । भक्तों को यह समझने में विलम्ब नहीं हुआ कि अवधूत नित्यानन्द मात्र प्रभु के प्रधान पार्षद ही नहीं हैं वरन् अभिन्न हृदय सखा एवं प्रधान सहकर्मी भी हैं ।

× × ×

गौराङ्ग प्रेमधर्म एवं नाम कीर्तन यज्ञ के प्रवर्त्तक थे । जीव के उद्धार के व्रत को उन्होंने ग्रहण किया था । समर्पित भक्तों की जमात भी उनके चारों ओर कम नहीं थी । परन्तु इतने दिनों तक उनके प्रेम-धर्म-वाहिनी पूर्णाङ्ग नहीं हो पायी थी । अभी उनके अभि यात्रा मार्ग में इन प्रधान सहकारी की नितान्त आवश्यकता थी । अवधूत नित्यानन्द के आविर्भाव से वह अभाव आज दूर हो चुका है । अब यात्रा के आरंभ की बारी है ।

नवद्वीप की गली-गली में निताई ने प्रबल उत्साह से नाम प्रचार का शुभारंभ कर दिया है । नगर के लोग काना-फूसी करते रहते—ये निमाई पंडित कौन हैं एवं उनके साथियों के कीर्तन नर्तन से लोग बच नहीं सकते, इसके अलावा, यह दिव्यकान्ति, शक्तिधर साधक कहाँ से आकर जुट गया ? कौन है यह प्रेमधन मूर्त्ति अवधूत ?

इसके बाद से नित्यानन्द श्रीवास पंडित के घर में निवास करने लगे। सर्वबन्धनमुक्त आनन्दमय महापुरुष, तथा भाव भी सदा बालकवत् बाल चापल्य तथा आनन्दरस से सदा उफनते रहते । श्रीवास की स्त्री मालिनी देवी को निताई माँ कह कर पुकारते थे । इस बत्तीस वर्ष के बालक को लेकर मालिनी देवी के परेशानी की भी सीमा नहीं थी । चंचलता एवं हठ के नाना अत्याचार उन्हें सहन करने पड़ते । निताई, अपने हाथ से कुछ खाते भी नहीं हैं, इसलिये मालिनी देवी को उन्हें खिलाना भी पड़ता है । भक्तिनिष्ठ श्रीवास पंडित की दृष्टि में निताई अत्यन्त दुर्लभ धन हैं । कृष्ण ने कृपा करके उनसे मिला दिया इसके अलावा प्रभु के श्रीमुख से वे नित्यानन्द के स्वरूप का माहात्म्य सुन

चुके हैं। इस घर में ये महापुरुष अधीष्ठित है, यह उनके लिये परम सौभाग्य की बात है।

प्रभु ने एक दिन कौतुक करते हुए श्रीवास से कहा, "पंडित, तुम यह सब क्या कर रहे हो? अज्ञात जाति-कुल के इस अवधूत को तुम घर में क्यों रख रहे हो? इसके जाति अथवा कुल का कोई ठिकाना है? शीघ्र ही इसे राम-राम करके विदा करो।"

यह प्रभु की एक परीक्षा मात्र है, यह समझने में श्रीवास को विलम्ब नहीं हुआ। उन्होंने हँस कर कहा, "प्रभु, तुम्हारी छलना से मैं पूरी तरह अवगत हो गया हूँ। जो तुम्हें एक दिन के लिये भी प्रेम करता है, भक्ति करता है, वह मेरे लिये प्राण प्रिय हो जाता है। और श्रीपाद नित्यानन्द तो तुम्हारे अभिन्न स्वरूप ही हैं, वे तो मेरे लिये प्राणों से भी प्रिय हैं। मेरे लिये इस तरह की परीक्षा क्यों, प्रभु?"

नित्यानन्द के माहात्म्य को श्रीवास काफी हद तक समझ गये हैं, यह जान कर, उस दिन प्रभु के आनंद की सीमा नहीं रही। मुस्कराते हुए, उन्होंने वर प्रदान किया, "श्रीवास, आज मैं तुम्हारे ऊपर अत्यन्त प्रसन्न हूँ। मैं कह देता हूँ कि तुम्हारे घर मे कभी दारिद्र्य नहीं रहेगा साथ ही तुम्हारे स्वजनों की मेरे ऊपर अचला भक्ति रहेगी!

शची माता के लिये भी निताई एक अमूल्य निधि हैं। गौराङ्ग ने स्वयं उनसे निताई का परिचय देते हुए कहा, "माँ, यह तुम्हारा खोया हुआ लड़का विश्वरुप है।" बहुत दिनों से दबा हुआ निश्वास माँ के हृदय से निकल पड़ा। अश्रुसजल नेत्रों से उन्होंने नित्यानन्द से पूछा, "बेटा, क्या सचमुच तुम मेरे विश्वरुप हो?"

वृद्धा को आश्वासन देते हुए निताई ने कहा, "हा माँ, मैं ही तो तुम्हारी सन्तान हूँ।"

निमाई एवं निताई—इन दोनों को लेकर शची के आनन्द एवं गर्व का सीमा नहीं है। निताई नये-नये ही आये हैं, अवश्य, परन्तु दो दिनों में ही उनके परम प्रिय हो उठे।

गौराङ्ग के भक्तों की संख्या उन दिनों बढ़ती ही जा रही है तथा उनका समाज विस्तृत होता जा रहा है। प्रभु ने अब निताई एवं हरिदास को बुलाकर कहा, आज से तुम दोनों मेरे जीव उद्धार के कार्य मे सहायक हो। देश मे पाप, अनाचार तथा शुष्क धर्माचरण फैल गया है। सभी के घर-घर

जाकर तुम कृष्ण नाम का वितरण करो। यह कार्य तुम दोनों के अलावा और कौन कर सकेगा ? पंडित—मूर्ख, साधु—असाधु सभी के पास तुम लोग इस भुवन मंगल नाम के वाहक बनो।"

प्रभु का निर्देश पाकर, नित्यानन्द बहुत खुश हैं। ईश्वर निर्दिष्ट व्रत के रूप मे उन्होंने इस कार्य को ग्रहण किया। नवद्वीप के घर-घर, गली-गली मे वे सब के साथ हरिनाम का वितरण करने लगे। उनके प्रधान सहायक हुए नामाचार्य यवन हरिदास।

दोनों के ही शरीर पर संन्यासी का परिधान रहता। दीर्घाकार शरीर तथा दिव्य लावण्य भरे रूप को देखकर सभी को परम तृप्ति होती। गंभीर स्वर मे नाम कीर्तन सुन कर भक्त जन धन्य हो उठते।

उन दिनों अधार्मिक एवं वैष्णव द्वेषियों की संख्या भी नवद्वीप में काफी अधिक थी। नाम प्रचारक इन दोनों संन्यासियों को देख कर कोई अवहेलना करता तो कोई टिटकारी मारता तथा कोई मारने को भी दौड़ता। परम-भागवत नित्यानन्द पर इन बातों का कोई असर भी नहीं पड़ता। हरिदास को साथ लेकर वे सारे नगर में घूमते रहते तथा रो रो कर सभी से कहते, "भाई कृपा करके एक बार कृष्ण नाम का उच्चारण करो, तथा हमको बिना मूल्य के खरीद लो।"

जगन्नाथ और माधव नवद्वीप के दो प्रभावशाली व्यक्ति थे। इन्हीं के ऊपर नगर की शांति रक्षा का भार था। जिस तरह अर्थ एवं सामर्थ्य का उन्हें अभाव नहीं था, उसी तरह अत्याचार एवं पापाचार की भी उनके अन्दर कमी नहीं थी। दोनो भाई सर्वदा शराब के नशे मे चूर रहते। भक्त वैष्णवों को देखते ही वे उनका उपहास करते तथा असम्मान एवं अत्याचार करने में भी उन्हें देर नहा लगती। सारी नदिया इन दोनों के डर से कांप उठती थी।

निताई एवं हरिदास इन दोनों की कुकीर्त्ति की बहुत सी बातें सुन चुके थे। दोनों मतवालों का हो-हल्ला भी कई बार वे दूर से देख चुके थे।

निताई सोचने लगे, पापियों के उद्धार के लिये ही गौराङ्ग का आविर्भाव हुआ है। परन्तु कृपा दान के लिये इससे बड़ा पातकी प्रभु को कहाँ मिल पायगा ? उनकी शक्ति-विभूति की कोई लीला न देख पाने के कारण ही तो लोग इस तरह उपहास करते हैं। यदि जगाई-मधाई का परिवर्तन संभव हो सके तो सभी प्रभु के प्रभुत्व को समझ सकेंगे, और उनका जय गान करेंगे।

निताई ने उस दिन परम-भागवत् हरिदास से कहा, 'भाई हरिदास, इन दोनों पापियों की दुर्गति तो तुम देख ही रहे हो। हरि नाम गान के अपराध में, मुसलमान काजी के आदेश से, तुम्हारे ऊपर कितना भीषण अत्याचार हुआ था। परन्तु तुम तो उन लोगों के लिये अपनी शुभेच्छाएँ ही व्यक्त करते रहे। अब तुम अपने अन्तर से जगाई-मधाई के उद्धार का संकल्प करो। शीघ्र ही प्रभु इन पर कृपा करेंगे। इस कार्य के संपन्न हो जाने पर, देशवासी प्रभु के माहात्म्य एवं प्रभाव को समझ सकेंगे।"

हरिदास ने हँसते हुए कहा, "श्रीपाद, यह बात तुम्हारे मुँह से अच्छी नहीं लगती। तुम्हारी इच्छा तो प्रभु की ही इच्छा है, यह मुझे पूर्ण रूप से ज्ञात है। तुमने जब एक बार सोच लिया है कि जगाई-मधाई का उद्धार होने से कल्याण होगा, तब प्रभु की कृपा से उन्हें वंचित करने में कौन समर्थ है ?"

दोनों ही उस दिन साथ-साथ, जगाई-मधाई के निवास के निकट उपस्थित हुए। उद्दत्त स्वर में हरिनाम कीर्त्तन शुरु हुआ। सारा काण्ड देख कर सभी अवाक् रह गये। ये दोनों संन्यासी क्या पागल हो गये हैं, या मरने की उनकी लालसा हो रही है ? कौन-सा घृणित कार्य अथवा हिंसा का कार्य ये दुरात्मा नहीं कर सकते ? कोई-कोई सामने आकर उन्हें सतर्क भी कर गये, "क्यों भाई जान-बूझकर इन बदमाशों को गुस्सा दिला रहे हो ? तुम लोगों को क्या प्राणों का मोह नहीं है ?"

हरिदास को साथ लेकर नित्यानन्द बढ़ते ही गये। सामने ही मूर्तिमान यमदूत के सदृश जगाई और मधाई खड़े हैं। अधिक शराब पी लेने के कारण दोनों आँखें लाल हो रही हैं तथा हाथ में लाठी है। उत्तेजित होकर कृष्ण नाम-रत दोनों संन्यासियों की ओर वे दौड़ पड़े। कौतुकी नित्यानन्द को समझ पाना भी कठिन है। वृद्ध हरिदास को खींचते हुए वे वहाँ से तीव्र गति से भाग खड़े हुए।

राजपथ पर उस समय तक भगदड़ मच गयी थी। वैष्णव संन्यासी, किसी तरह प्राण बचा कर भाग गये हैं, यह जान कर सभी ने चैन की साँस ली। व्यंग करने वाले लोगों की भी कमी नहीं थी। वे कहते, "इन दोनों पापिष्ठों को आखिर इस तरह छेड़ने से क्या लाभ निकला, और फिर जब इन्हें छेड़ कर गुस्सा दिला ही दिया तो यह भागना क्यों ?"

लीलामय नित्यानन्द का असली स्वरूप, उनके सहकारी, हरिदास के लिये अज्ञात नहीं था। अब बनावटी क्रोध दिखलाते हुए वे कहने लगे, "बीच बाजार

में बेतों की मार सहन किया है। जल में डूब कर भी रक्षा की है। इतना अत्याचार सहन करने के पश्चात् भी प्राण किसी तरह बचे थे। परन्तु आज देखता हूँ, कि चंचल अवधूत का साथी बन कर उसे भी खोना होगा!"

कौतुकी नित्यानन्द जगाई-मधाई के उद्धार की पृष्ठभूमि का सृजन कर रहे हैं। इस लीला के लिये गौराङ्ग के आविर्भाव एवं करुणा की आवश्यकता है। ऐसा न होने पर उनके अलौकिक शक्ति का परिचय लोगों को किस तरह मिल सकेगा? उनके प्रभुत्व की प्रतिष्ठा जन साधारण में कैसे हो सकेगी? पहले वे इन दोनों दुरात्माओं के अत्याचार की बात प्रभु के कानों तक पहुँचा देना चाहते हैं। उसके बाद एक बड़े संकट की सृष्टि करके उन्हें इस पातकी उद्धार की लीला में अवतरित करा देना चाहते हैं।

अपने मनोभाव को उन्होंने नितान्त गुप्त ही रखा। हरिदास से उन्होंने रूठते हुए कहा, "मेरी चंचलता को दोष देने से क्या लाभ होगा! एक बार अपने प्रभु की बात भी तो सोच कर देखो। सात्विक ब्राह्मण की संतान होकर उन्होंने राजसिक वृत्ति धारण कर रखा है। परिकरों पर आदेश जारी कर डाला है, कि घर - घर कृष्ण नाम वितरण करते हुए घूमना होगा। उनके इस आदेश का उल्लंघन करने से भी काम नहीं चलने का, साथ ही दुरात्माओं के पास जाकर हम लोगों के प्राण संकट में पड़ जायेंगे। इसीलिए कहता हूँ, हरिदास, मुझे न दोष देकर एक बार अपने का काण्ड भी एक बार देख लो।"

उस दिन गौराङ्ग, भक्तजनों के साथ, इष्ट गोष्ठी कर रहे थे। नित्यानन्द तथा हरिदास दोनों ही असफल दूतों की तरह वहाँ जाकर उपस्थित हुए। नित्यानन्द ने जगाई-मधाई के नाना दुष्कर्मों की बात और आज अपने पलायन की बात का विस्तारपूर्वक वर्णन किया। इसके उपरान्त कहा, "प्रभु, तुम नवद्वीप के इन दो महापापियों के समक्ष कृष्ण नाम लेने को कहो, तभी तो लोग तुम्हारे माहात्म्य को समझ पायेंगे। जो धार्मिक हैं वे तो अपने स्वभाववश ही नाम कीर्तन के लिए अग्रसर हो जाते हैं। परन्तु जो चरम पातकी हैं, उन्हें भक्ति मार्ग पर ले आओ तभी तो तुम्हारा पतितपावन नाम सार्थक होगा।"

प्रेमावतार नित्यानन्द के इस अनुरोध को टालने का कोई उपाय नहीं था। प्रभु को जगाई-मधाई उद्धार के लिये वचन देना पड़ा :

हासि बोले विश्वम्भर—
हइल उद्धार।
येइक्षणे दरशन
पाइल तोमार॥

विशेषे चिन्तह
तुमि एतेक मंगल।
अचिरात् कृष्ण तार
करिबे कुशल ॥

प्रेम भिखारी नित्यानन्द नदिया के मार्गों पर घूमते रहते, तथा साधु-असाधु, भक्त-अभक्त सभी के दरवाजे पर जाकर खोज-खोज कर नाम-प्रेम का दान करते। एक दिन कीर्तन-परिक्रमा करके वे लौट रहे थे। साथ में थे, उनके सहकारी हरिदास। दोनों ने ही देखा, नजदीक ही शराब के नशे में चूर दोनों भाई जगाई-मधाई इधर-उधर घूम रहे हैं। आज इनके उद्धार के लिये निताई कृत संकल्प हैं। दोनों हाथ उठा कर, नाच-नाच कर वे उच्च स्वर में नाम संकीर्तन करने लगे।

दोनों पापी अत्यन्त क्रोधित एवं उत्तेजित होकर दौड़ पड़े। यह तो निमाई पंडित का साथी, वही अवधूत है—क्या दिन हो अथवा रात पतले स्वर में हरिनाम चीखता हुआ, लोगों की शांति भंग करता है। जगाई-मधाई, दोनों ही हरिनाम के विरोधी हैं, यह बात वह अच्छी तरह जानता है, तब भी उसे कोई भय अथवा डर नहीं है! इतनी मजाल तो सारे नवद्वीप में किसी को नहीं है। मधाई क्रोध से अपना संतुलन खो बैठा। निताई के माथे पर उसने जोर से एक फूटी हुई हांड़ी दे मारा।

आघात के फलस्वरूप, निताई के माथे से रक्त की धार बह चली। एक हाथ से उन्होंने फटे हुए स्थान को दबा कर कृष्ण नाम का कीर्तन जारी रखा। राहगीर करुण दृष्टि से इस अद्भुत दृश्य की ओर देख रहे हैं। परन्तु, इस काण्ड में हस्तक्षेप कर सकें, ऐसा दुस्साहस किसे है? पापियों से एक बार झगड़ा कर लेने पर कोई निस्तार नहीं है। परन्तु मधाई की हठवादिता से जगाई अत्यन्त चंचल हो उठा। इस संन्यासी ने ऐसा तो कोई अपराध किया नहीं। इसके अलावा व्यक्तिगत रूप से दोनों भाइयों की उसने क्या क्षति की है? मधाई इतना निष्ठुर न भी होता तो काम चल सकता था। निताई के सीने से रक्त बहता जा रहा है, परन्तु उनके मुख पर कोई विकार अथवा वैलक्षण्य नहीं है। दिव्य कान्ति पुरुष के दोनों नेत्रों से अंतर को स्पर्श कर देने वाली करुणा की धार बह रही है। इस प्रेमिक संन्यासी में कौन सी ऐसी मोहिनी शक्ति है, कि जगाई उसके अमोघ आकर्षण से उसी क्षण बँध सा गया।

उत्तेजित मधाई निताई को दुबारा मार पाता, इससे पूर्व ही जगाई ने उसे दौड़ कर पकड़ लिया। उसने दृढ़ स्वर में कहा, "अरे, क्यों इस बाहरी

संन्यासी को इतनी निष्ठुरता से मार रहा है ? अब रुक जा।" मधाई को रुकना ही पड़ा और इस तरह नित्यानन्द एक प्राणघाती आघात से बच गये।

इस बीच गौराङ्ग के पास भी इस हंगामे की खबर पहुँच चुकी थी। उन्हें ज्ञात हो गया कि मधाई की मार से नित्यानन्द आहत हो चुके हैं और उनके सिर से रक्तस्राव हो रहा है। भक्तों के साथ, वे उसी समय दौड़ते हुए घटना स्थल पर आकर उपस्थित हो गये।

प्राण सम, निताई आहत हो गये हैं। चोट की जगह से झरझर रक्त निकल। रहा है। इस दृश्य को देख कर उस दिन गौराङ्ग के धैर्य का बांध टूट पड़ा क्रोध के कारण उनके मुख से हुंकार निकल पड़ा। आज वे इन पापियों को चरम दण्ड दे ही डालेंगे।

निताई ने जल्दी से दौड कर उनका हाथ पकड़ लिया। प्रेम-विगलित स्वर में उन्होंने कहा, "प्रभु शांत हों, मधाई ने यह काण्ड किया है, परन्तु जगाई तो निरपराध है। वरन्, उसकी सहायता से ही मेरी प्राण रक्षा हुई है। सच कहता हूँ, प्रभु, इस आघात एवं रक्तपात से मुझे कोई कष्ट नहीं हुआ है। कृपा करके मुझे जगाई तथा मधाई की भिक्षा दे दो।"

तब तक जगाई के प्रति प्रभु की करुणा का उदय हो चुका था। उसी ने तो परम प्रिय नित्यानन्द के जीवन की रक्षा की है! फिर आज उसको प्रभु के लिये अदेय कुछ नहीं है। प्रेमपूर्वक, दोनों हाथ बढ़ा कर उन्होंने जगाई का आलिंगन करते हुए कहा, "जगाई, तुमने आज मेरे प्राण सर्वस्व नित्यानन्द के जीवन की रक्षा करके मुझे खरीद लिया है। आशीर्वाद देता हूँ कि कृष्ण-कृपा की तुम्हारे ऊपर वर्षा होती रहे। आज से तुम्हें भक्ति का लाभ हो।"

प्रभु की महिमा तथा वरदान दोनों ही अपूर्व था। समवेत पार्षद एवं भक्तगण, जय ध्वनि कर उठे। गौराङ्ग के दिव्य स्पर्श मात्र से जगाई के शरीर में अद्भुत प्रेमावेश दृष्टिगोचर होने लगा। वह उसी समय मूर्छित होकर जमीन पर गिर पड़ा।

अब तक मधाई के हृदय में भी तीव्र पश्चात्ताप की अग्नि प्रज्ज्वलित हो उठी। वह अधिक धैर्य नहीं रख पाया एवं अश्रुपूरित नेत्रों से उसने प्रभु के चरण पकड़ लिये। कहने लगा—दोनों भाइयों ने इतने दिनों तक एक साथ ही पाप किया है, परन्तु आज क्यों कृपा-वितरण के समय आपका यह दो तरह का व्यवहार ? इसके अलावा, मधाई ने अधर्माचरण किया है, अवश्य, परन्तु दयामय प्रभु अपना व्यक्तिगत धर्म, दया धर्म, क्यों छोड़ रहे हैं ?"

परन्तु मधाई के इस क्रन्दन एवं विनती से प्रभु टस-से-मस नहीं हो रहे हैं। उन्होंने उससे कहा, "मधाई, तुम्हारे अपराध की कोई सीमा नहीं है। परम भागवत एवं मेरे अभिन्नहृदय नित्यानन्द का तुमने रक्तपात किया है। अगर श्रीपाद कृपा करके तुम्हें स्वयं ही क्षमा कर डालें तभी तुम्हारी रक्षा हो सकती है। तुम उन्हीं के चरण पकड़ो।"

मधाई के पैर पकड़ते ही, निताई ने उसे दोनों हाथ बढ़ा कर उठा लिया और प्रेमालिंगन में आबद्ध करते हुए उसके सारे अपराधों को क्षमा कर डाला। अब प्रभु की कृपा का वर्षण करा कर दोनों महापापियों को शुद्ध कर लेना होगा। निताई ने सानुनय उनसे कहा—

कोन जन्मे थाके यदि
आमार सुकृति।
सब दिनु माधाईरे
शुनह निश्चित॥
मोरे यत अपराध
किछू तार नाई।
माया छाड़ कृपा कर
तोमार माधाई॥ (चै. भा.)

अवधूत नित्यानन्द का यह कैसा क्षमासुन्दर रूप, और यह कैसी परम-मधुर प्रेम-लीला! भक्तगण पुलकांचित देह और अनिमेष दृष्टि से उनकी ओर देख रहे हैं। समवेत कण्ठों की आनन्द ध्वनि के मध्य, गौराङ्ग ने अब मधाई को आलिंगनबद्ध कर डाला, और उसे प्रेम-भक्ति दान कर कृतार्थ कर डाला। जगाई-मधाई को आत्मसात् कर डालने की लीला ने उस दिन अवधूत नित्यानन्द के प्रभाव को नवद्वीप के भक्तगणों के समक्ष उद्घाटित कर डाला।

× × ×

क्षमा और आश्वासन पा जाने से ही क्या होता है, मधाई का हृदय नित्य तीव्र पश्चात्ताप से दग्ध होता रहा। एक दिन नित्यानन्द के दोनों पैर पकड़ कर उसने कहा, "प्रभु, मैं इतना नीच हूँ कि तुम्हारे दिव्य अंगों पर आघात करके रक्त बहाया है। मेरे इस पाप का प्रायश्चित किस तरह होगा, कृपा करके यह भी तो बता डालो।" नित्यानन्द के चरणों में शरण लेकर, वह बार-बार उनकी महिमा की स्तुति कर रहा है।

दयालु निताई ने अश्रुपूरित नेत्रों से उसकी ओर दृष्टिपात किया। अपने दिव्य शरीर के आलिंगन से उसे आबद्ध करते हुए कहा—

शिशु पुत्रे मारिले कि
बापे दुःख पाय।
एई मत तोमार
प्रहार मोर गाय॥
तुमि कारिले स्तुति,
इहा देई शुने।
सेई भक्त हइबेक
आमार चरणे।
आमार प्रभुर तुमि
अनुग्रह पात्र।
आमाते तोमार दोष
नाहि तिल मात्र॥
ये जन चैतन्य भजे
सेई मोर प्राण।
युगे युगे आमि तार
करि परित्राण॥ (चैः भाः)

प्रेमावतार नित्यानन्द के आलिंगन एवं आश्वासन को पाकर, मधाई के मानो प्राण बच गये। उसके हृदय के ऊपर से मानो एक विशाल पत्थर हट गया। उसने निताई के चरणों में निवेदन किया, "दयालु प्रभु, तुमने तो मुझे अपने बाहु पाश में जकड़कर आज उद्धार कर डाला। परन्तु अनेक वर्षों तक जो मैंने इतने लोगों की हिंसा की है, कितने अपराध किये हैं, उसकी तो कोई सीमा एवं गिनती नहीं है। मैं उन लोगों को आज पहचान भी नहीं पाऊँगा! उनके समक्ष मैं अपनी क्षमा प्रार्थना किस तरह प्रकट कर सकूँगा? कृपा कर मेरे लिये इसका विधान बता दो प्रभु।"

नित्यानन्द ने उपाय भी बता दिया। "मधाई, तुम आज से सर्वअपराध भंजनकारी गंगा की सेवा कार्य का आरम्भ करो। गंगा के घाटों पर हजारों मुक्तिकामी भक्तों का समावेश होता है। उनके लिए एक घाट का निर्माण कर डालो, तथा दिन-रात गंगा तीर पर निवास करके भक्तों का पदरज एवं आशीर्वाद ग्रहण करो।"

मधाई ने इस उपदेश का पालन करने में विलम्ब नहीं किया। अपने हाथ में एक कुदाली लेकर, वह घाट निर्माण का व्रती हो गया, तथा गंगा तट पर

आगत भक्तों की सेवा में उसने अपना जीवन उत्सर्ग कर डाला। अपने द्वारा निर्मित इस घाट पर मधाई प्रतिदिन उषाकाल में उठ कर स्नान करता, तथा दो लाख नाम-जप समाप्त करता। उसके बाद स्नानार्थियों के चरणों में भक्तिपूर्वक प्रणत होकर, कातर स्वर में निवेदन करता—

ज्ञाने वा अज्ञाने यत करिनु अपराध
सकल क्षामिया मोरे करह प्रसाद।

इसी घाट पर बैठ कर उसने एक कठोर-तपा ब्रह्मचारी के रूप में ख्याति अर्जित की। आज भी नवद्वीप में 'मधाई का घाट', पाखंडी मधाई के इस दिव्य रूपान्तर की पवित्र स्मृति को हृदय में सँजोए हुए है।

कौतुकी प्रभु, भक्तों के समक्ष अवधूत नित्यानन्द की महिमा के प्रचार के लिये व्यग्र हैं। मुस्कराते हुए उन्होंने कहा, "मुरारी, तुम्हारे प्रणाम का तरीका आज दूसरी तरह देख रहा हूँ।"

"प्रभु, सब तुम्हारी ही लीला है। तुमने जिस तरह से दिखाया और समझाया, उसी के अनुरूप तो मुझे आचरण करना पड़ा। तुम्हीं ने तो स्वप्न में आविर्भूत होकर दिखला दिया—कि नित्यानन्द तुम्हारे ज्येष्ठ हैं।

समवेत भक्तों को सुनाते हुए स्नेहपूर्वक गौराङ्ग ने कहा, "मुरारी, तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो, इसीलिये तो नित्यानन्द के तत्व को समझने का अधिकार तुम्हें मिला है।"

× × ×

प्रभु के कर्मलीला एवं कृपालीला के प्रधान सहकारी थे नित्यानन्द। क्रोध रहित, परमानन्द रूपी इन विराट् पुरुष के कीर्तन रस से सम्पूर्ण नदिया प्लावित था। मनुष्यों के घर-घर वे प्रेम-भक्ति का भोग लेकर घूमते रहते। उन्होंने प्रभु द्वारा प्रवर्तित मंडली के संगठन को धीरे-धीरे पूर्णाङ्ग बना डाला। यह विराट संगठन शक्ति गौराङ्ग के काजीदलन लीला में परम सहायक हो उठी। मुसलमान शासनकर्ता के आदेश को अमान्य करके इस क्षेत्र में प्रकाश्य रूप से सर्वप्रथम कीर्तन अनुष्ठान की स्वाधीनता घोषित हुई।

बहुत से लोगों ने अब प्रभु गौराङ्ग के चरणों में शरण लेना आरम्भ किया। वैष्णव भक्त गोष्ठी का आकार भी क्रमशः बड़ा होता गया। परन्तु फिर भी उन दिनों पाखंड, पापाचारी एवं वैष्णव विरोधियों की संख्या उस क्षेत्र में कम नहीं थी। प्रेम-भक्ति धर्म के नेता निमाई पंडित को स्वीकृति देने के पक्ष में वे नहीं थे। प्रकाश्य रूप से वैष्णवों पर नाना प्रकार की लांछना

एवं उपहास करते, तथा अनेक बार अत्याचार करने में भी उन्हें कोई द्विधा नहीं होती थी।

प्रभु ने एक दिन गुप्त रूप से नित्यानन्द को अपने पास बुलाया। कहा, श्री पाद, मेरे हृदय की इच्छा है कि पापक्लिष्ठ जीव को मैं हरिनाम के महा मंत्र का दान करूँ, जिससे वे उद्धार पा सकें। परन्तु यह कार्य सफल कहाँ हो पा रहा है? हिंसा एवं द्वेष की अग्नि प्रज्वलित करते हुए निन्दक गण मेरे विरुद्ध गलत प्रचार करते हुए घूम रहे हैं। इसका एक मात्र प्रतिकार है, मेरा संन्यास ग्रहण। संसार का भोग एवं सुख का एकदम त्याग न कर देने पर, संसार के जीव मुझे प्रेम की दृष्टि से नहीं देखेंगे, तथा मेरी बात की भी कीमत वे नहीं समझेंगे।"

नित्यानन्द के सिर पर मानो यह आकस्मिक वज्राघात पड़ा। रूद्ध कण्ठ होकर करुण दृष्टि से वे प्रभु की मूर्त्ति को एकटक देख रहे हैं।

प्रभु ने समझा, उनके विच्छेद का पूर्वाभास नित्यानन्द को तीव्र आघात पहुँचा रहा है। सांत्वना देते हुए, उन्होंने प्रेम सिक्त स्वर मे उनसे कहा,—"श्री पाद, सोचो तो, सर्वव्यापी सन्यासी का कोई शत्रु नहीं है। मैं वैसे ही सन्यासी होकर, रो-रो कर लोगों के द्वार-द्वार पर कृष्ण नाम की भिक्षा करूँगा। ऐसा हो जाने पर तो वे नाम प्रचार में बाधा डालने के लिये आवेंगे नहीं? इसलिये तुम मेरे संन्यास की बात से इस तरह व्यथित न होओ।"

नित्यानन्द फिर भी निरूत्तर ही रहे। यह कैसी महा-दुर्दैव की बात आज उन्हें सुननी पड़ रही है? किस मुँह से वे प्रभु के इस निष्ठुर प्रस्ताव पर अपनी सम्मति देंगे?

प्रभु ने अब अपने अंतिम अस्त्र का प्रयोग किया। अपने आविर्भाव के गोपन कारण को बताते हुए उन्होंने अवधूत से कहा—

इथे तुमि किछू दुःख
ना पावियो मने।
विधि देह तुमि मोरे
संन्यास कारणे॥
जगत् उद्धार यदि
चाई करिबारे।
इहाते निषेध नाहि
करिवे आमारे॥

अब नित्यानन्द ने अपना मुँह खोला। सजल नेत्रों से प्रेम गद्‌गद् स्वर में उन्होंने कहा," प्रभु तुम स्वेच्छामय हो। जिस सिद्धान्त को तुमने मन ही मन स्थिर कर डाला है, उसके विपरीत जा सके, ऐसी शक्ति किसमे है? तुम्हारे विछोह से भक्तों की क्या गति होगी, शची माँ एवं विष्णु प्रिया की कैसी शोचनीय अवस्था हो जायगी, केवल यही मैं सोच रहा हूँ। अपनी इस जीव उद्धार-लीला की बात केवल तुम्हीं जानते हो। जब तुमने सन्यास लेने का निर्णय ले ही लिया है, तो वही हो। परन्तु अपने मन की बात अपने अंतरंग भक्तों से एक बार कह डालो जिससे अंततः वे इसके लिये प्रस्तुत हो सकें।"

नित्यानन्द के इस अनुरोध को गौराङ्ग ने अस्वीकार नहीं किया। इसीलिये पार्षदों मे से कई लोगों को इस आच्छन्न विच्छेद की बात उस दिन मालूम हो सकी।

× × ×

अंततः प्रभु के गृह त्याग का दिन भी आ पहुँचा। भक्तों का प्रेम बन्धन' स्नेहमयी जननी का आकर्षण तथा पत्नी का प्रण्य पाश छिन्न करके वे रास्ते पर बाहर निकल पड़े। काटोआ नगर में परम भागवत सन्यासी, केशव भारती का आश्रम था। इन्हीं महापुरुष से उन्होंने सन्यास मंत्र की दीक्षा ग्रहण की। उनका नवीन नामकरण हुआ—श्री कृष्ण चैतन्य। इस समय उनके संगी होने के अधिकारी हुए अवधूत नित्यानन्द तथा गदाधर इत्यादि पंच पार्षद।

काटोआ जाकर दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात्, श्री चैतन्य का प्रेम-सिन्धु अत्यन्त उत्ताल हो उठा। महाभाव-रस में सदा मतवाले रहते। उनके हृदय मे निरंतर नीलाचल नाथ दारु ब्रह्म का अमोघ अह्वान प्रतिध्वनित होता रहता। इसीलिय अब वे व्याकुल होकर महाधाम नीलाचल की ओर अग्रसर हुए।

चिर विदा से पूर्व प्रभु, जननी तथा भक्तों के साथ एक बार मिल लेना चाहते हैं। उन्होंने नित्यानन्द को बुलाकर कहा, "श्री पाद अब मैं नवद्वीप वापस नहीं जाऊँगा। शांतिपुर मे ही अद्वैत आचार्य के भवन में प्रतीक्षा करूँगा। तुम स्वयं जाकर जननी एवं भक्त जन को यह सूचना दे दो।"

नित्यानन्द के नवद्वीप पहुँचते ही भक्त वैष्णवों में सर्वत्र आनन्द का वातावरण छा गया। सभी प्रभु के संवाद के लिये अत्यन्त व्यग्र हो उठे।

सभी को आश्वस्त करके निताई शची माता की चरण वन्दना हेतु गये। प्रभु के घर का दृश्य देखकर उनके लिये धैर्य धारण करना कठिन हो गया। पुत्र शोक से माता उन्मत्त प्राय थीं। निरंतर उनका विलाप जारी था। बारह दिनों से उन्होंने कोई आहार भी नहीं ग्रहण किया था। विरहविधुरा विष्णु प्रिया की करूण मूर्त्ति को देख कर आँसू रोक पाना कठिन था। नित्यानन्द ने, दोनों को ही सांत्वना प्रदान की। उसके बाद उन्होंने शची माता से कहा, "माँ री, तुम्हारे उपवास के कारण कृष्ण भी उपवास ही कर रहे हैं। तुम स्थिर होकर उठो और भोगान्न प्रस्तुत करो। मैं भूख से परेशान हो रहा हूँ। तुम्हारे हाथ का प्रसादान्न खाने की मेरी बड़ी अभिलाषा हो रही है। मेरे ही साथ भक्तगण भी तुम्हारे ही यहाँ प्रसाद ग्रहण करेंगे।"

नयनाश्रुओं को पोंछ कर शची ने भोजन बनाना शुरू किया। उस दिन प्रभु के ही घर मे नित्यानन्द एवं भक्तगण का भोजन संपन्न हुआ। शची देवी के लिये भी उपवास भंग न करना संभव नहीं हो सका। उसके बाद शचीमाता एवं भक्त गण के साथ, नित्यानन्द अद्वैत के घर आये। शांतिपुर में उस दिन आनन्द का ज्वार उमड़ पड़ा।

जननी एवं भक्तगण को नाना प्रकार से सांत्वना देकर चैतन्य पुरी की ओर अग्रसर हुए। साथ में केवल अंतरंग भक्त एवं पार्षदगण ही थे।

नृत्य एवं कीर्तन करते-करते, सभी सुवर्ण रेखा के तट पर आ पहुँचे। प्रभु जल्दी-जल्दी स्नान करके आगे बढ़ चले हैं, और भक्तगण थोड़ा पीछे पीछे आ रहे हैं। इस समय नित्यानन्द एक दु:साहसी कार्य कर बैठे।

प्रभु, प्राय: भावाविष्ठ एवं अर्धबाह्य अवस्था में रहते थे, इसलिये अपना संन्यास दण्ड उनके लिये ठीक से हाथ में रखना संभव नहीं था। इस कारण पंडित जगदानन्द को ही उसे वहन करना पड़ता। उस दिन पंडित को भिक्षा के लिये बाहर जाना था, इसलिये प्रभु का दण्ड उन्होंने नित्यानन्द के हाथ में सौंप कर उन्हें सतर्क करते हुए कहा, "श्रीपाद, प्रभु का यह संन्यास दण्ड तुम्हारे पास छोड़ जा रहा हूँ। इसे अत्यन्त सावधानी के साथ रखना। मैं अभी गाँवों से भिक्षा संग्रह करके वापस आ रहा हूँ।"

नित्यानन्द, उस समय भावावेश में विभोर थे, कभी-कभी अर्धबाह्य अवस्था में चले जाते थे। प्रभु का दण्ड हाथ में आते ही उनकी चेतना लौट आयी। सोचने लगे, जीवों के उद्धार के लिये ही, प्रेमावतार प्रभु का आविर्भाव हुआ है, फिर उन्हें यह दण्ड-कमण्डलु वहन करने का क्या प्रयोजन है? सहसा,

उनके अंतर में न जाने कैसी उद्दीपना का संचार हुआ, कि हाथ में पकड़े हुए दण्ड को उन्होंने टुकड़े-टुकड़े कर डाला और नदी के जल में विसर्जित कर डाला ।

वापस आकर पंडित जगदानन्द तो हत्‌वाक् हो उठे । भावप्रमत्त अवस्था में नित्यानन्द ने यह कैसा कार्य कर डाला ? प्रभु का संन्यास दण्ड तो एक परम पवित्र वस्तु है । उसे टूटा हुआ जानकर तो वे एक भयानक काण्ड ही कर डालेंगे । पंडित, संकोच तथा भय से जड़ हो गये ।

कुछ ही देर बाद प्रभु से उनका साक्षात्कार हुआ । दण्ड को टूटा हुआ देख कर वे चौंक पड़े । क्रुद्ध होकर उन्होंने कहा, "किसका ऐसा साहस है, कि उसने मेरे दण्ड की ऐसी दुर्दशा कर डाली है ?"

नित्यानन्द उस समय भी भाव-विभोर अवस्था में बैठे हुए हैं । गंभीर स्वर में उन्होंने उत्तर दिया, "प्रभु, यह धृष्टता मुझसे हुई है । यदि इच्छा हो तो तुम इसके लिये दण्ड का विधान करो !"

नित्यानन्द की यह बात सुन कर उन्हें अपने रोष पर काबू करना पड़ा । सर्व पाप-मुक्त अवधूत की यह कैसी लीला है, कौन कह सकता है ? इसके अलावा, चैतन्य उन्हें ज्येष्ठ भ्राता का सम्मान देते रहे हैं । इसलिये भावावेश में दण्ड भंग करने के अपराध में दण्डित करने का उपाय ही क्या है ?

उन्होंने मात्र इतना ही कहा, "इस पृथिवी पर एकमात्र यह दण्ड ही मेरा प्रधान अवलम्बन था । कृष्ण की इच्छा से आज वह भी टूट कर टुकड़े-टुकड़े हो गया । अच्छा ही हुआ । अब किसी के साथ भी मेरा कोई संपर्क नहीं रहा । अबसे मैं अकेला ही मार्ग पर चलूँगा, और अगर तुम लोग भी यदि नीलाचल जाना चाहते हो, तो मुझसे अलग रह कर चलो ।"

अंततः इस व्यवस्था को भक्तों को मानना ही पड़ा । प्रभु के आगे रवाना हो जाने पर भक्तगण उनके पीछे-पीछे चले ।

जलेश्वर ग्राम में शिव का एक जाग्रत विग्रह विद्यमान है । यहाँ पहुँचते ही प्रभु एक नये भाव से उद्दीप्त हो उठे । कीर्तन एवं उद्दण्ड नर्तन के फलस्वरूप वहाँ लोगों की भीड़ जुट गयी ।

तब तक अनुसरनकारी परिकरगण वहाँ आकर उपस्थित हो गये । भक्तप्रवर के मधुर कीर्तन एवं भावाविष्ठ प्रभु के नृत्य ने एक अपूर्व आनन्द-दायक परिवेश की सृष्टि कर डाली ।

श्री चैतन्य का अन्तर परम प्रसन्नता से भर उठा। संन्यास दण्ड के भंग हो जाने के फलस्वरूप जितने भी क्रोध का संचार हुआ था, अब तक वह दूर हो चुका था। अब नित्यानन्द को उन्होंने पास बुलाकर प्रेम सिक्त स्वर में अनुयोग दिया—

कोथा तुमि आमारे
करिबे संवरण।
ये मते आमार हय
संन्यास रक्षण॥
आरो आमा पागल
करिते तुमि चाओ।
आर यदि कर तबे
मोर माथा खाओ॥
येनो कर तुमि आमा
तेन आमि हई।
सत्य सत्य एई आमि
सभास्थाने कई॥

प्रभु के श्रीमुख से इन कई बातों से अवधूत नित्यानन्द के माहात्म्य एव तत्त्व की बात प्रस्फुटित हो उठी है।

चैतन्य, एकाकी, सबसे पहले नीलाचल पहुँच गये। उस दिन जगन्नाथ मंदिर में एक अभूतपूर्व दृश्य दृष्टिगोचर हुआ। श्री विग्रह के दर्शन मात्र से प्रभु प्रेम विह्वल हो उठे। सारे शरीर में अष्ट सात्त्विक विकारों के लक्षण दिखायी पड़ने लगे। थोड़ी ही देर में उनका दिव्य कांति शरीर संज्ञाशून्य होकर धरती पर लोट पड़ा। राज पंडित वासुदेव सार्वभौम, इस समय मंदिर के गर्भगृह में उपस्थित थे। तरुण संन्यासी के इस अद्भुत प्रेम विकार को देख कर उनके विस्मय की सीमा नहीं रही। परिचारकों की सहायता से उन्हें वे यत्नपूर्वक अपने कक्ष पर ले गये।

नित्यानन्द एवं अन्य साथी जो पीछे पड़ गये थे, अबतक प्रभु के पास आ गये थे। चैतन्य एवं उनके विशिष्ट भक्तों का परिचय पाकर सार्वभौम के आनन्द की सीमा नहीं रही। चैतन्य एवं नित्यानन्द, इन दोनों को ही परम यत्नपूर्वक अपना अतिथि बनाया।

भावप्रधान नित्यानन्द को संभाल पाना अत्यन्त कठिन कार्य था। कभी उनका प्रेमावेश उद्दाम हो उठता तो कभी वे अपने उद्दण्ड नर्तन-कीर्तन एवं

हुँकार से सभी को चकित कर डालते। एक दिन तो भावाविष्ठ होकर उन्होंने जगन्नाथ मंदिर में एक तमाशा ही कर डाला। मंदिर गर्भगृह में खड़े नित्यानन्द उस दिन कीर्तन कर रहे थे। साथ में उनके सहयोगी भी थे। सहसा वे महाभाव से उद्दीपित हो उठे। प्रेम प्रमत्त अवधूत के हुँकार से सभी भीत एवं चकित हो उठे। भाव की प्रगाढ़ता में प्रचण्ड वेग से जगन्नाथ-बलराम विग्रह-द्वय को आलिंगन करने के लिये दौड़े। मंदिर के परिचारकगण सभी दौड़ पड़े, परन्तु उन्हें रोकना संभव नहीं हो सका। वेदी के ऊपर चढ़ कर, अवधूत नित्यानन्द ने बलराम विग्रह को आलिंगनबद्ध कर डाला, और उनकी माला निकाल कर अपने गले में डाल ली। उस समय वे ईश्वरीय भाव से उद्दीपित थे तथा उनका शरीर दिव्य आनंद की घटा से उद्भासित था। भक्त एवं परिचारकों की समवेत जयध्वनि से श्री मंदिर मुखरित हो उठा।

नित्यानन्द का यह प्रेम-प्रमत्त भाव उस समय नीलाचलवासियों के विस्मय का उद्रेक करने लगा। चैतन्य के प्रधान पार्षद के रूप में, वे सर्वत्र असामान्य मर्यादा के अधिकारी हो गये।

चैतन्य ने दाक्षिणात्य के भ्रमण का संकल्प किया है। भक्त तथा पार्षदों में से किसी को उन्हें साथ ले जाने की इच्छा नहीं है। सभी से उन्होंने कहा, सेतुबन्ध से नहीं वापस आ जाने तक वे सभी उनकी नीलाचल में ही प्रतीक्षा करें। नित्यानन्द ने आपत्ति की। कहा, "यह कैसी बात है, प्रभु, एकाकी जाना, तुम्हारे लिये किस तरह संभव है? तुम्हें तो प्रायः ही बाह्यज्ञान नहीं रहता, कब कौन विपत्ति आ जायगी, कौन जानता है? किसी को तुम्हें साथ लेना ही होगा। दाक्षिणात्य के सभी मार्गों से मैं पूर्णतया परिचित हूँ। वहाँ के तीर्थों की परिक्रमा मैं पहले ही कर चुका हूँ। मुझे ही अपने साथ जाने दो।"

चैतन्य इस प्रस्ताव पर राजी नहीं हैं। इस भ्रमण के समय उन्हें बहुत से कार्यों का साधन करना होगा, बहुत से लोगों का उद्धार करना होगा। इस समय वे मुक्त एवं स्वतन्त्र होकर ही चलना चाहते हैं। नित्यानन्द के स्नेह बंधन में अपने को बाँध कर रखना उन्हें स्वीकार्य नहीं है—

प्रभु कहे आमि नर्तक
तुमि सूत्रधार।
यैछे तुमि नाचाह
तैछे नर्त्तन आमार॥

संन्यास करि आमि
चलिलाम वृन्दावन ।
तुमि आमा लैया—
आइला अद्वैत भवन ।।
नीलाचल आसिते तुमि
मांगिले मोर दण्ड ।
तोमार सबार गाढ़ स्नेहे
आमार कार्य भंग ।।

साथी के रूप मे किसी अन्य भक्त को साथ ले जाने का प्रस्ताव भी उन्होंने टाल दिया । अब नित्यानन्द ने विनती करते हुए कहा, "ठीक है, हम अंतरंगों के दल से भले ही तुम किसी को न ले जाओ, परन्तु परिचारक एवं साथी के रूप में किसी एक को साथ लेना ही होगा ।

नित्यानन्द के इस अनुरोध को टालने का कोई उपाय नहीं था । अंततः प्रभु ने स्वीकार करते हुए कहा, "श्रीपाद, तब ऐसा ही हो, तुम्हारी ही इच्छा पूर्ण हो ।"

प्रभु, दाक्षिणात्य एवं अन्यान्य स्थानों के भ्रमण के पश्चात् श्री क्षेत्र वापस लौट आये । उनके इस दीर्घ परिक्रमा का उद्देश्य कम महत्त्वपूर्ण नहीं था । व्रजरस-तत्त्व के मर्मज्ञ रामानन्द राय को उन्होंने इस यात्रा में आत्मसात् किया एवं प्रेम-धर्म के बीज का सारे दक्षिण तथा पश्चिम भारत मे वपन करके वे लौट आये ।

महाधाम नीलाचल में चैतन्य के लीला नाट्य का मंच धीरे-धीरे प्रस्तुत हो रहा है । भारत के दूर-दूर के क्षेत्रों की उन्होंने पैदल ही परिक्रमा करके लोगों को कृष्ण नाम से उदबुद्ध कर डाला है । अब उनकी दृष्टि अपनी मातृभूमि गौड़ पर पड़ी । यहाँ के जन-समाज पर तांत्रिक प्रभाव अत्यन्त प्रबल था । नव्यन्याय के तर्क एवं वाद-विवाद से पंडित समाज सर्वदा मुखरित रहता । साधारण मानव के जीवन में नीतिधर्म एवं शरणागति का संकेत मात्र भी खोज पाना दुर्लभ था । इसी कारण अपनी इस जन्मभूमि में अपने नवीन धर्म का प्रचार न करना कैसे संभव हो सकेगा ? प्रभु, सारे गौड़ देश का मंथन करके, प्रेम-भक्ति का अमृत उड़ेलने के लिये व्यग्र हो उठे ।

परन्तु, इस विराट् कार्य का भार वे किसे सौपेंगे ? प्रभु, स्वयं तो संन्यास ग्रहण करके, स्थायी रूप से पुरी धाम में निवास कर रहे हैं । उच्च

कोटि के भक्त एवं साधकों में से भी अनेक उन्हीं के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए संन्यासी हो चुके हैं। अनेक की यह धारणा बन चुकी है कि प्रभु के वास्तविक अनुगामी होने के लिये, गृहस्थ-धर्म का अवलम्बन न करना ही श्रेयस्कर होगा।

केवल अद्वैत, गृहस्थ के रूप में गौड़ में निवास कर रहे हैं। प्रभु के विशिष्ट एवं श्रेष्ठ मर्मज्ञ एवं व्याख्याता के रूप में वे परिचित हैं। गौड़ीय भक्त समाज उनके जैसे महापुरुष को पाकर धन्य हो चुका है, इसमें संदेह नहीं। परन्तु अद्वैत वृद्ध हो चुके हैं, और इस विशाल वैष्णव संगठन का भार ले सकने की उनकी अवस्था नहीं रह गयी है। इसके अलावा, गौड़ देश में ज्ञान पन्थी पंडितों का ही बोलबाला है। इनको आत्मसात् करने हेतु प्रेमधन मूर्त्ति निताई जैसे नेता का ही प्रयोजन है। इसीलिये, प्रभु ने मन ही मन सोचा कि यह गुरुभार वे नित्यानन्द को ही देंगे।

निताई, प्रभु के अभिन्न हृदय सहकारी हैं। भक्त-गण उन्हें प्रभु का द्वितीय कलेवर कह कर सोचने के अभ्यस्त हो चुके हैं। नवीन भाव का उद्‌बोधन कराने तथा नवगठित वैष्णव समाज में नूतन उद्दीपना एवं रस-तरंग की सृष्टि करने हेतु उनके जैसा समर्थ पुरुष और कौन है? सारी बातें सोच कर किसी निर्णय पर पहुँचने में प्रभु को विलम्ब नहीं हुआ।

नित्यानन्द को एक दिन अकेले बुला कर वे कहने लगे, "श्री पाद, मेरे दुःख की सीमा नहीं है। मैंने स्वयं हो घोषणा की है कि विद्वान-मूर्ख, ब्राह्मण-चाण्डाल, धनी-दरिद्र सभी को आत्मसात् करके हरिभक्ति एवं प्रेम-धर्म का वितरण करूँगा। परन्तु उसका कोई उपाय मैं नहीं देख पा रहा हूँ। मैं तो संन्यासी हो चुका हूँ, गृहस्थों के साथ मेरा कोई संबन्ध नहीं रह गया है। तुम भी यदि समाज से संबन्ध विच्छेद कर लोगे तथा उदासीन हो जाओगे तब पतित एवं अभाजनों की गति क्या होगी? उनका उद्धार कौन करेगा? तुम्हारा इस तरह हाथ खींच लेने से तो काम नहीं चल सकेगा। श्रीपाद, मेरी बात मानो। तुम गौड़ देश वापस चले जाओ तथा वहाँ जाकर गृहस्थ-धर्म में प्रवेश करो, एवं समाज की ऊसर भूमि में प्रेम-भक्ति का अमृत-प्रवाह उड़ेल दो।"

यह कैसा निर्मम आदेश! प्रभु की बातें सुनते ही नित्यानन्द मर्माहत एवं स्तब्ध होकर खड़े हैं। यह तो आकस्मिक वज्रपात के सदृश है। अत्यन्त छोटी उमर में वे गृहत्याग करके निकल पड़े हैं, तथा संन्यास एवं अवधूत जीवन के माध्यम से भागवत प्रेम के परम माधुर्य की तलाश में घूमते

रहे हैं। अब तक के सारे महान आदर्शों को तिलाञ्जलि देकर अंत में विवाह करके गार्हस्थ्य-जीवन-यापन करना होगा ?

इस बात को भी निताई समझ चुके हैं कि प्रभु के जीव-ऊद्धार व्रत के वे एक बड़े सहयोगी हैं। इस व्रत के साधन हेतु किसी प्रकार के दुःख एवं त्याग को स्वीकार करने में उन्हें पीछे नहीं हटना है, यह भी सत्य है। प्रभु का आज का आदेश एकदम स्पष्ट एवं द्विधाहीन है। निताई के लिये यह आदेश जितना भी कष्टकर हो, परन्तु उसे अमान्य करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए सिर झुका कर उन्होंने इस आदेश को ग्रहण किया। सर्वजनवंदित अवधूत नित्यानन्द उस दिन प्रभु द्वारा प्रदत्त शृङ्खलाओं में बंधने को प्रस्तुत हो गये।

निताई गौड़ की ओर चल पड़े। उनके साथ प्रेम-धर्म-प्रचार के लिये उपयुक्त दल भी साथ चला, जिनमें प्रमुख थे—रामदास, गदाधर दास, सुन्दरानन्द, परमेश्वर दास तथा पुरुषोत्तम दास।

नित्यानन्द नवीन उद्दीपना से उन्मत्त हैं, तथा रसावेष से आनंद चंचल। उन्होंने भक्त-परिकर लोगों में भी इस समय एक आश्चर्यजनक अलौकिक शक्ति का संचार कर डाला। उसके बाद भावविह्वल साथियों के साथ उद्दण्ड नृत्य करते-करते गौड़ में आकर उपस्थित हुए।

गौड़ देश में उस समय नित्यानन्द का आविर्भाव प्रेमदाता 'दयाल निताई' के रूप मे हुआ। भुवनमोहन दिव्य कांति है उनकी तथा नर्तन-कीर्तन उल्लासमय है, पुलकाश्रुओं से प्रेम की धारा बह रही है, तथा वे अद्भुत सात्विक विकारों से युक्त हैं। इन अलौकिक पुरुष के सान्निध्य में आकर भक्तों को साक्षात् रूप से भागवत प्रेम के स्पर्श का अनुभव होता है। उनके दिव्य प्रेम का दर्शन कर उस दिन सारे लोग मतवाले हो उठे तथा उनके दृष्टि संपात एवं हाथों के स्पर्श से सभी प्रेम प्रमत्त हो उठे। उस दिन गौड़ में प्रेमावतार नित्यातन्द प्रभु मानो भागवती साधना के एक शतदल के रूप मे विराजित हैं और उनके मधु के लोभ से दूर-दूर से भक्तदल एकत्रित हो रहा है।

उस समय नित्यानन्द का वर्णन करते हुए तथा उनके ऐश्वर्य एवं करूणा का दिग्दर्शन कराते हुए वृन्दावन दास ने लिखा है—

याहारे करेन दृष्टि
नाचिते नाचिते।
सेई प्रेमे ढलिया
पड़ेन पथिवीते॥

यह एक अद्भुत शक्ति संचारण था। नाचते-गाते, रोते एवं हुंकार करते हुए उस दिन सारे गौड़ में एक अपूर्व प्रेम तरंग की सृष्टि कर डाली।

पानिहाटी ग्राम के राघव पंडित के घर आकर वे उपस्थित हैं। चारों ओर अगणित पार्षदों एवं भक्तों की भीड़ है। कीर्तनानन्द का अविराम स्रोत बह रहा है। सहसा, वे ईश्वरीय भाव से उद्दीपित हो उठे। भक्तों को उन्होंने आदेश दिया, कि अभी उन्हें समारोह पूर्वक अभिषेक कराना होगा। घड़े घड़े गंगाजल लाकर नित्यानन्द का अभिषेक सम्पन्न हुआ। गले में वनमाला, तथा चौकी के ऊपर वे बैठे हुए हैं तथा राघव पंडित उनके सिर पर छत्र लगाये हुए खड़े हैं। भक्तों के कीर्तन एवं उल्लासपूर्ण ध्वनि से चारों दिशाएँ ध्वनित हो रही हैं।

जनश्रुति है कि उस दिन राघव पंडित के घर पर लीलाकौतुकी नित्यानन्द ने एक अलौकिक काण्ड की सृष्टि कर डाली। पंडित की ओर देख कर उन्होंने मुस्कराते हुए कहा, "पंडित, शीघ्र मेरे लिये एक कदंब माला गूँथ कर ले आओ। कदम्ब मेरे लिये अत्यन्त प्रिय है।"

राघव महान संकट में पड़ गये। बिना मौसम के उन्हें कदम्ब कहाँ प्राप्त हो सकेगा? बार-बार हाथ जोड़ कर यह बात दुहराने पर भी उन्हें छुट्टी नहीं मिल सकी। नित्यानन्द ने गंभीर स्वर में आदेश दिया, "पंडित, एक बार घर के भीतर तो जाकर देखो। तलाश करो। अकस्मात् कहीं यह फूल खिला हुआ भी तो हो सकता है।"

महान आश्चर्य! राघव पंडित ने देखा, आँगन के एक कोने में एक नीबू के पेड़ में कई कदम्ब के फूल खिल रहे हैं। विस्मय से हत्‌वाक राघव ने किसी तरह अपने को नियंत्रित करते हुए माला गूँथी। इसके बाद, सबके सामने उसे नित्यानन्द के गले में डाल दिया।

उस दिन के कीर्तन में नित्यानन्द ने एक और अलौकिक लीला कर डाली थी, ऐसी किंवदन्ती है। कीर्तन रत भक्तों को सहसा दमनक पुष्प की तीव्र सुगन्ध का अनुभव हुआ। विस्मित होकर सभी एक दूसरे का मुँह देखने लगे। नित्यानन्द ने इस रहस्य का मर्म स्वतः ही कहा—

चैतन्य गोसाई आज शुनिते कीर्तन।
नीलाचल हैते करिलेन आगमन।
सर्वांगे परिया दिव्य दमनक माला।
एक वृक्षे अवलम्ब करिया रहिला।।

सेई श्री अंगेर दिव्य दमनक गन्धे।
चतुर्दिक पूर्ण हइ आछये आनन्दे।।
तोमा सबाकार नृत्य कीर्तन देखिते।
आपने आइसे प्रभु नीलाचल हैते।।
एतेके तोमरा सर्व कार्य परिहरि।
निरवधि कृष्ण गाओ आपना पासरि।।
निरवधि श्री कृष्णचैतन्य चन्द्र-यशे।
सभार शरीर पूर्ण हअक प्रेमरसे।।

नित्यानन्द के प्रेमदृष्टिपात से उस दिन, समवेत भक्तगण में एक अपरूप दिव्य भाव का संचार हो गया था, तथा कीर्तन क्षेत्र में स्वर्गीय आनन्द का ज्वार उमड़ पड़ा था। उनके अपरूप ऐश्वर्य-प्रकाश के फलस्वरूप हर आदमी, उस दिन प्रेमावेश से आत्महारा हो उठा था—

अश्रु, कम्प, स्तम्भ, घर्म,
पुलक हुंकार।
स्वरभंग, वैवर्ण गर्जन
सिंहसार।।
श्री आनन्द मूर्च्छा आदि
यत प्रेम भाव।
भागवते कहे यत
कृष्ण अनुराग।।
सभार शरीरे पूर्ण
हइल सकल।
हेन नित्यानन्द स्वरूपेर
प्रेम बल।।
ये दिके देखेन
नित्यानन्द महाशय।
सेई दिके महाप्रेम—
भक्ति वृष्टि हय।।

पानिहाटि में प्रायः तीन मास तक नाना लीला विलास के उपरान्त, नित्यानन्द खड़दह चले आये। वहाँ भी आनन्द की हाट स्थापित हो गयी। इस हाट में क्रेता थे छोटे से बड़े जनसाधारण, विक्रेता नित्यानन्द और परम

चैतन्य प्रभु। सुरधुनी के तट पर निताई ने कीर्तन आरंभ किया—

भज गौराङ्ग कह गौराङ्ग
लह गौराङ्गेर नाम।
ये भजे गौराङ्ग चाँद
से हय आमार प्राण ॥

'प्रेमदाता दयाल निताई' का यह एक अपरूप रूप था। गुरु गम्भीर तत्त्वों का आडंबर नहीं है, सूक्ष्म तत्त्वों का विचार विश्लेषण नहीं है, केवल भावोद्वल कीर्तन-नर्तन एवं नयनाश्रुओं की धारा है। आचाण्डाल वे प्रेम वितरण करते रहते, कभी माटी में लोटकर तो कभी लोगों के गले में बांहे डाल कर रोते-रोते वे कहते, "भाई, दया कर के एक बार कृष्ण को भजो, गौरांग को भजो। बिना मूल्य मुझे सर्वदा के लिए खरीद लो। मुझे अपना दासानुदास बना लो, भाई।"

देव प्रतिम महासाधक की यह कैसी हृदय विदारक दीनता एवं आर्ति! जो भी इस दृश्य का दर्शन करता, उसके लिये नयनाश्रुओं को रोक पाना कठिन हो जाता। नित्यानन्द को खरीद लेना तो दूर की बात, क्षण भर में ही वह उन्हीं के चरणों पर विक्रीत हो उठता। प्रेमिक अवधूत का प्रेम जिस तरह स्वर्गीय था, उसी तरह उनकी प्रचार पद्धति भी अभिनव थी। भागीरथी के दोनों तटों पर इसी तरह उन्होंने हरिनाम-प्रेम महोत्सव का जागरण कर डाला।

सर्वत्र यह संवाद फैल गया कि, पतितपावन के रूप में गौड़देश में नित्यानन्द का आविर्भाव हो गया है। आचाण्डाल, नाम सुधा का वितरण करके वे जीव के उद्धार का साधन प्रस्तुत कर रहे हैं। अलौकिक थी उनकी शक्ति, अपरिमेय था उनका जीव-प्रेम, एवं साथ ही वे प्रभु चैतन्य के द्वितीय कलेवर भी थे। जगह-जगह लोगों के दल के दल इन प्रेमधर्म प्रवर्त्तक विराट् पुरुष के दर्शनार्थ भीड़ लगाने लगे।

प्रेम सरोवर में निताई सर्वदा डूबे हुए हैं— प्रेम रसके ही तरंग भंग से वे सदा मस्त हैं। उनके हृद पद्म पर नये-नये भावों का दल विकसित हो कर नये-नये लीला तरंगों का उद्बोधन करता रहता।

अकस्मात् इस सर्वत्यागी अवधूत को न जाने क्या सूझी कि वे मनोहर नागर के वेश में सज्जित होंगे, तथा सारे अलंकारों से भूषित हो वे देश में यत्र-तत्र विचरण करेंगे। इस अद्भुत इच्छा के जाग्रत हो जाने के उपरान्त

वस्त्राभूषण संग्रह करने मे विलम्ब नहीं हुआ। एक तो यूँ ही शरीर गोरा और कांतिपूर्ण था, अब नील वसनों से सज्जित होकर शरीर और भी नयनाभिराम हो उठा। गले में रत्नहार, हाथ में सुवर्ण वलय तथा उँगलियों में कई रत्न जड़ी हुई अंगूठियाँ तथा चरणों में रमणीय रौप्य नूपुर। शरीर चंदन चर्चित तथा ललाट पर तिलक चिह्न अंकित हो गया तथा गले में पहनायी गयी मल्लिका मालती की शुभ्र सुगन्धित माला। इस दिव्य तथा मोहन वेश में उनके नृत्य की भंगी एक बार जो देखता वही मोहित हो जाता। नित्यानन्द के भुवनमंगल कीर्तन का एक बार जो श्रवण करता— उसका सारा अंतर सदा के लिए बन्दी हो जाता।

उनका परिषद दल भी कम रंगीला नहीं था। मनोहर व्रज राखाल के वेश में वे सदा सज्जित रहते। वसन-भूषण की उनके लिये भी कमी नहीं थी। गले में गुञ्जा माला, हाथों में शिङ्गा, वेत्र एवं वंशी लेकर वे लोग शहर तथा जनपद में सर्वत्र घूमते रहते। इन परिकरों में एक-एक मानो भस्माच्छादित वह्नि हों। अलौकिक प्रेम एवं शक्ति के नाना प्रकाश दिखला कर तथा भक्ति रस के प्रवाह को उद्वेलित करते हुये उन्होंने सारे गौड़ देश में चांचल्य का सृजन कर डाला।

खड़दह इत्यादि क्षेत्रों की परिक्रमा करते हुए नित्यानन्द, सप्तग्राम पहुँचे। यहाँ त्रिवेणी के घाट पर परम भक्त उद्धारण दत्त के साथ उनका साक्षात्कार हुआ। साक्षात् मात्र से वे आत्मसात् हो गये। उद्धारण ने अपने को पूर्णतया नित्यानन्द के चरणों में निवेदित कर डाला। अतुल ऐश्वर्य का त्याग कर वे उनके पार्श्वचर हो गये। अवधूत की नर्तन-कीर्त्तन एवं आनन्द-लीला निरंतर अनुष्ठित होती रही। उद्धारण दत्त, यहाँ के वणिक-समाज के नेता थे। इन्हीं के प्रभाव से गौड़ीय वणिकगण, नित्यानन्द का आश्रय ग्रहण कर धन्य हो गये। बंगाल के हिन्दू समाज में उन दिनों भी इनका हुक्का-पानी नहीं था। नित्यानन्द ने इनको नयी मर्यादा दी, तथा नवीन धर्म के प्रवर्त्तन से सुवर्ण वणिकगण उनके परम सहायक हो उठे।

नाम-प्रेम की झंकार से सप्तग्राम क्षेत्र को मतवाला बनाकर, निताई, शांतिपुर आकर उपस्थित हुए। उनके दर्शन से अद्वैत के आनन्द की सीमा नहीं रही। उत्साहपूर्वक दोनों बाँहें फैलाकर उन्होंने उनका आलिंगन किया। दोनों भावमत्त महाप्रेमिकों के हुंकार एवं क्रन्दन से, उस दिन, शांतिपुर में एक अपरूप दृश्य की अवतारणा हो गयी।

उस दिन वृद्ध आचार्य अद्वैत प्रभु के मुख स नित्यानन्द की स्तुति सुनाई पड़ी —

तुमि नित्यानन्द मूर्त्ति
नित्यानन्द नाम ।
मूर्त्तिमन्त तुमि
चैतन्येर गुणग्राम ।।
सर्वजीव परित्राण
तुमि महासेतु ।
महाप्रलयेते तुमि
सत्य-धर्म सेतु ।।
तुमि से बुझाओ
चैतन्येर प्रेमभक्ति ।
तुमि से चैतन्य-वृक्षे
धर पूर्ण शक्ति ।। (चै० मा०)

नवद्वीप के भक्तगण बीच बीच में नित्यानन्द के दर्शन पाते एवं आनन्द से अधीर हो उठते । गौर-लीलाभूमि में प्रेमभक्ति-रस का नया ज्वार उमड़ पड़ा । प्रधानतः महाबली नित्यानन्द की प्रेरणा से वहाँ गौरांग भजन का लाम विस्तारित होने लगा ।

एक बार नित्यानन्द नवद्वीप में हिरण्य पंडित के घर में निवास कर रहे थे । पंडित दरिद्र होने पर भी बड़े सात्विक एवं भक्त थे । अत्यन्त आग्रहपूर्वक उन्होंने अपने को नित्यानन्द की सेवा में समर्पित कर डाला । स्वयं दरिद्र वैष्णव होने पर भी डकैतों की दृष्टि उनके घर पर पड़ी । नित्यानन्द की वेश-भूषा अत्यन्त आडम्बर पूर्ण थी । गले, हाथ और पैर के अनेक सोने तथा चांदी के उनके पास आभूषण थे । भक्तों के उपहार भी कम नहीं आते थे । इतना अवश्य था कि इन सभी वस्तुओं के लिये नित्यानन्द को कोई चिंता नहीं थी । वे तो दिन-रात नाम-प्रेम में ही मतवाले रहते ।

इन डकैतों का नेता एक तरुण ब्राह्मण था । नर-हत्या तथा घर फूँक देना इत्यादि ऐसा कोई कार्य नहीं था जिससे उसे परहेज हो । दल-बल के साथ एक दिन वह हिरण्य पंडित के घर के पीछे छिप गया । उसकी मंशा यही थी कि अवसर मिलते ही वह नित्यानन्द को मार कर उनके आभूषण तथा रुपये-पैसे सभी लूट लेगा ।

रात अधिक नहीं बीती थी। डकैतों ने निश्चय किया कि मध्य-रात्रि में आक्रमण शुरू करेंगे। परन्तु थोड़ी ही देर बाद, पता नहीं कैसे, वे एक विचित्र नींद से अचेतन-जैसे हो गये। उनकी यह रहस्यमय निद्रा टूटी प्रभात में जब कि सूर्य की किरणे छिटक रही थी। उस समय वे जल्दी-जल्दी खिसक गये।

परन्तु दस्युदल ने लगभग जिद-सी पकड़ ली। एक बार फिर वे घातक अस्त्रों के साथ वहाँ डाका डालने पहुँच गये। परन्तु यह कैसा आश्चर्यजनक काण्ड ! घर के चारों ओर, इस बार, पता नहीं कौन पहरा दे रहा है। लम्बे-चौड़े, सुन्दर रक्षियों का यह दल है, और उनके हाथों में भी घातक अस्त्र हैं। उस दिन भी उन्हें लूट का अवसर नहीं मिल सका। डरकर वे वापस लौट गये।

तीसरे दिन भी रात में वे आकर उपस्थित हो गये। शोर-गुल करते हुए आंगन में घुसते ही दीख पड़ा कि किसी अदृश्य शक्ति के प्रभाव से उन सभी की आँखें अकस्मात् अंधी हो गयी हैं। डरे हुए तथा भ्रमित डकैत अपने में ही धर-पकड़ तथा मारपीट करने लगे। इसके अलावा तेज आँधी तथा उपल वृष्टि आरंभ हो गयी। बड़ी कठिनाई से वे किसी तरह पंडित के घर से बाहर निकलने में सफल हो सके।

अब डकैतों में वास्तविक भय का संचार हुआ। फिर क्या यह नाम-कीर्तन का मतवाला, नित्यानन्द बिल्कुल साधारण साधक नहीं है। निश्चित रूप से उसी के शक्ति के बल से इन तीन दिनों की घटनाएँ घटी हैं। दस्यु-दल के सरदार ने अपने सहयोगियों के साथ नित्यानन्द के चरणों में आत्म-समर्पण किया। पिछले कई दिनों घटी घटनाओं का वर्णन करते हुए उसने कहा, 'प्रभु, मैं महापातकी हूँ, आपके आभूषणों के लोभ में पड़कर पंडित का घर लूटने के लिए आया था। मेरे पापों की कोई सीमा नहीं है। आप कृपामय हैं, इस अधम को अपने चरणों में स्थान दीजिए।"

दस्यु ब्राह्मण को आलिंगन करते हुए अवधूत नित्यानन्द ने कहा, "बाबा, तुम्हें क्षमा नहीं करूँगा, तो और किसे करूँगा ? तुम तो महाभाग्यवान हो जो कृष्ण-कृपा के फलस्वरूप, इन तीन दिनों तक कृष्ण के ऐश्वर्य-प्रकाश को इस तरह देख सके हो। ऐसी वस्तु, कितने आदमियों को देखने को मिलती है, भाई ? तुम अब लूट-पाट तथा नरहत्या बन्द करके पापियों को धर्म के मार्ग पर ले आओ।

अपने गले की माला दस्यु सरदार के गले में डालते हुए, दयाल निताई ने उसे आलिंगनबद्ध कर लिया। नित्यानन्द की कृपा से, उत्तरकाल में वह एक

परम भागवत के रूप में परिणत हो गया, तथा अश्रुकम्प, पुलकादि सात्विक विकारों का स्फुरण उसके अन्दर हो गया।

× × ×

गौड़ आने के बाद से नित्यानन्द ने जिन आश्चर्यजनक काण्डों को शुरु किया, उससे चारों ओर हलचल-सी मच गयी। सुवर्णवणिकगण तत्कालीन गौड़ीय समाज में हेय दृष्टि से देखे जाते थे। उन्होंने उन सभी को आत्मसात कर लिया। वणिक, उद्धारण दत्त एक महा भक्त थे। इन्हीं के ऊपर नित्यानन्द के भोग का प्रबन्ध करने एवं सेवा का भार था। नित्यानन्द ने वैष्णवीय उदारता एवं प्रेम की पराकाष्ठा दिखायी, तथा अब्राह्मण वैष्णवों को भी धर्मगुरु की भूमिका निभाने का अधिकार दे दिया। लाखों दरिद्र, निरक्षर, अन्त्यज हिन्दू, उनकी कृपा से शुद्धाचारी वैष्णव में परिणत हो गये। समकालीन समाज की अनुदारता, प्राणहीन धर्माचरण, एवं असंख्य विधिनिषेध की प्राचीर को तोड़ कर, निताई ने नवीनतम मुक्ति के प्राण प्रवाह को प्रतिष्ठित किया।

अगणित लोग उनकी इस उद्दीपना एवं मुक्ति मंत्र के द्वारा उन दिनों मत्त हो उठे, उन्हें उद्धार का मार्ग प्राप्त हो सका। किन्तु उन्हें ब्राह्मण-समाज का विरोध भी काफी सहन करना पड़ा। निताई के नाम पर वे कीचड़ उछालने में पीछे नहीं रहे। वैष्णवों का भी एक दल उन्हें गलत समझने लगा। मात्र इतना ही नहीं, नित्यानन्द के साज-सज्जा की परिपाटी, उनके रंगीन एवं मनोहर वस्त्र तथा शरीर पर के आभूषण भी कुछ लोगों की निंदा एवं समालोचना के विषय हो उठे।

प्रभु के दर्शन हेतु, निताई नीलाचल गये हुए हैं। वहाँ उपस्थित होते ही उनके बारे में बहुत-सी गलतफहमियाँ हो गयीं। सभी को ज्ञात है, कि सर्वत्यागी संन्यासी चैतन्य प्रभु के प्रधान अनुगामी हैं। किन्तु अपने प्रेमावेश एवं आनन्द में मत्त होकर यह कैसा बचपने का व्यवहार वे कर रहे हैं? वैराग्य तथा अवधूत वृत्ति का तो उन्होंने काफी पहले ही विसर्जन कर डाला है। उत्तम वेषभूषा में सज कर सर्वदा वे आनंद-रंग में दिन यापन कर रहे हैं। इसके लिये, समाज एवं संप्रदाय के भी कुछ लोगों की समालोचना भी उन्हें बीच बीच में सहन करनी पड़ती।

पुरीधाम के एक पुष्पवाटिका में निताई, अनमने से बैठे हुए हैं। थोड़ा भय भी हो आया है—प्रभु उन्हें इस बार किस रूप में ग्रहण करेंगे। उनके प्रेम-धर्म-प्रचार की पद्धति एवं आचार-आचरण के संबन्ध में उनका कैसा मनोभाव होगा, कौन जाने?

सदानन्दमय नित्यानन्द, मानसिक दुःख के कारण एकाकी, चुप बैठे हुए हैं, यह बात प्रभु के कानों तक पहुँची। भक्तवत्सल प्रभु उसी समय दल-बल के साथ भागते हुए वहाँ आये।

वहाँ पहुँच कर उन्होंने एक विचित्र काण्ड कर डाला। नित्यानन्द से कुछ भी न कह कर, प्रभु, हाथ जोड़ कर उनकी प्रदक्षिणा करने लगे। तब तक भक्तों की भीड़ वहाँ इकट्ठी हो गयी थी। चैतन्य सभी को सुना-सुना कर नित्यानन्द की स्तुति गाने लगे। किन्तु, यह तो अत्यन्त असहनीय दृश्य था! नित्यानन्द और सहन नहीं कर सके। रोते-रोते विह्वल होकर प्रभु के सम्मुख पछाड़ खाकर गिर पड़े। कहने लगे, "प्रभु, संन्यासी का धर्म छुड़वा कर तुमने मुझे कैसी अवस्था में रख दिया? मैं अपनी भावधारा में अपनी इच्छानुसार चलता रहा हूँ। मेरा आचार-आचरण तथा वेशभूषा को देख कर कितने ही लोग व्यंग तथा परिहास भी करते हैं। मेरा वास्तविक कर्तव्य क्या है, यह तुम मुझे इस बार बतला दो।"

नित्यानन्द को आश्वासन देते हुए प्रभु कहने लगे। "श्री पाद, क्या तुम नहीं जानते, तुम संकल्प करके मुझसे जो कराते हो वही मैं करता रहता हूँ। और तुम्हारे जैसे महामुक्त पुरुष के लिये आचरण में क्या निन्दनीय हो सकता है? तुम्हारे शरीर मे जो अलंकार शोभा पा रहे हैं वे तो श्रवण-कीर्तनादि नवविधा भक्ति के ही प्रतीक हैं। तुम ऊँच-नीच, समस्त जनसाधारण को जो भक्ति-संपदा वितरण करते जा रहे हो उसकी तुलना कैसे हो सकती है? तुम तो जीव-उद्धार के लिये अवतरित हुए हो, साधारण विधि-विधान तो तुम्हारे लिये हैं नहीं।"

त्रिभुवन में प्रभु के अलावा, निताई का और है ही कौन? इन्हीं प्रभु के चरणों में तो वे अपना सर्वस्व अर्पण करके बैठे हुए हैं। इसीलिये, प्रभु के आश्वासन भरे वचन सुनकर, निताई, स्थिर होकर उठ बैठे।

गदाधर को नित्यानन्द अत्यन्त स्नेह करते थे। गौड़ से निलाचल आते ही वे उनके सेवा-कुञ्ज में उपस्थित हुए। दोनों के मिलन से आनंद की अपूर्व लहर फैल गयी। गदाधर द्वारा प्रतिष्ठित गोपीनाथ विग्रह के लिये वे महीन अरवा चावल और रंगीन वस्त्र गौड़ से लाये हुए हैं। वहाँ उपस्थित होकर उन्होंने आदेश दिया, "गदाधर, आज अपनी इच्छानुसार प्रभु का भोग लगाओ।"

गदाधर, अत्यन्त उत्साहपूर्वक भोग के आयोजन में जुट गये। उत्कृष्ठ भोगान्न प्रस्तुत किए गये, एवं उसे भक्तिपूर्वक श्री गोपीनाथ को निवेदित किया गया।

सहसा, दरवाजे पर मधुर कण्ठ की ध्वनि सुनायी पड़ी, 'हरे कृष्ण, हरे कृष्ण'। चैतन्य प्रभु, इस समय हँसते-हँसते गोपीनाथ मंदिर में आकर उपस्थित हो गये । गदाधर ने दौड़ कर दण्डवत किया । प्रभु ने मुस्कुराते हुए कहा, "गदाधर, तुम्हारा यह कैसा आचरण है, बता तो? आज, इस आनंद के दिन, तुमने मुझसे भिक्षा ग्रहण करने को नहीं कहा ? श्री पाद नित्यानन्द भोग का उपकरण लाये हैं, जिसे तुमने परम निष्ठा पूर्वक पकाया है, तथा इस प्रसाद में श्री गोपीनाथ के मुखामृत का स्पर्श हो चुका है । इसमे मेरा हिस्सा तो निश्चित रूप से है ।"

नित्यानन्द के दर्शन से गदाधर एवं अन्यान्य भक्तों को जो आनंद मिला था, वह प्रभु के आगमन के कारण दूना हो गया ।

नित्यानन्द के नीलाचल में कुछ दिन व्यतीत कर लेने के बाद चैतन्य ने उन्हें एक दिन एकान्त में अपने पास बुलाया । प्रभु के दोनों नयन करुणा से प्लावित हैं, तथा स्वर विनीत है । मधुर स्वर में उन्होंने कहा, "श्रीपाद, क्यों इस तरह समय का अपव्यय कर रहे हो ? जीव उद्धार हेतु तथा समाज को धारण करके रखने के लिये अविलम्ब तुम्हारे लिये विवाह कर लेने का प्रयोजन है । तुम्हारी गृहस्थी को केन्द्र बनाकर तथा तुम्हारे वंशधर द्वारा इस परंपरा अवलम्बन लेकर घर-घर में वैष्णव जीवन प्रतिष्ठित हो—तुम्हारे द्वारा प्रचारित नाम-गान के माध्यम से सभी में नवीन चेतना का सचार हो । मैं तो विरागी एवं ससार त्यागी हो चुका हूँ । जीव उद्धार के लिए जीव-जीवन बन्धन स्वीकार तो तुम्हें ही करना पड़ेगा । अब बिलम्ब मत करो, तुम आज ही गौड़ चले जाओ ।"

निताई इस बात से खिन्न हो उठे । उत्तर में उन्होंने कहा, "प्रभु तुम्हारी छलना का कोई अंत नहीं है । निवेदित-प्राण भक्तों को विच्छेद की अग्नि से जला कर मार डालने में ही तुम्हें आनंद मिलता है । ठीक है, मुझे तुम्हारे द्वारा दिया हुआ दुःख शिरोधार्य है । परन्तु आज यह साफ साफ बता दो, कि तुम्हारा साक्षात्कार मुझे कब और किस तरह मिलेगा ।"

प्रभु के अधरों पर मुस्कान की रेखा फैल गयी । जो चैतन्य के अभिन्न-हृदय एवं अभिन्न कलेवर के रूप में परिचित हैं, उनके मुख से यह बाह्य दर्शन की व्याकुलता क्यों ? परन्तु निताई को आश्वस्त करके अविलम्ब गौड़ न भेजने से भी काम नहीं चलने का—

प्रभु कहे प्रतिवर्षे एखाने आसिबा ।
इच्छामात्र आमाके ये देखिते पाइबा ॥

तोमार नर्त्तने आर मातार रन्धने ।
निःसन्देहे आमारे पाइबे दुइस्थाने ।।
(निः वंशविस्तार)

इसके बाद आरंभ हुआ दोनों की प्रेमार्त्ति एवं क्रन्दन । नयनाश्रुओं से वस्त्र तक भींग गये । कृष्ण कथा वा रसामृत तथा अपनी बातों में ही सारी रात बीत गयी ।

प्रातः उठ कर चैतन्य एवं नित्यानन्द ने समुद्र-स्नान संपन्न किया । दोनों ने साथ ही दारुब्रह्म जगन्नाथ के दर्शन किये । उसी दिन से चैतन्य का विराट् भावान्तर दृष्टिगोचर होने लगा । वे भक्तों के सान्निध्य का त्याग कर कृष्ण विरह के महासागर में निमज्जित हो गये । भक्त कवि वृन्दावन दास ठाकुर की भाषा में—

से दिन हइते प्रभुर
हैल कोनू दशा ।
निरन्तर कहे कृष्ण
विरहेर भाषा ।।

चैतन्य इस दिन से गंभीरा के गर्भ में प्रवेश कर गये,तथा उनके प्रतिनिधि, नित्यानन्द, समाज जीवन के उदार उन्मुक्त प्रांगण में निकल पड़े— प्रेमधर्म के श्रेष्ठतम साधक एवं वाहक के रूप में । मानों चैतन्य की शक्ति नये सिरे से अवधूत के जीवन में संचारित हो चुकी है—नव-प्रचारित प्रेमधर्म आज मानों उन्हीं के अंदर विग्रहीभूत हो पड़ा है ।

नित्यानन्द पानिहाटी में इष्ट गोष्ठी के हेतु पधारे हैं । चतुर्दिक, जयध्वनि एवं उल्लास का वातावरण है । एक दिन नदी तीर पर एक वृक्ष के नीचे पार्षदों के साथ बैठे हुए हैं । इसी समय, एक तरुण ने आकर उन्हें भक्तिपूर्वक प्रणाम निवेदित किया । सेवकगण ने कहा, ‘‘प्रभु ये सप्तग्राम के जमींदार के पुत्र रघुनाथ हैं । आपके कृपा-प्रार्थी हैं ।’’

रघुनाथ की बात से नित्यानन्द अवगत हैं । यह वैराग्यवान भक्त इससे पूर्व, शांतिपुर में चैतन्य के साथ साक्षात्कार कर चुका है । प्रभु, इन्हें आशीर्वाद दे चुके हैं, तथा कुछ दिनों तक और गृहस्थी में रहकर धर्माचरण करने का उपदेश दे चुके हैं । उस देव दुर्लभ मूर्त्ति के दर्शन के उपरान्त, भक्त रघुनाथ के हृदय में उथल-पुथल मची है कि कब वे गृहस्थी का त्याग कर प्रभु के चरणों में आश्रय ले सकेंगे । इसी चिंता में उनका समय व्यतीत हो रहा है ।

दयालु निताई-चांद की बात तथा उनके जीवोद्धार की नाना कहानियाँ रघुनाथदास सुन चुके हैं। चैतन्य प्रभु की इस प्रतिच्छाया के दर्शनों की अभिलाषा उनके हृदय में बहुत दिनों से थी! आज अवसर मिलते ही वे उतावले होकर यहाँ पहुँच गये हैं।

परम भक्त रघुनाथ के आगमन से नित्यानन्द का अंतर प्रसन्नता से भर उठा। परन्तु इस बीच रघुनाथ खिसक गये हैं, और दूर, दीनतापूर्वक, खड़े हैं। निताई उन्हें जोर देकर पास लाये तथा अपने दोनों पैर उनके सिर पर स्थापित कर दिया। उसके बाद कृत्रिम क्रोध दिखाते हुए उन्होंने कहा, "क्यों रे, चोर, तुम इतने दिनों तक पास न आकर दूर-दूर क्यों भागता रहता है ? आओ, आज मैं तुम्हारे लिये दण्ड का विधान करूँगा। मेरे सभी भक्तों को तथा वैष्णवों को तू दही-चिवड़ा का भोजन करा डाल।"

यह तो रघुनाथ का परम सौभाग्य था। यह आदेश तो प्रभु निताई का दण्ड विधान नहीं है, वरन् उनका वरदान है। समकालीन गौड़ देश के श्रेष्ठतम जमींदार के वे पुत्र हैं, तथा धन-संपदा का उन्हें अभाव नहीं है। निदेश मिलते ही चारों ओर लोग दौड़ाये गये। शीघ्र ही चिवड़ा महोत्सव की सारी सामग्री एकत्रित कर ली गयी।

भार के भार चिवड़ा, दही, गुड़ केला एवं मिष्टान्न एकत्रित कर डाले गये। पानीहाटी के गंगा तट पर वैष्णव समाज का आनन्द मेला जुट गया। वहाँ लाखों लोगों का समावेश था और चारों ओर और-और का ही शोर था। अपने घनिष्ट परिकरों के साथ, नित्यानन्द, इस पवित्र भोजन से मतवाले हो उठे।

किंवदन्ती है, कि महाबली निताई उस दिन के इस महोत्सव में महाप्रभु चैतन्य को भी आकर्षण कर के ले आये थे, तथा उन्हें भी उन्होंने चिवड़ा-दही का भोजन कराया था। कई भाग्यवान भक्त, उस दिन गौड़ एवं निताई, इन दोनों प्रभुओं का लीला-कौतुकी रूप देख कर धन्य हो गये।

पुलिन-भोजन के पश्चात् आरम्भ हुआ, राघव पंडित के घर पर नृत्य एवं कीर्तन। नित्यानन्द मानो आज प्रेम-तरंग के आवेश से उद्वेलित हो उठे हैं। अंतर के द्वार पता नहीं कब उन्मुक्त हो चुके हैं। राघव के घर पर उस दिन उन्होंने एक और अलौकिक लीला कर डाली।

उद्दण्ड कीर्तन के पश्चात्, प्रसाद-ग्रहण के लिए पुकार हुई। नित्यानन्द के आसन की दाहिनी तरफ, चैतन्य प्रभु के लिये एक आसन लगाया हुआ है। राघव पंडित ने विस्मय पूर्वक देखा, कि नित्यानन्द के बगल में चैतन्य प्रभु

प्रसाद पाने के लिये बैठे हुए हैं। कहाँ सुदूर नीलाचल, तथा कहाँ पानिहाटी ! भक्त का आकर्षण, प्रभु को यहाँ तक खींच लाया है, तथा अलौकिक दिव्य शरीर धारण करके वे यहाँ उपस्थित हो गये हैं। दोनों प्रभुओंका भोजनावशिष्ट राघव पंडित ने उठा कर भक्त रघुनाथ को अर्पित किया।

दूसरे दिन गंगा-स्नान के पश्चात्, नित्यानन्द ने सभी के समक्ष कृष्ण-कथा आरम्भ की है। इसी समय रघुनाथ ने दीन भाव से उनकी चरण-वन्दना की। हाथ जोड़ कर उन्होंने कहा, "प्रभु, वामन होकर मेरी चाँद पकड़ने की लालसा है। महाप्रभु चैतन्य के चरणों में आश्रय पाने की मेरी तीव्र अभिलाषा हो गयी है। परन्तु बार-बार मेरे मार्ग में बाधाएँ आती जा रही हैं।"

"रघुनाथ, तुम तो महाभक्त हो। बाधाएँ आने से तुम्हारे पैर पीछे क्यों लौटेंगे ? और दीन तथा और आर्त होकर अग्रसर हो जाओ।"

परन्तु विख्यात वैष्णवों से तो रघुनाथ सुन चुके हैं कि निताई की कृपा का लाभ न होने पर गौर-कृपा लाभ कर पाना अत्यन्त कठिन है। इसीलिए आज उनकी कृपा हेतु उनकी समग्र सत्ता विह्वल हो उठी है। कातर कण्ठों से उन्होंने निवेदन किया—

तोमार कृपा बिन केह
चैतन्य ना पाय।
तुमि कृपा कैले तारे
अधमेउ पाय।।
अयोग्य मु निवेदन
करिते करो भय।
मोरे चैतन्य देह गोसाँई
हइया सदय।।
मोर माथे पद धरि
करह प्रसाद।
निर्विघ्ने चैतन्य पाई,
कर आशीर्वाद।।

रघुनाथ के सिर पर अपने चरण रख कर नित्यानन्द ने अपना आशीर्वाद प्रदान किया। अपन साथी पार्षदों से उन्होंने कहा, "भक्त रघुनाथ की विषय-वासना नष्ट हो चुकी है, तुम सभी आशीर्वाद दो कि प्रार्थित चैतन्य-पद की उन्हें शीघ्र प्राप्ति हो।"

मुमुक्षु रघुनाथ के दोनों नेत्रों से उस समय अविरल अश्रुधारा गिरती जा रही है। नित्यानन्द ने उन्हें सस्नेह आश्वासन देते हुए कहा, "रघुनाथ तुम तो महाभाग्यवान हो। तुम्हारे ऊपर कृपा करके ही गौरसुन्दर, नीलाचल से यहां आकर तुम्हारे पुलिन भोजन में योगदान कर चुके हैं। तुम्हारे महोत्सव के दही-चिवड़ा का उन्होंने भोजन किया है। रात में भी हमलोगों की पंघत में बैठ कर, प्रसाद-भक्षण में भी उन्होंने संकोच नहीं किया। तुम्हारे प्रति इतने कृपालु होकर जो भागते हुए चले आ सकते हैं, वे क्या तुम्हारे विषय-बन्धनों का मोचन करने में सक्षम नहीं होंगे ? कोई भय नहीं है। मैं आशीर्वाद देता हूँ, कि तुम्हें शीघ्र ही चैतन्य-चरणों की प्राप्ति होगी, और तुम उनके अंतरंग परिकर के रूप में अवश्य गिने जाओगे।"

नित्यानन्द की बातें सुनकर, रघुनाथ आश्वस्त हुए, तथा भक्तों की चरण-वन्दना करने के उपरान्त वे सप्तग्राम वापस लौट गये। नित्यानन्द के पुण्य स्पर्श को प्राप्त करने के उपरान्त, रघुनाथ की विषय विरक्ति अत्यन्त तीव्र हो उठी। इस आश्वासन के बाद उन्होंने घर के भीतर प्रवेश नहीं किया तथा शयन-कक्ष से भी विरत रहे। जितने दिनों तक भी गृहस्थी में थे, बाहर ही चंडी मण्डप में निवास करते, तथा कृष्ण-नाम-जप एवं गौराङ्ग चरणों के ध्यान में सदा निविष्ट रहते। दुर्लभ नित्यानन्द की कृपा के फलस्वरूप इस वैराग्यवान साधक ने शीघ्र ही दुर्लभ चैतन्य चरणों का लाभ किया।

सप्तग्राम के जमींदार के पुत्र, रघुनाथ, के इस रूपान्तर के माध्यम से नित्यानन्द की महिमा नये सिरे से प्रतिष्ठित हुई। और इसके साथ ही साथ सारे गौड़ देश का वैष्णव संगठन विस्मित एवं दृढ़तर होता गया। नित्यानन्द रघुनाथ द्वारा अनुष्ठित इस चिवड़ा महोत्सव की स्मृति, दीर्घ काल तक गौड़ीय वैष्णवों को उद्दीपित करती रही। आज भी उस क्षेत्र में इसकी स्मृति बनी हुई है।

× × ×

नाना स्थानों में घूमते-फिरते, नित्यानन्द, अम्बिका कालना आये हुए हैं। साथ में हैं, प्रिय शिष्य एवं सेवक उद्धारण दत्त। चैतन्य देव के प्रिय भक्त गौरीदास पंडित का निवास इसी नगर में है। पंडित के भ्राता, सूर्यदास, तत्कालीन राज सरकार के एक विशिष्ट कर्मचारी हैं। सज्जन एवं भक्त के रूप में उनकी भी ख्याति इस क्षेत्र में यथेष्ठ है। उनकी वसुधा एवं जाह्नवी नाम की दो विवाह-योग्य कन्याएँ हैं। दोनों ही सुलक्षणा एवं रूपवती हैं।

चैतन्य प्रभु की इच्छा यही है कि निताई विवाह करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करें। इसी कारण, इस बार निताई ने भी निश्चय कर डाला है। सूर्यदास पंडित के घर आने के बाद कन्या का संधान भी मिल गया, तथा पंडित की ज्येष्ठ कन्या, वसुधा से विवाह की नित्यानन्द ने प्रार्थना की।

वैष्णव समाज में उन दिनों, नित्यानन्द का अतुल प्रताप था। चैतन्य के अभिन्नहृदय भक्त एवं प्रतिनिधि के रूप में सर्वत्र उनकी असामान्य मर्यादा थी। सूर्यदास पंडित के लिये, उनका यह प्रस्ताव, यों ही टाल जाने लायक नहीं था। सामाजिक विधि-निषेध को वे किस प्रकार झेल पायेंगे ? अवधूत जीवन में जाति-पाति का कोई बंधन नहीं है, जहाँ-तहाँ, आहार-विहार करते फिरते हैं। उनको कन्यादान करने पर सामाजिक क्षोभ का सामना करना होगा। मित्र एवं आत्मीय-स्वजन गण भी इसका अनुमोदन नहीं करना चाहेंगे।

काफी सोच-विचार के बाद, सूर्यदास पंडित ने हाथ जोड़कर कहा, "प्रभु, आप मेरे घर कन्या के लिये याचना कर रहे हैं, यह परम सौभाग्य की बात है। परन्तु स्वयं ही सोचें, जो जाति वर्ण का त्याग कर चुका है, उसके हाथ मैं निष्ठावान ब्राह्मण होकर किस तरह कन्या का संप्रदान कर सकूँगा ? आप मुझे क्षमा करें।"

भक्त समाज के सारे युक्ति तर्क, वणिक श्रेष्ठ उद्धारण दत्त का अनुनय-विनय, सारे प्रयास उस दिन सूर्यदास पंडित को राजी नहीं करा पाये। अंततः इस विवाह प्रस्ताव के विषय में सभी ने चर्चा ही छोड़ दी। नित्यानन्द ने भी इस बात को उस समय आगे नहीं बढ़ाया। सेवक भक्त, उद्धारण दत्त को साथ लेकर वे गंगा तट पर चले गये, और एक एकांत कुटीर में निवास करने लगे।

इधर सूर्यदास पंडित के घर में एक आकस्मिक विपत्ति आ पड़ी। वसुधा एक असाध्य रोग से आक्रान्त हो गयी, और काफी प्रयत्न के बावजूद उसे कोई लाभ नहीं हुआ। हालत क्रमशः बिगड़ती ही गयी और मुमूर्षु रोगिणी को बचा पाने का कोई उपाय नहीं रह गया।

भक्त गौरीदास, उस दिन वहाँ उपस्थित थे। भाई से उन्होंने कहा, "सारी चेष्टाएँ तो तुम कर चुके, अब प्रभु नित्यानन्द का ही आवाहन करो और उनके शरणापन्न हो जाओ। इसके अलावा, वसुधा को बचा पाने का कोई उपाय मुझे दृष्टिगोचर नहीं होता। मुझे लगता है कि अवधूत का प्रस्ताव अग्राह्य करके उनका अपमान करने से ही यह विपत्ति उपस्थित हुई है।"

अन्य कोई उपाय न होने पर, सूर्यदास ने अश्रु-सजल नेत्रों से कहा, "फिर ऐसा ही हो। अवधूत से क्षमा मांग कर तथा उनके पैरों पर गिर कर उन्हें यहाँ ले आओ। यदि कन्या को उनकी कृपा के फलस्वरूप जीवन दान मिल जाता है, तो उन्हीं के हाथों उसे समर्पित कर डालूँगा।"

गंगा तट पर, वट वृक्ष के नीचे बैठ कर, नित्यानन्द, कृष्ण नाम का कीर्तन कर रहे हैं। सभी ने उनके पास जाकर क्षमा प्रार्थना की। विनती करके उन्हें सूर्यदास पंडित के घर ले आया गया।

मुमूर्षु वसुधा के सम्मुख खड़े होकर, उस दिन, अवधूत नित्यानन्द ने जो अलौकिक शक्ति का प्रकाश दिखाया, वह अत्यन्त विस्मयकर था। 'अद्वैत प्रकाश' नामक ग्रन्थ में इशान नागर ने इस दृश्य का एक मनोरम वर्णन दिया है। नित्यानन्द कहते हैं—

एई कन्याय यदि मु
जीयाइते पारि।
तबे मोरे कन्या दिबा
कह सत्य करि।।
शुनिया पंडित कहे
आर बंधुगण।
जीयाइले कन्या दिब,
करिलाम पण।।
ताहा शुनि नित्यानन्द
आनन्दित मने।
मृत संजीवन नाम
दिला काने।।
हरिनामामृत पिया
वसुधा उठिला।
अलौकिक कार्य सबे
विस्मय मानिला।।

वसुधा के स्वस्थ हो जाने के बाद सूर्यदास ने सानन्द निताई के साथ उसका विवाह कर दिया। इसके कुछ दिनों के बाद पंडित ने अपनी कनिष्ठा कन्या, जाह्नवी को भी उन्हें अर्पित कर डाला। चिर उदासीन, सर्व पाश-मुक्त अवधूत, चैतन्य की कृपा के फलस्वरूप, प्रेमधर्म के प्रधान उद्‌गाता, तथा

कृष्ण-नाम रस के प्रधान भंडारी हो उठे। फिर उन्हीं प्रभु की ही प्रेरणा से अब उन्हें गृहस्थ धर्म में आना पड़ा।

इसके बाद से, निताई, दोनों पत्नियों के साथ खड़दह में ही निवास करने लगे। यहाँ प्रेम के देवता श्यामसुन्दर विग्रह की सेवा करते हुए, उन्होंने गार्हस्थ्य के परिवेश को अमरावती के आनंद-कानन में परिणत कर डाला।

उनकी पहली पत्नी वसुधा देवी के गर्भ से परम वैष्णव वीरभद्र का जन्म हुआ। खड़दह के गोस्वामी-गण, इन्हीं के वंश की संतान-संतति हैं। द्वितीया पत्नी जाह्नवी देवा के पोष्टा पुत्र, रामाई गोस्वामी ने एक और गोस्वामी शाखा का विस्तार किया। बंगाल के जन-जीवन में प्रत्येक स्तर पर, काफी लम्बी अवधि तक, प्रेम-धर्म के प्रवाह को ये गोस्वामीगण विस्तारित करते रहे।

निताई तो भाव-प्रधान मनुष्य हैं। भाव प्रमत्त झंझा सदृश कभी वे अपने सामने की सभी वस्तुओं को तोड़-फोड़ कर उड़ा ले जाते, तो कभी अपार प्रेम एवं करुणा से विगलित होकर असंख्य धाराओं में अपने को प्रवाहित कर डालते। सर्वपाश-मुक्त अवधूत के जीवन के आधार पर दिन पर दिन प्रेम रस की यह अपरूप लीला ढलती रहती। भाव एवं रस प्रधान मनुष्य, निताई, अनेक बार उद्दाम एवं स्वातंत्र्यवादी महापुरुष के रूप में दृष्टिगोचर होते। किसी-किसी कठोरी, वैराग्यवान साधक की दृष्टि में यह स्वातंत्र्य एवं चांचल्य अरुचिकर लगता, तथा इस संदर्भ में निंदा एवं समालोचना भी अक्सर सुनने को मिलती।

नवद्वीप के एक ब्राह्मण, चैतन्य के सहपाठी थे। प्रभु एवं उनके प्रेम धर्म के प्रति उनका यथेष्ट अनुराग था। परन्तु गौड़ में आकर, निताई जिस आचार एवं आचरण का प्रदर्शन कर रहे हैं, उसे समझ पाने में वे सर्वथा असमर्थ हैं। अछूत तथा अन्त्यजों के साथ भोजन तथा उनके साथ नृत्य, इसके अलावा स्वर्णालंकार का धारण तथा सुगन्धि एवं माला इत्यादि विलास की वस्तुओं का व्यवहार—इन सब का क्या मतलब है? एक बार नीलाचल में निवास करते समय, अवसर पाकर, उन्होंने चैतन्य के पास इसकी चर्चा चलायी।

प्रभु ने हँसते हुए कहा, "यह कौन-सी बात है भाई, क्या तुम नहीं जानते कि अविकारी पुरुष एवं महासमर्थ साधकगण, सारे गुण-दोषों से अतीत हैं। भागवत में प्रभु ने स्वयं कहा है—

न मय्येकान्तभक्तानां
गुणदोषोद्भवा गुणाः ।
साधुनां समचित्तानां
बुद्धेः परमुपेयुषाम् ।

—जो रोगादि दोषों से शून्य हैं, जो सबके प्रति समदर्शी होकर प्रकृति से अतीत होकर परमेश्वर की प्राप्ति कर चुके हैं—मेरे उन एकान्त भक्तों के लिये विधि-निषेध जनित पाप-पुण्य का कोई संपर्क नहीं है।

ब्राह्मण देव की शंका का समाधान करते हुए, प्रभु ने और स्पष्ट रूप से कहा, "भाई, जिस प्रकार कमल के पत्रों पर जल का स्पर्श नहीं होता, उसी तरह मेरे नित्यानन्द पर पाप का स्पर्श भी नहीं लग सकता।।'

सर्वजन आराध्य प्रभु के मुख से नित्यानन्द के माहात्म्य की यह व्याख्या सुनकर ब्राह्मण के विस्मय की सीमा नहीं रही और वे अवाक् रह गये। प्रभु कहते ही गये।—

नित्यानन्द स्वरूप
परम अधिकारी।
अल्प भाग्ये ताहाके
जनिते ना पारि।।
अलौकिक चेष्टा येवा
किछु देखि तान।
ताहातेउ आदर करिले
पाई त्राण।।
पतितेर त्राण लागि
तार अवतार।
ताँहा हैते सर्वजीव
पाईबे उद्धार।।

तार आचार विधि—
निषेधेर पार।
ताँहारे बुझिते शक्ति
आछये काहार।।

बाद में एक बार प्रभु का गौड़ में आगमन हुआ। चारों ओर यह आनंद की बात फैल गयी। सहस्रों भक्तों के हृदय-सागर में प्रेम-भक्ति का उद्वेलन

होने लगा। गंगा के तट पर आनंद का मेला लग गया। उन्हीं दिनों पानिहाटी में राघव पंडित के घर पर एक दिन प्रभु ने उनके समक्ष नित्यानंद तत्त्व का वर्णन स्वयं किया। पंडित से उन्होंने कहा—

राघव तोमारे आमि
निज गोप्य कई।
आमार द्वितीय नाई
नित्यानन्द बई॥

एई नित्यानन्द येई
करायेन आमरे।
से-ई करि आमि, एई
बलिल तोमारे॥

आमार सकल कर्म
नित्यानन्द द्वारे।
एई आमि अकपटे
कहिल तोमारे॥

ये-ई आमि से-ई नित्यानन्द
भेद नाई।
तोमार घरेई सब
जानिबा हे थाई॥

प्रभु चैतन्य के इस इंगितपूर्ण रहस्योद्घाटन के माध्यम से राघव पंडित को नित्यानन्द तत्त्व का पूर्ण परिचय मिल गया, तथा गौड़ एवं निताई का अभेदत्व उनकी साधन सत्ता में पूर्ण रूप से स्फुटित हो उठा।

उन दिनों खड़दह को केन्द्र बनाकर, निताई अपने प्रेम-भक्ति रसस्रोत का जगह-जगह वितरण कर रहे थे। लगभग सारे गौड़ देश में उन दिनों अपूर्व प्राण-चांचल्य, प्रेमार्त्ति एवं उन्माद का वातावरण था। नीच-ऊँच सभी, दयालु निताई के प्रेम-स्पर्श से उद्दीपित हो उठे थे।

प्रेम नाट्य के इस रंगमंच पर निताई को परन्तु अधिक दिनों तक रख पाना संभव नहीं हो सका। उनके जीवन में धीरे-धीरे एक दिव्य भावान्तर का आत्म-प्रकाश घटित होने लगा। कहाँ चले गये वे निताई जो मत्त गजराज सदृश अपने नृत्य ताण्डव से धरती को कँपा डालते थे? प्रेम विगलित अश्रुधारा से जो सैंकड़ों पाखंडियों को अनायास आत्मसात् कर

डालते थे, वे ही आज धीरे-धीरे अपने अंतर के किस गुप्त नीड़ का आश्रय लेते चले जा रहे हैं ?

भक्त एवं पार्षदों के हृदय में इसके लिये विषाद् की सीमा नहीं रही। नित्यानन्द की इस अंतर्मुखी अवस्था से वे असह्य वेदना पाते तथा अपने को असहाय बोध करने लगे।

इसके बाद ही गौड़वासियों को एक भयानक आघात लगा। नीलाचल धाम से सूचना मिली कि प्रभु श्री चैतन्य, भक्तों को शोकसागर में निमज्जित करते हुए अंतर्धान हो गये हैं।

नित्यानन्द ने धीरे-धीरे अपने को और भी अंतर्मुखीन कर डाला। प्रायः ही वे बाह्यज्ञानहीन रहने लगे। इस अर्धबाह्य अवस्था में उनके मुख से केवल कृष्ण-कथा एवं गौर-गुण गान ही उच्चरित होते।

वृन्दावन दास ने नित्यानन्द की इस समय की मनोदशा का चित्र प्रस्तुत करते हुये लिखा है—

चैतन्य विच्छेदे सदाई प्रभुर विलाप।
कदाचित् बाह्य हइले चैतन्य आलाप।।

कायमनोवाक्ये सदा चैतन्य धेयाय।
उच्च शब्द करि सदा गौरांग गुण गाय।।

आपने गौरांग गाई गाउयाय जगते।
गौरांगेर गुण गाओ पावे नन्द सुते।।

सदा से प्रेम विह्वल निताई क्रमशः भावगंभीर एवं दुरूह हो उठे। इस दशा में नौ वर्ष व्यतीत हो गये।

१४६४ शकाब्द की प्रभात वेला। श्यामसुन्दर मंदिर में मंगलारति के उपरान्त नृत्य एवं कीर्तन का अनुष्ठान हो रहा है। अवधूत नित्यानन्द से साक्षात् हेतु अद्वैत प्रभु उस दिन खड़दह मंदिर में उपस्थि हैं। दोनों प्रभुओं के मिलन से भक्तों के आनन्द की सीमा नहीं है।

निताई भी उस दिन के कीर्तन में दिव्य भाव से उद्दीपित हो उठे। क्रमशः महाभाव का गंभीर आवेश दृष्टिगोचर होने लगा। उस दिन यह आवेश भंग नहीं हो सका। महान जीवन-लीला का शेष अंक समाप्त करके नित्यानन्द सदा के लिए नित्य लीला में प्रविष्ठ हो गये। मात्र खड़दह तथा गौड़ में ही नहीं, वरन् सारे भारत के भक्त-समाज पर विषाद का गहन अंधकार व्याप्त हो गया।

ईश्वर द्वारा प्रेरित पुरुष के रूप में नित्यानन्द का आविर्भाव हुआ था। जिसका प्रकाश प्रभु श्री चैतन्य के प्रधान सहकारी के रूप में दृष्टिगोचर हुआ। प्रेम-भक्ति की उत्ताल तरंग से उन्होंने दिग्-दिगन्त को ओत-प्रोत कर डाला। कर्म मुखर-लीला चंचल जीवन के चामात्कारिक अध्याय एक के बाद एक शेष होते गये। जितना भी वे अपने को प्रकट कर सके उससे कहीं अधिक गुप्त ही रह गया। जिस परिमाण में वे जीव को रुलाते, उससे कहीं अधिक स्वतः ही करुणा-विगलित हो उठते। नित्यानन्द की अवस्था का वर्णन करते हुये उनके श्रेष्ठ भक्त-कवि को कहना पड़ा है—

बड़ गूढ़ नित्यानन्द एई अवतारे ।
चैतन्य देखान यारे से देखिते पारे ॥

रूप गोस्वामी

श्रावण की झरझर करती हुई निशीथ वेला। झम-झम करती हुई लगातार मूसलाधार वृष्टि हो रही है और इसके साथ ही प्रवाहित हो रहा है प्रबल झंझावात। इस दुर्गम रात्रि में रामकेलि होते हुए गौड़ शहर की ओर एक तामजाम अग्रसर हो रहा है। फिसलन भरी राह, चतुर्दिक घना अंधकार अतः वाहकगण बड़ी सतर्कता से मार्ग में अपने कदम रख रहे हैं।

सुल्तान हुसेनशाह के राजस्व विभाग के अधिकर्त्ता, संतोष देव, उस तामजाम के भीतर चिन्ताकुल बैठे हैं, तुरत उपस्थित होने के लिए सुल्तान की आवश्यक बुलाहट जो है। अतः वर्षा की इस भयानक मध्यरात्रि में निकल पड़े हैं वे इस प्रकार।

असमय में हठात् यह तलब क्यों? राज्य मंत्रि-परिषद् में कोई परिवर्त्तन तो नहीं हुआ है? राजकीय कोष का गबन तो नहीं हुआ है? अथवा सुल्तान किसी गोपनीय सामरिक अभियान पर तो नहीं जा रहे हैं जिसके कारण कोषागार को खोलने के लिए इतनी शीघ्रता से अधिकर्त्ता की तलब की गई है? जरीदार किमखाब से आच्छादित तामजाम के भीतर तकिया पर

ओठंगकर संतोषदेव बैठे हैं और हुक्के की नली उनके मुँह में है। बीच-बीच में चिन्ता-भार से तनावयुक्त हो आगे झुकते हैं और इसके साथ ही उनके हुक्के से बादशाही सुगंधित तम्बाकू का सुवासयुक्त धुँआ चतुर्दिक विकीर्ण होता जा रहा है।

तिमिराच्छन्न राजमार्ग अकस्मात् विद्युत् के आलोक से प्रदीप्त हो उठा। झंझावात के कारण एक विशाल वृक्ष सड़क के आर-पार गिर पड़ा है और मार्ग प्राय: अवरुद्ध-सा हो गया है। अब मार्ग पर आगे बढ़ने का कोई उपाय भी नहीं है। इस राजमार्ग की एक ओर राजनगरी में काम-काज कर अपना जीवन-यापन करनेवाले रजकलोगों की पंक्तिबद्ध पर्णकुटियाँ खड़ी हैं।

राजमार्ग अवरुद्ध होने के कारण तामजाम को लेकर कहार पर्णकुटीर की ओलती से सटकर शनै: शनै: चल रहे हैं। वर्षा के कारण वहाँ घुटने तक जल जमा हो गया है जिसे कहार अपने पाँवों से धीरे-धीरे ठेलकर आगे बढ़ रहे हैं।

पर्णकुटीर में चल रहा संवाद तामजाम में उपविष्ट संतोषदेव के कानों में पहुँचा। गंभीर रात्रि की इस घनघोर वृष्टि में भला कौन पथ पर चल रहा है, इसी प्रसंग को लेकर धोबी-दम्पति की कथावार्ता चल रही थी।

पुरुष का कंठ-स्वर प्रश्न कर रहा था —'इस अंधकार में घुटने भर जल में छप-छप करता हुआ कौन जा रहा है, इसे कौन जानता है ?'

नारी का कंठ-स्वर उत्तर दे रहा था—'दूसरा भला कौन होगा ? या तो कुत्ता होगा अथवा चोर। नहीं तो राजा का कोई गुलाम होगा। इस विषम वेला में गृह-त्याग तो कोई भी नहीं करता।'

'नहीं रे, कुत्ता भी नहीं है और चोर भी नहीं है। कई मनुष्यों द्वारा पाँव से जल ठेलने का शब्द सुनाई पड़ रहा है। संभवत: कोई हतभाग्य राजकर्मचारी है जो आवश्यक तलब पा अपने रक्षक दलों के साथ पथ पर चल रहा है।'

तामजाम के भीतर अर्द्धशायित संतोषदेव तुरत उठकर बैठ गए मानो दम्पति की कथावार्ता ने उन्हें बिच्छू की तरह डंक मारा हो। कुत्ता अथवा तस्कर अथवा राजा के गुलाम, एक ही पर्यायवाची हैं ये सब। निश्चय ही यह तो एक दरिद्र और निरक्षर दम्पति की कथा है और अवश्य ही यह एक स्थूल तरीके का मन्तव्य है, परन्तु कथा तो मोटे तौर पर असत्य नहीं है। राजा की गुलामी होने पर भी है तो यह घृणित अवश्य। स्वर्ण-पिंजर हो अथवा लौह-पिंजर, बंदी पक्षी के जीवन में तो वह एक सदृश दुर्भाग्य लाएगा।

खिन्न-हृदय संतोषदेव ने अपने सम्पूर्ण जीवन पर दृक्पात किया। उन्होंने धन-ऐश्वर्य यथेष्ट अर्जित किया और इसके साथ ही उन्हें प्रचुर राज-सम्मान भी मिला। सुल्तान का कृपा-पात्र समझ सभी उनका आदर करते हैं और संभ्रम से उन्हें देखते हैं परन्तु यह सम्मान और ऐश्वर्यमय जीवन तो अभी भी दासत्व की शृंखला से आबद्ध है। मुक्ति की आकांक्षा से चिर दिनों से दग्ध हो रहा हूँ लेकिन आज भी वह हस्तगत नहीं हुई। यह व्यर्थ का जीवन, यह बन्ध्या जीवन आज निश्चय ही मेरे लिए दुर्वह हो रहा है। नहीं, अब और अधिक नहीं, इसबार राज-प्रशासन के उच्च पद का त्यागकर और अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति को लुटा मैं मुक्ति-मार्ग का अनुगामी बनूँगा और इष्ट-दर्शन के निमित्त, कृष्ण-प्राप्ति के निमित्त मृत्यु को भी वरण करूँगा।

उस दिन के उद्दीपन और आर्तता के कारण संतोष देव का जीवन रूपान्तरित हो गया। राजानुग्रह और राज-सेवा का उन्होंने शीघ्र ही त्यागकर कृष्ण सेवा में अपना समग्र जीवन अर्पित किया और इसके साथ ही महाप्रभु चैतन्यदेव प्रदत्त रूप गोस्वामी नाम धारण कर उनके अन्यतम पार्षद के रूप में उन्होंने प्रसिद्धि प्राप्त की तथा सम्पूर्ण भारतवर्ष में एक श्रेष्ठ वैष्णव नेता के रूप में कीर्त्ति अर्जित की। गौड़ीय वैष्णव धर्म के अन्यतम अधिनायक के रूप में उन्होंने जिस भूमिका का निर्वहण किया वह आज भी अविस्मरणीय है।

रूप गोस्वामी के पूर्व पुरुष दक्षिण भारतवर्ष के वैदिक ब्राह्मण थे। किसी समय ये लोग कर्णाटक के किसी अंचल में राज्य करते थे। परवर्त्ती काल में इसी वंश के कोई अध:पतित पुरुष गौड़ देश में आकर राजसरकार में कार्य करने लगे और इस प्रकार स्थायी रूप से गौड़ देश में निवास करने लग गए।

इसी वंश के मुकुन्द देव नाम के व्यक्ति गौड़ देश के शासक के एक सुदक्ष और आस्थावान् उच्च कर्मचारी थे। इनके पुत्र का नाम था कुमारदेव जो एक शास्त्रविद् वैष्णव के रूप में प्रख्यात थे। असमय में ही अपने तीन अवयस्क (नाबालिग) पुत्रों को छोड़कर वे संसार से चल बसे और इस तरह पितामह मुकुन्ददेव के ऊपर अपने तीन पौत्रों, अमर, संतोष और बल्लभ, को मनुष्य बनाने का भार आ पड़ा।

परवर्त्तीकाल में अमर, संतोष और बल्लभ ने प्रभु श्री चैतन्यदेव की कृपा और उनके आश्रय का लाभ पाया। प्रभु ने इनका यथाक्रम नूतन नामकरण किया – सनातन, रूप और अनुपम। अनुपम ने अपने एकमात्र पुत्र श्रीजीव को छोड़कर असमय में ही अपनी इहलीला समाप्त की। परवर्त्तीकाल में श्री चैतन्यदेव के अन्तरंग पार्षद के रूप में तथा वृन्दावन के भक्ति–साम्राज्य के नियन्ता रूप में सनातन और रूप का अभ्युदय हुआ।

सनातन और रूप की शिक्षा में पितामह मुकुन्ददेव ने कोई त्रुटि न रहने दी। रामकेलि में रामभद्र वाणीविलास के सन्निकट उन दोनों ने जब व्याकरण की शिक्षा समाप्त कर ली तब उन्हें नवद्वीप भेज दिया। वहाँ जाकर उन्होंने रत्नाकर विद्यावाचस्पति तथा वासुदेव सार्वभौम के समीप उच्च शिक्षा ग्रहण की।

मुकुन्ददेव विचक्षण व्यक्ति थे। वे जानते थे कि मात्र शास्त्र विद्या के द्वारा राज्य सरकार में उच्च पद प्राप्त नहीं किया जा सकता, इसके लिए तो चाहिए अरबी और फारसी भाषा की शिक्षा। सप्तग्राम के शासक सैयद फकरुद्दीन मुकुन्ददेव के मित्र थे। अरबी और फारसी के वे अगाध पंडित थे। उनके तत्त्वावधान में रहकर दोनों भाइयों ने इन दोनों भाषाओं का बड़ी निष्ठा से अध्ययन किया और अल्प समय में ही उनमें व्युत्पन्नता प्राप्त कर ली।

दरबार में पितामह की प्रतिपत्ति थी ही अतएव अल्प वयस में ही सनातन राजकार्य में प्रविष्ट हो गए। अपनी प्रखर बुद्धि, प्रतिभा और कर्मकुशलता के कारण वे प्रधान सचिव के पद पर आसीन हुए। अपने कनिष्ठ भ्राता रूप को इन्होंने राजस्व विभाग में प्रविष्ट करा दिया। इन्होंने भी अपनी विद्या, बुद्धि और परिचालन की दक्षता के कारण अल्प समय में सुलतान की दृष्टि आकर्षित कर ली, फलस्वरूप सुलतान ने इनकी पदोन्नति राजस्व अधिकर्त्ता के उच्च पद पर कर दी।

गौड़ के सन्निकट रामकेलि ग्राम में दोनों भाई निवास करते थे। पद-मर्यादा, वित्त तथा शिक्षा-दीक्षा के क्षेत्र में वे तो अग्रणी थे ही, धर्म एवं समाज का नेतृत्व भी उन्हीं लोगों के करायत्त था। रामकेलि के उनके निवास पर प्रायः शास्त्रविद् ब्राह्मणों का जमघट होता जहाँ बड़े उत्साह से धर्म-चर्चा एवं विचारों का आदान-प्रदान चला करता। रूप और सनातन की विद्या और विदग्धता सबों की दृष्टि अपनी ओर आकर्षित कर लेती। उनके घर पर तो ब्राह्मण और साधु-संन्यासियों की भीड़ लगी ही रहती, भातृ-द्वय के आदर आप्यायन तथा दान-ध्यान से सबों को पर्याप्त संतोष भी प्राप्त होता।

रामकेलि के इस परिवेश से बाहर आने पर भातृ-द्वय का एक और रूप परिलक्षित होता। वहाँ उनके गौड़ाधिप के आस्थावान् और अति अन्तरंग उच्च कर्मचारी रूप का दर्शन होता। वे तो वहाँ दरबार के मुस्लिम परिवेश में रूपान्तरित मनुष्य दिखलाई पड़ते। उनकी चोगा-चपकन समन्वित पोशाक, अरबी फारसी भाषा की उनकी चमत्कारिता तथा उनके मुसलमानी अरब-कायदा को देखकर कोई यह नहीं समझ सकता कि वे एक निष्ठावान् हिन्दू एवं सनातन धर्म के धारक और वाहक भी हैं।

रूप और सनातन के वंश में पूर्व से ही वैष्णवीय संस्कार विरासत के रूप में वर्तमान थे। भातृ-द्वय में यह संस्कार अब शनैः शनैः प्रबल हो गया। प्रेम-भक्ति की इस धारा से उनका अन्तर अभिसिंचित हो गया; अब कृष्ण-कृपा और कृष्ण-प्राप्ति हेतु उनके मन और प्राण भी अधीर एवं चंचल हो उठे। मुक्ति जन्य उत्कटता और विषय-वैराग्य धीरे-धीरे दुर्निवार हो गया।

उस समय सम्पूर्ण गौड़ देश में नवद्वीप का चंचलकारी संवाद फैल चुका था। श्री चैतन्यदेव के अभ्युदय की कथा, प्रेम-भक्ति धर्म के उनके नवीन आन्दोलन की कथा अन्य स्थानों की भाँति रामकेलि में भी आलोचित और चर्चित हो रही थी। भक्त मानव और मुक्तिकामी मानव नवीनतर आवेग और नवीनतर आशा से अधीर हो रहे थे।

प्रभु श्रीचैतन्यदेव के चरणों का आश्रय पाने की इच्छा से भातृ-द्वय ने उस समय उन्हें पत्र भेजा; परन्तु प्रभु ने कुछ समय और प्रतीक्षा करने का परामर्श दिया।

इसके पश्चात् संन्यास-ग्रहण के बाद प्रभु स्वयं वृन्दावन गमन के व्याज से एक दिन रामकेलि में आ उपस्थित हुए। रूप और सनातन दौड़ पड़े उनके पाद-पद्मों पर; संसार-त्याग हेतु भातृ-द्वय बेचैन हो गए हैं लेकिन इसबार भी प्रभु ने बाधा डाली—कुछ दिनों तक और धैर्य धारण करने को कहा।

प्रभु के उस दिन के दर्शन और आशीर्वाद के फलस्वरूप भ्राता-द्वय का मन विषय-वितृष्णा से भरपूर हो उठा। इसके बाद वे कैसे अपनी जंजीरों को काटकर उन्मुक्त श्वास ले सकेंगे, इसी चिन्ता में दोनों निमग्न हो गए।

मन की इस निर्विण्णावस्था में उस दिन की दुर्योगमयी रात्रि में रूप के प्राणों में एक प्रचण्ड भूचाल-सा आया और उन्होंने शीघ्र ही गृह-त्याग का निर्णय लिया। प्रभु श्रीचैतन्यदेव का पदाश्रय ग्रहण कर कंथा-करंकधारी वैष्णव के रूप में श्रीकृष्ण-भजन में अवशिष्ट जीवन व्यतीत करने का उन्होंने संकल्प लिया।

रूप और सनातन, भ्राता-द्वय, अत्यन्त आकस्मिक रूप से राज-वैभव का परित्याग कर न तो वैरागी बने और न मंत्र-बल द्वारा प्रेमभक्ति-रस के ज्ञाता हुए? इसके लिए सांसारिक जीवन में, उच्च राजपद पर अवस्थित रहते सदा ही दीर्घ प्रस्तुति के मध्य वे अग्रसर हो रहे थे। इस प्रस्तुति का मूल्य-निरूपण न करने पर उनके त्यागपूत जीवन के मूल रहस्य का पता हमें नहीं लग सकता। भक्तिरत्नाकर में उल्लेख है—

सदा शास्त्र-चर्चा करते दोनों जन।
अनायास करते वे खंडन-मंडन।।
न्यायसूत्र की व्याख्या निजकृत करते जो।
सनातन रूप सुनकर दृढ़ होते जो।।

गवेषक और इतिहासकार सतीशचन्द्र मित्र रूप और सनातन की शास्त्र-चर्चा का मार्मिक चित्रण इस प्रकार करते हैं :—

एसी बात नहीं है कि केवल भ्राता-द्वय तर्क द्वारा किसी मत का खंडन या नूतन मत का स्थापन करते, किसी अन्य पंडित द्वारा न्यायशास्त्र की कोई नूतन व्याख्या किए जाने पर जबतक उन भ्राता-द्वय को ज्ञापित करा उनका अनुमोदन प्राप्त नहीं होता तबतक किसी का भी चित्त सुस्थिर नहीं हो पाता। इस प्रकार उच्च राजकार्य का सम्पादन करते हुए यत्किंचित अवसर प्राप्त होता, उसे भ्रातृ-द्वय शास्त्र-चर्चा में ही व्यतीत करते। सनातन के गुरु विद्यावाचस्पति महाशय साधारणतः नवद्वीप के समीप विद्यानगर में ही वास करते थे। जब कभी उनके ज्येष्ठ भ्राता पुरी गमन करते और पिता काशी जाते तभी वे समय-समय पर दीर्घकाल तक गौड़ में रहते। दूर देश-देशान्तर से जो सब शास्त्रविद् पंडित ब्राह्मण आते, राजाज्ञा से आए हों अथवा सनातन के निमत्रण पर, युगल भ्राता अपने रामकेलि के निवास पर उनकी समुचित अभ्यर्थना करते और श्रद्धापूर्वक आप्यायन कर उन सभी को परितुष्ट करते। इस निमित्त अजस्त्र व्यय भार वहन करने में वे कभी हिचकिचाते नहीं। रामकेलि में पाठशाला थी जहाँ संस्कृत-शास्त्र का पठन-पाठन होता था। वे इसके सभी अनुष्ठानों के प्रधान संरक्षक थे। इस प्रकार अनेक तरह से रामकेलि में अनेकानेक ब्राह्मणों का आगमन होता; सुदूर कर्णाटक से भी उनके अपने सम्प्रदाय के वैदिक ब्राह्मणों का आगमन होता। जिस प्रकार सुगंधयुक्त कुसुम के प्रस्फुटन के कारण तज्जन्य सौरभ से आकृष्ट हो चतुर्दिक से भृङ्ग-समूह वहाँ इकट्ठे होते हैं, उसी प्रकार उनकी कीर्त्ति सर्वत्र विकीर्ण हो गई थी। समागत ब्राह्मण पंडितों में से अनेक के लिए उन्होंने वासस्थान की व्यवस्था कर दी थी।

कर्णाटादि देशों के आगत ब्राह्मणों को।
रूप सनातन निज देशस्थ विप्रों को।।
देते निवास जिन्हें गंगा के सन्निधान में।
'भट्टवाटी' ग्राम में भट्ट गोष्ठी आवास में।
जो थे सर्वशास्त्रविद् सब भाँति अनुपम।

कलकत्ते के समीप आधुनिक भट्टपल्ली अथवा भाटपाड़ा की तरह रामकेलि के समीप में गंगा के किनारे एक और भट्टवाटी ग्राम था जिसके चिह्न तक दिखलाई नहीं पड़ते अब।

अवसर मिलने पर वे लोग केवल शास्त्रचर्चा करते, ऐसी बात नहीं है, धर्म-साधना में भी उनके पैर पीछे नहीं थे। मानव का नूतन निर्माण एक ही दिन में नहीं हो पाता। सभी प्रतिभाओं का उन्मेष तो पूर्वजन्म से ही होता है, यदि कोई ऐसा सोचता हो कि मुसलमान शासक के कर्मचारी, रूप और सनातन, वृन्दावन जाकर एक बारगी असाधारण पंडित और भक्तचूड़ामणि हो गए तो यह उनकी मिथ्या धारणा है। भ्रातृ-द्वय तो पूर्व से ही असाधारण पंडित थे, साथ ही साथ, उनमें भक्ति का उन्मेष तो उनके कर्ममय जीवन में ही हुआ था; ऐसा नहीं होने पर उन्हें देखने के लिए स्वयं महाप्रभु चैतन्य नीलाचल से दौड़े हुए रामकेलि नहीं आ सकते। युगल-भ्राता अत्यन्त निष्ठापूर्वक श्रीमद्भागवत का अध्ययन करते तथा वृन्दावन-लीला का भी प्रायः अनुष्ठान करते। वृन्दावन-लीला के अनेक विग्रह रामकेलि ग्राम में अनेक जगहों पर प्रतिष्ठित किए गए थे, तभी तो इस ग्राम का अपर नाम था कृष्णकेलि। रामकेलि के उनके आवास के चतुर्दिक श्यामकुण्ड, राधाकुण्ड, विशाखाकुण्ड—इस नाम से अनेको सरोवर थे। उनके साधन-भजन के सम्बन्ध में भक्ति रत्नाकर में उल्लेख हुआ है :—

> गृह समीप अति निभृत स्थान में,
> कदम्ब कानन बीच राधाश्याम कुंड में।
> करते वृन्दावनलीला औ करते चिंतन,
> न धरते धीरज आँखे चुचाती अनुक्षण॥

अभी भी वे विग्रह-सेवा, साधु-संग और साधु-सेवा कर रहे हैं। समय-समय पर ऐसा करने में असमर्थ होने पर वे विरक्त और विषण्ण हो जाते हैं। विषयी राजा की सेवा में राजकार्य के परिचालन के क्रम में जब उन्हें पद-पद पर अपने मनोनुकूल पथ पर अन्तराय उपस्थित होते हैं, तब वे अविरत अनु-ताप की अग्नि में दग्ध होने लगते हैं। इसी अनुताप ने उनके लिए वैराग्य का पथ उन्मुक्त किया।

रुप और सनातन इन दोनों भ्राताओं में यौवन के प्रस्फुटन के साथ-साथ प्रतिभा का विकास भी दिखलाई देने लगा था, इसके साथ-साथ संस्कृत शास्त्र तथा अरबी-फारसी साहित्य की पारदर्शिता भी सम्मिश्रित थी। तत्पश्चात् दोनों भाई अपनी-अपनी विशिष्टता को लेकर उमड़े। एक ओर यदि दर्शन-

शास्त्र में सनातन का कुछ विशेष अधिकार परिलक्षित हो रहा था तो दूसरी ओर काव्य-व्याकरणादि में रूप का। यौवनावस्था में लोगों में कवित्व का उन्मेष होता है और रूप में भी वैसा हुआ था। गौड़ में रहते समय ही इन्होंने हंसदूत और उद्धव-संदेश नाम के दो काव्यों की रचना की थी। अपने अग्रज की अपेक्षा रूप ने फारसी भाषा में अधिक पारदर्शिता प्राप्त की थी, ऐसा प्रतीत होता है। इनकी काव्यानुरक्ति का यह प्रधान कारण है। इनकी भाषा में काव्य-कला की जिस मधुर झंकृति की अनुभूति होती है उसे फारसी साहित्य का ही ऋण स्वीकार करना पड़ेगा। अपनी तरुणावस्था में सप्तग्राम में रहकर, दोनों भाइयों ने तत्कालीन प्रसिद्ध पंडित और शासनकर्त्ता सैयद फकरुद्दीन के समीप रहकर फारसी भाषा की शिक्षा उपार्जित की थी।

सनातन की विद्या-बुद्धि और कार्यदक्षता से मुग्ध होकर सुल्तान हुसेनशाह ने उनके कनिष्ठ भ्राता रूप को राजस्व विभाग में एक ऊँचा पद प्रदान किया। इस विभाग के कार्य-संचालन में जिस सूक्ष्मता, कार्यकुशलता और लोक-परिचालक की क्षमता प्रयोजनीय है, रुप में वे सभी थे। वे स्थूलकाय थे। उनकी मुखाकृति में एक प्रखर तेजस्विता प्रच्छन्न थी जिसे देखते ही लोग वाग के मस्तक उनके समक्ष अवनत हो जाते। सनातन की कोमल काया, प्रशान्त मूर्ति और भाव-गांभीर्य को देखकर लोक-वाग उनकी भक्ति करते; रूप की मुख-प्रतिभा देखकर सभी उनसे भय खाते थे। रूप के सदृश व्यक्ति ने लोकपाल होकर जन्मग्रहण किया था। वृन्दावन जाकर वे ही वहाँ पर तत्कालीन सर्वे-सर्वा हो गए थे। उन जैसे गंभीर मानव के अन्तःकरण में किसी प्रकार की नीचता अथवा संकीर्णता नहीं थी, इसीलिए सर्वत्र सर्वकार्य में व विश्वासी और प्रतिपत्तिशाली हुए।

"राजकार्य में रूप की अप्रतिहत क्षमता और विश्वस्तता के कारण सुल्तान हुसेनशाह ने उन्हें साकर या साकेर (विश्वस्त) मल्लिक, इस सम्मानसूचक नाम और उपाधि से विभूषित किया था। वे सभी कार्य बल और दर्प के साथ करते। अपने संकल्प के निर्धारण में वे विलम्ब नहीं करते; संकल्प करने के साथ-साथ वे उसे कार्यरूप में परिणत करने के लिए दृढ़ चेष्टा करते। राजस्व-सचिव रूप में, रूप राजा-प्रजा सभी के प्रेम-पात्र बने, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। वे इस प्रकार सुचारु रूप से फारसी लिखते ,पढ़ते और धाराप्रवाह बोलते और सभी मुसलमान कर्मचारियों में मिश्रित हो कार्य-निष्पादन करते कि कोई यह नहीं समझ पाता कि साकर मल्लिक हिन्दू हैं अथवा मुसलमान। विधर्मियों के साथ नाना प्रकार के सम्मिश्रण के परिणामस्वरुप भ्रातृ-द्वय के

कतिपय आचरण म्लेच्छाचारी हो गए थे । इन लोगों के अधिकांश समय राजकार्य में व्यतीत होते तथा मुसलमानी हाव-भाव को अंगीकार करते समय आत्मगोपन हेतु वाध्य होने पर भी ये स्वगृह में कभी भी शास्त्र-चर्चा का परित्याग नहीं करते । पंडितगणों से भेंट हो जाने पर ये युगल-बन्धु दर्शनादि शास्त्रों को लेकर घोर तर्क-वितर्क करते ।' १

उस दिन सुल्तान के साथ साक्षात्कार होने के उपरान्त रूप रामकेलि लौट आए और ज्येष्ठ भ्राता सनातन के कक्ष में अविलम्ब प्रविष्ट हो अपना संकल्प निवेदित करने लगे ।

सब कुछ सुन लेने के पश्चात् सनातन गंभीर हो गए और प्रशान्त स्वर में बोले—'तुम्हारी सम्पूर्ण वक्तृता मैंने सुन ली परन्तु मैं इसमें अपनी सहमति नहीं दे सकता भैया । मैं ज्येष्ठ हूँ और मैंने स्थिर कर रखा है कि प्रथम मैं ही संसार-त्याग करूँगा । आगे मुझे जाने दो, पीछे सुयोग पाकर तुम भी एक दिन चले आना ।'

रूप तो अपने सिद्धान्त पर अटल थे । करबद्ध हो उन्होंने कहा—' निश्चय ही तुम भावनात्मक कथा कहते हो परन्तु इसके साथ शालीनता अथवा तर्क-संगत कथा भी जुड़ी हुई है । यदि तुम अग्रसर हो मुझसे पूर्व संसार-त्याग करते हो तब वैसी दशा में लोक-बाग मुझे क्या कहेंगे ? मैं ज्येष्ठ भ्राता हूँ और मेरी उम्र भी अब अधिक हो चली है । इस उम्र में अब राजकार्य से छुटकारा लेना मेरे लिए सर्वथा उचित ही है । तथापि महाप्रभु के उपदेशानुसार अभी तक मैं संसार में लिप्त रहा, अब मेरा भी धैर्य जाता रहा । मुझे भी तो अब वैराग्य ग्रहण करना ही होगा ।'

अब रूप ने अपनी युक्ति और तर्कों का जाल विस्तीर्ण किया । दृढ़ स्वर में निवेदन करने लगा—'राज सरकार में आपने अत्यन्त दायित्वपूर्ण कार्य अपने ऊपर-ले रखा है । शान्ति का समय हो अथवा प्रशासन का व्यापार हो अथवा युद्ध-विग्रह की समस्या हो, सर्वदा बादशाह आपके मतामत को बहुत मूल्यवान् मानते हैं और आपका परामर्श लेते हैं । क्या ऐसा नहीं है ?'

'हाँ, यह तो यथार्थ ही है ।'

'विशेषकर इस समय उड़ीसा के राजा के साथ बादशाह का घोर विरोध चल रहा है, किसी भी समय युद्ध छिड़ जाने की आशंका है ।'

'हाँ, इस संभावना को यों ही उड़ाया नहीं जा सकता ।'

---

१. रूप गोस्वामी : शतीशचन्द्र मित्र

'इसीलिए तो इस समय राजकार्य का परित्याग करने पर बादशाह क्रोधाभिभूत हो जाएगा। तत्पश्चात् जब मैं पुनः प्रयास करूँगा तो उसकी धारणा बद्धमूल होगी कि हमलोगों ने किसी षड्यंत्र के तहत एक साथ राजकार्य से त्याग-पत्र देकर उसे विपत्ति में ढ़केलने की चेष्टा की है। इसके परिणामस्वरूप वह हमलोगों के आत्मीय और स्वजनों पर घोर अत्याचार करेगा। इसीलिए आप मेरे प्रस्ताव को मान लें।'

सनातन अब कुछ नरम पड़े। इस सुयोग को पाकर रूप ने पुनः कहा—'परिवार तथा आत्मीय कुटुम्बियों के भरण-पोषण की सभी व्यवस्थाएँ मैं सर्वप्रथम शीघ्रता से करता हूँ और एतत्सम्बन्धी आपको कोई चिन्ता न होगी। मैं ऐसी व्यवस्था कर जाऊँगा जिससे कि मेरे चले जाने के उपरान्त आप भी यहाँ से सहज रूप से निष्क्रमण कर सकेंगे।'

इस बार रूप की अभ्यर्थना स्वीकृत हुई। निश्चय ही सनातन प्रज्ञ एवं विचक्षण थे, परन्तु सांसारिक व्यवस्था को लेकर वे किसी प्रकार की माथापच्ची करनेवाले नहीं थे, प्रधानतः रूप ही ये सभी व्यवस्थाएँ करते। तत्पश्चात् बद्ध प्रकोष्ठ में भ्रातृ-द्वय ने प्रचुर समय तक सम्मिलित परामर्श किया और भावी कार्यक्रम के सम्बन्ध में एकमत हो निर्णय लिया।

अतिशीघ्रता के साथ रूप ने सबों के साथ पावना का लेखा-जोखा कर उसे समाप्त किया। रामकेलि राजधानी गौड़ के अत्यन्त निकट है अतएव परिजनों का यहाँ रहना अब उतना निरापद नहीं है, ऐसा सोच कुछ आत्मीय परिजनों को अपने चन्द्रदीप के महल में भिजवा दिया। फतेहाबाद के प्रेमभाग में उनलोगों का एक और महल था, वहाँ भी अनेकों को भिजवा दिया। धन-सम्पत्ति आदि सभी वस्तुओं की व्यवस्था पूरी कर ली। विग्रह की सेवा, कुलगुरु, ब्राह्मण तथा प्रापकों को कोई असुविधा न होवे, तज्जन्य इन्होंने मुक्तहस्त हो दान दिया। इस दान-व्यवस्था के सम्बन्ध में चैतन्य चरित्रामृत में उल्लेख हुआ है :—

तब रूप गोसाईं नौका भरकर।
प्रचुर धन ले लौटे अपने घर पर।
दिया अर्द्ध भाग ब्राह्मण वैष्णवों को।
पुनः चतुर्थांश बाँटा निज परिजन को।
मुक्ति-धन हेतु रखा चतुर्थांश को।
कई स्थानों पर रखा सद् विप्रों को।

इसके अतिरिक्त किसी भावी संकट की आशंका से सनातन के निमित्त उन्होंने एक हलवाई के पास दस सहस्र मुद्राएँ जमा करके रख दीं।

इसीबीच श्रीचैतन्य के संधान हेतु रूप ने लोगों को नीलाचल भेजा था । ज्ञात हुआ कि प्रभु झारखंड के मार्ग से वृन्दावन के लिए प्रस्थान कर चुके हैं । उनके साथ मार्ग में ही सम्मिलित होकर इकट्ठे उनके साथ वृन्दावन पहुँचने हेतु रूप बेचैन हो उठे । अतएव अवशिष्ट सभी कार्यों का शीघ्रातिशीघ्र निष्पादन कर उनके पाँव झारखंड के जंगलों की ओर दौड़ पड़े, साथ थे मुमुक्षु कनिष्ठ भ्राता अनुपम ।

कुछ दूर अग्रसर होने पर विदित हुआ कि सनातन के वैराग्य की प्रवणता से क्रुद्ध होकर हुसेनशाह ने उन्हें मुख्य सचिव के पद से पदच्युत कर कारागार में डाल दिया है । तत्क्षण रूप ने मार्ग से ही एक व्यक्ति द्वारा पत्र भेजा । पत्र में सूचित किया कि संकट का अनुभव होने पर हलवाई के पास संचित राशि का उपयोग, उत्कोच के रूप में, कर कारागार से उन्मुक्त होकर आवें ।

मुक्ति हेतु इसके अतिरिक्त सनातन के लिए दूसरा कोई वैकल्पिक मार्ग नहीं था; अतएव कारागर से निष्क्रान्त हो वे सीधे चैतन्य महाप्रभु के चरणों का आश्रय-ग्रहण हेतु यात्रा पर निकल पड़े । लम्बी यात्रा तय कर वे काशी पहुँचे जहाँ उन्हें महाप्रभु के दर्शन हुए । इस दर्शन के समय ही प्रभु ने आत्मसात् कर लिया सनातन को ।

इधर प्रयाग पहुँचने पर रूप और वल्लभ को ज्ञात हुआ कि वृन्दावन से लौटती यात्रा में श्री चैतन्य वहाँ उपस्थित हुए हैं । प्रभु का चिर आकांक्षित दर्शन इस बार संभव होगा और उनके चरणाश्रय भी प्राप्त हो सकेंगे, यह सोच रूप के आनन्द की सीमा न रही ।

श्रीचैतन्य विन्दुमाधव के मंदिर में आए हुए हैं, क्या ही भावाविष्ट अपूर्व मूर्त्ति है ? मधुर कंठ से वे श्रीकृष्ण नाम ले रहे हैं । इस देव-मानव के दर्शनार्थ सहस्र-सहस्र भक्त आए हुए हैं । उन्हें केन्द्र बनाकर भक्त और दर्शनार्थी आनन्द से विह्वल हो नाच और गा रहे हैं । वहाँ तो एक अपार जनसमूह विराजमान है ।

दूर से ही प्रभु के दिव्य भावावेश को देखकर रूप का सम्पूर्ण शरीर पुलकित हो रहा है और नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित हो रही है; परन्तु उस अपार जनसमूह के मध्य भला प्रभु के सम्मुख किस प्रकार हो सकेंगे ? उस दिन एक दाक्षिणात्य ब्राह्मण के घर श्री चैतन्य को भिक्षा का निमंत्रण था । वहाँ उनके उपस्थित होते ही भातृ-द्वय ने वहाँ जाकर उन्हें साष्टांग प्रणाम निवेदित किया । प्रभु अत्यधिक उल्लसित हुए और बार-बार कहने लगे— 'कृष्ण की तुमलोगों पर क्या ही अपार करुणा है कि इस बार दोनों जनों

का उन्होंने विषय-कूप से उद्धार किया है। तुम दोनों भाई अहा, कितने भाग्यवान् हो !'

त्रिवेणी के संगम पर प्रभु भक्त-गृह में निवास कर रहे हैं। निकटस्थ एक कुटी में रूप और वल्लभ भी निवास करने लगे।

उन्हीं दिनों वैदिक यज्ञों में पारंगत और शास्त्रविद् वल्लभ भट्ट त्रिवेणी के समीप एक ग्राम में निवास कर रहे थे। गौड़ देशागत अपने नव भक्त-द्वय के साथ श्री चैतन्य को उस दिन भट्टजी ने अपने घर निमंत्रित किया।

रूप की दिव्यकांति और भावावेश को देखकर वल्लभ मुग्ध हो उठे। वे आनन्द से उन्हें आलिंगन करते जा रहे हैं परन्तु रूप चकित हो उनसे दूर सरकते जा रहे हैं, 'नहीं, नहीं, भट्टजी आप मेरा स्पर्श क्यों कर रहे हैं ? मैं तो एक अस्पृश्य पामर हूँ। इतना समय तो मैंने पाप कर्मों में ही व्यतीत किया है, मैं तो आपके स्पर्श योग्य नहीं हूँ।'

विलासिता और भोगेश्वर्य में चिरलालित, शक्ति के शिखर पर सदा रहने के अभ्यस्त व्यक्ति, रूप, के इस दैन्य और वैराग्य-भाव से चैतन्य महाप्रभु अत्यधिक संतुष्ट हुए। समीप ही बैठे महाप्रभु मंद-मंद मुस्कान के द्वारा अपनी तृप्ति प्रकट कर रहे हैं।

प्रयाग में दस दिनों तक रूप ने प्रभु के सान्निध्य में निवास किया। इन्हीं दस दिनों के भीतर उनके सात्विक आधार में अवांछित तत्वों को विनष्ट कर प्रभु ने ढाल दिया उसमें वैष्णवीय साधना के गूढ़ तत्त्व और निज मुख से व्याख्या एवं विश्लेषण किया ब्रजरस के परम तत्त्वों का। १

श्रद्धा, भक्ति और कृष्ण-सेवा के माहात्म्य का निरूपण करने के पश्चात् प्रभु ने भक्ति-साधना के क्रम में कृष्ण-भक्ति के रस का वैचित्र्य तथा सर्वोपरि कान्ता-भाव-सम्पन्न मधुर-रस का दिग्दर्शन करया। मात्र इतना ही नहीं, कृपापूर्वक इस नवीन साधक रूप के अन्दर उन्होंने शक्ति का संचार भी किया।

कृष्ण भक्ति तत्त्व औ रस तत्त्व के प्रान्त।
साथ-साथ बतलाया प्रभु ने भागवत सिद्धान्त।।
रामानन्द से जितने भी सुने थे सिद्धान्त।
कृपाकर संचारित किया सभी रूपमें निभ्रान्त।।
पुनः किया शक्ति का संचार रूप हृदय में।
किया प्रवीण निरूपित कर सब तत्त्व सत्वरमें।।

(चै-चरित्रामृत)

---

१. श्री चैतन्य चन्द्रोदय : कवि कर्णपुर।

एक स्वर्गीय आनन्द से रूप का हृदय भर उठा और प्रभु-कृपा से उनका जीवन कृतार्थ हुआ। अब प्रभु वाराणसी की ओर प्रस्थान करेंगे, प्रेमालिङ्गन और आशीर्वाद देते हुए उन्होंने कहा—'रूप तुम वृन्दावन की ओर जाओ। तुमने जिस तत्व को पाया है, वह अब वृन्दावन की पावन भूमि में स्फुरित हो उठे, यही मेरी कामना है।'

तत्पश्चात् रूप और अनुपम वृन्दावन चले आए। यहाँ आने पर उनका साक्षात्कार भक्त-प्रवर सुबुद्धि राय के साथ हुआ।

सुबुद्धि राय गौड़ देश के एक प्रभावशाली जमीन्दार थे। बादशाह हुसेनशाह अपने प्रारम्भिक जीवन में जब वे एक असहाय और सम्पत्तिहीन युवक थे तब उन्होंने सुबुद्धि राय के यहाँ एक निम्न श्रेणी की नौकरी की थी। किसी अपराध के कारण कुपित होकर सुबुद्धि राय ने उसे कोड़े से प्रताड़ित करवाया था। इस कशाघात जन्य व्रण का दाग बहुत दिनों तक उसके शरीर पर बना रहा। परवर्त्तीकाल में इसी हुसेन के भाग्य ने पलटा खाया और वह गौड़ प्रदेश का बादशाह बन बैठा।

एक दिन हुसेन शाह की बेगम ने अपने स्वामी की पीठ पर इस दाग को देखकर विस्मयपूर्वक जिज्ञासा की। पुरातन दिनों की घटनाओं का उल्लेख करते हुए बादशाह ने अपने प्राक्तन स्वामी सुबुद्धि राय द्वारा वेत्राघात की कथा कह सुनाई। यह कथा सुनते ही बेगम उत्तेजित हो गई और सुबुद्धि राय को प्राणदण्ड देने हेतु हठ करने लगी। परन्तु हुसेनशाह यह दण्ड देने हेतु तैयार न हुए। उसने कहा कि प्राक्तन अन्नदाता को प्राणदण्ड देना उसके लिए संभव नहीं है। तत्पश्चात् बेगम और सरदारों ने मिलकर स्थिर किया कि प्राण-नाश के बदले सुबुद्धि राय का धर्मनाश किया जाय। अपराधी के मुख में अखाद्य ठूँसकर यह प्रस्ताव कार्यान्वित किया गया।

जातिभ्रष्ट और मर्माहत सुबुद्धि राय तब राज-पाट त्याग कर काशी में शास्त्रविद् पंडितों के समीप उपस्थित हुए जातिनाश जन्य प्रायश्चित को जानने हेतु। पंडितों ने उनसे तप्त घी पान करके प्राणत्याग का विधान बतलाया।

उस समय महाप्रभु चैतन्य काशी में ही विराजमान थे जहाँ भक्त-समाज उन्हें घेरकर भावोद्दीप्त हो रहा था। महाप्रभु के चरणों में निपात करते हुए भींगी पलकों से सुबुद्धि राय ने कहा- 'प्रभु, आप तो स्वयं ही ईश्वर हैं। आप मुझे जातिविनाश जन्य पाप से छुटकारा हेतु प्रायश्चित का विधान बतलावें।

महाप्रभु ने कहा—'जितने भी पाप हैं वे एकबारगी कृष्ण-नाम लेने से ही धुल जायेंगे; जीवों की क्या बिसात जो वह उतना पाप कर सके ? तुम्हें कोई

भय नहीं है। तुम वृन्दावन जाकर प्रतिदिन व्रज की पावन धूलि में लुंठित होवो और कृष्ण नाम के जप और ध्यान से अपने जीवन को सार्थक करो। यह हुआ तुम्हारे प्रायश्चित का विधान।'

सुबुद्धि राय के प्राणों में अब नव आशा का संचार हुआ। वृन्दावन आकर उन्होंने त्याग और तितिक्षामय वैष्णव जीवन का प्रारम्भ किया।

गौड़ बादशाह के अन्यतम प्रधान कर्मचारी, रूप को सुबुद्धि राय भलीभाँति पहचानते थे। वैरागी होकर उन्होंने महाप्रभु की शरण ली है और वृन्दावन आ गए हैं, यह जानकर उनके आनन्द की सीमा न रही।

रूप और अनुपम को उन्होंने प्रेमपाश में जकड़ लिया और घूम-घूमकर द्वादश वनों का दर्शन कराया।

महाप्रभु चैतन्य की कृपा-कथा, श्रीकृष्णलीला के माहात्म्य की कथा के आलोड़न-विलोड़न में आनन्द से कुछ समय व्यतीत हो गए।

उस समय लोकनाथ और भूगर्भ व्रजमंडल के भीतरी भागों के जंगलों में भ्रमण कर रहे थे और इनलोगों के साथ रूप और अनुपम का इस समय तक साक्षात्कार नहीं हुआ था। प्रायः एक महीना तक वृन्दावन में वास करने के उपरान्त रूप के मन में उच्चाटन होने लगा। ज्येष्ठ भ्राता सनातन चिरदिनों से इनके पथप्रदर्शक और परिचालक रहे हैं। गुरु की नाईं रूप उनकी श्रद्धा करते हैं। ऐसे सनातन क्या अभी भी बादशाह के कारागार में आबद्ध हैं अथवा उनकी मुक्ति हो गई है, यह सूचना उन्हें अभी भी अप्राप्य है। मन की चिन्ता किसी प्रकार दूर नहीं हो रही है। बहुत कुछ सोच-विचारकर अन्त में कुछ समय के लिए भातृ-द्वय ने वृन्दावन का परित्याग किया और बाहर निकलकर सनातन के संधान में लग पड़े। वे पैदल काशी की ओर चल पड़े।

इसी बीच कारागार से मुक्ति पाकर सनातन काशी आ गए जहाँ उन्होंने महाप्रभु चैतन्य की कृपा प्राप्त की। वहाँ से वे भिन्न मार्ग से वृन्दावन पहुँचे और उनका साक्षात्कार रूप से नहीं हो सका। काशी पहुँचकर सनातन का संवाद पा रूप प्रकृतिस्थ हुए। महाप्रभु की कृपा उन्हें प्राप्त हुई, यह जानकर आनन्द से उनके प्राण भर उठे।

उनके अनुज अनुपम तो थे रामचन्द्रोपासक और वृन्दावन में निवास करते हुए भी उस सम्पर्क के बावजूद अपने मन को स्थिर नहीं कर पा रहे थे। उन्होंने रूप से कहा कि उनका मन गौड़ देश की ओर चला जाता है, और इस समय सनातन भी संसार त्यागकर चले आए हैं, ऐसी दशा में रूप यदि पुनः

एक बार कुछ समय के लिए गौड़ देश चले जाँय और वहाँ सभी चीजों की व्यवस्था करके चले आवें तो बड़ी सुविधा होती।

कनिष्ठ भ्राता के अनुरोध पर रूप को सहमत होना पड़ा और भ्राता-द्वय गौड़ देश की ओर प्रत्यावर्तन कर गए। वहाँ पहुँचने पर एक बड़ी विपत्ति आ गई; अल्प समयोपरान्त एक मारात्मक रोग से पीड़ित होकर अनुपम ने अपना शरीर-त्याग किया।

अनुज की शोकावह मृत्यु ने रूप को अनेक सांसारिक दायित्व एवं समस्याओं के बीच ढकेल दिया। इधर महाप्रभु चैतन्य के चरण-दर्शन हेतु और उनके पुण्यमय सान्निध्य हेतु उनका मन अधीर हो उठा। अतएव यहाँ की समस्याओं को शीघ्रता से यथासंभव निपटाकर पैदल वे नीलाचल की ओर दौड़ पड़े।

आगे बढ़ने पर रूप ने मन ही मन निश्चय किया कि प्रथम वे भक्त हरिदास की कुटिया में आश्रय ग्रहण करेंगे और तत्पश्चात् सुअवसर पाकर करेंगे प्रभु-चरणदर्शन। दीर्घकाल तक गौड़ देश के दरबार में म्लेच्छों के स्पर्श-दोष से वे युक्त हैं अतएव महाप्रभु के निष्ठावान् उच्चवर्ण के भक्तों के यहाँ गृह-निवास करना इनमें पक्ष में समीचीन नहीं होगा।

प्रवीण भक्त हरिदास की कुटिया में पहुँचते ही उन्होंने रूप को अपने भुज-पाश में आबद्धकर ज्ञापित की अपनी आन्तरिक संवर्द्धना और सस्नेह कहा— 'रूप, तुम आवोगे, इसे हम सभी जानते थे। तुम तो महाभाग्यवान् हो जो महाप्रभु साग्रह तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं और बारम्बार कर रहे हैं तुम्हारी ही चर्चा।'

प्रभु चैतन्यदेव की दिनचर्या थी प्रत्यह प्रत्यूष में अन्तरालवासी परम भक्त हरिदास को दर्शन देना। जगन्नाथदेव के उपल भोग के समय अपने गणों के साथ प्रभु वहाँ उपस्थित रहते और तत्पश्चात् ही चले जाते हरिदास की निभृत कुटी में। यहाँ पर अन्तरंग पार्षद और भक्तों के साथ इष्टगोष्ठी एवं प्रेमरस–तत्त्व की आलोचना चला करती।

हरिदास की कुटिया में प्रभु के पदार्पण करते ही रूप ने दौड़कर अपना दण्डवत् प्रणाम निवेदित किया। आलिंगन और कुशल-वार्त्ता के पश्चात् सभी आनन्द से प्रभु को घेरकर बैठ गए और इसके साथ ही प्रवाहित होने लगा भागवत और कृष्ण-कथा का ज्वार।

उस समय पुरीधाम की रथ-यात्रा आसन्न थी। प्रभु-दर्शन और सान्निध्य के लोभ से गौड़ के भक्तदल पैदल लम्बी यात्रा सम्पन्न कर पहुंच चुके हैं और

प्रभु से मिलकर आनन्द-रस में डूबकर मत्त हो रहे हैं। इस भक्ति-मंडली के बीच आए हुए हैं प्रवीण वैष्णवाचार्य श्री अद्वैत, नित्यानन्द आदि।

उस दिन कतिपय अन्तरंग भक्तों के साथ हरिदास की कुटिया में प्रभु का आगमन हुआ है। रूप को आलिंगन करते हुए उन्होंने अद्वैत एवं नित्यानंद से कहा—"कृष्ण के आह्वान पर रूप विषय-कूप छोड़कर चले आए हैं। आप दोनों जनें इन्हें आशीर्वाद दें जिससे ये कृष्ण-भजन में सिद्धि प्राप्त कर कृष्ण-भक्ति-रस के ग्रंथों का निर्माण कर सकें, जिसकी साधना करने से जीवों का कल्याण हो सके।"

राय रामानन्द, स्वरूप दामोदर प्रभृति गौड़ीय नेताओं ने इस नूतन प्रतिभावान् भक्त को प्राणदायक आशीर्वाद प्रदान किया। रूप के मुख-मंडल पर एक विशेष प्रकार के माधुर्य और कमनीयता थी। ये स्वभाव से अत्यन्त विनयी थे और दैन्य की पराकाष्ठा थे। फलस्वरूप प्रभु के गौड़ीय और उड़िया भक्तों के मध्य ये अत्यधिक प्रिय हो गए।

प्रभु अपनी भक्ति-मंडली के साथ जहाँ-जहाँ उपस्थित होते वहाँ-वहाँ दिव्यानन्द की धारा प्रवाहित होने लगती। भक्ति और प्रेम के दिव्य भावावेश में सभी मदोन्मत्त हो कभी तो मंदिर के चबूतरे पर कीर्त्तन करते तो कभी समुद्र-स्नान करते अथवा कभी गूंडीचा जाकर सफाई का कार्य करते। इस प्रकार उत्सव और आनन्दोच्छ्वास में दिन पर दिन व्यतीत होने लगे।

भक्त हरिदास की भाँति रूप भी अपने को दैन्यवश म्लेच्छाधम समझते थे। अतएव वे जगन्नाथ के मंदिर में कभी भी प्रवेश नहीं करते, दूर से ही दर्शन और प्रणाम करते। प्रभु के नर्त्तन, कीर्त्तन एवं पुण्यमय नाना अनुष्ठानों में प्रबल जन-संघट्ट होता परन्तु रूप यत्नपूर्वक उन स्थानों का भी परिहार करते हुए चलते। वे दूर से ही प्रभु और उनकी भक्ति-गोष्ठी की आनन्द-लीला का मुग्ध नेत्रों से दर्शन करते और बार-बार निवेदित करते अपने प्रणाम।

परंतु रात्रि का अधिकांश समय हरिदास की निर्जन भजन-कुटी में ही व्यतीत करते। यहाँ पर हरिदास अपने संकल्पित नाम-जप में ही अधिकांश समय संलग्न रहा करते और इसी कुटिया के एक निर्जन कोने में रूप संलग्न रहा करते रस-शास्त्र के अवगाहन तथा ग्रंथ-निर्माण में।

जगन्नाथदेव के भोग-राग सम्पन्न होने के पश्चात् एकान्तवासी भक्त-द्वय, हरिदास एवं रूप के निमित्त, प्रत्यह प्रसाद भेजना पड़ता। इस प्रसाद को ग्रहण करके दोनों निज-निज निर्दिष्ट साधना तथा कर्मों में निरत हो जाते।

'रूप गोस्वामी आजन्म एक सुकवि थे। इस प्रकार एकाधार में कवित्व, पांडित्य और भक्ति का दर्शन विरल है। गौड़ प्रदेश में रहते समय इन्होंने हंसदूत और उद्धव-संदेश नाम के काव्य की रचना की जो परवर्त्ती काल में वृन्दावन में प्रचारित हुई। गृह-त्याग कर अपने आगमन के साथ-साथ इन्होंने कृष्ण-लीला विषयक नाटक की रचना की। इसमें इन्होंने निश्चय किया है कि कृष्ण की ब्रजलीलाएँ एवं अन्य लीलाओं को एकत्र लिखूँगा। बाद में नीलाचल आते समय स्वप्नादेश और महाप्रभु की आज्ञा, इन दोनों के कारण पृथक-पृथक दो नाटकों की रचना करने का संकल्प इन्होंने लिया। श्री कृष्ण की ब्रजलीला सम्बन्धी नाटक का नाम इन्होंने 'विदग्ध-माधव' दिया है एवं अपनी पुर-लीला विषयक नाटक का नामकरण 'ललित-माधव' किया है। नीलाचल आगमन के पश्चात् इन्होंने अत्यधिक एकाग्रता के साथ इन दोनों नाटकों का सृजन एक ही समय में किया। हरिदास ठाकुर की शान्तिरस-वर्षिणी कुटिया, महाप्रभु की सत्संगति और उनके आशीर्वाद के फलस्वरूप ही इनमें सहजात कवित्व-प्रतिभा का स्फुरण विशिष्ट रूप से हुआ था। ग्रंथ-द्वय का अधिकांश भाग अपने नीलाचल निवास के समय लिखा गया, पश्चात् वृन्दावनधाम आगमन पर विदग्ध-माधव की समाप्ति पहले हुई और तदुपरान्त ललित माधव की समाप्ति की गई।"[1]

नीलाचल की वृहत्तर और महत्तर रथ-यात्रा का समय समीप आ गया था। श्री जगन्नाथदेव की विजय-यात्रा को देखकर अपने मन और प्राण को सार्थक करने हेतु भारतवर्ष के कोने-कोने से लक्ष-लक्ष नर-नारी इस समय महा-धाम में पधार चुके हैं। इस रथ-यात्रा का एक दूसरा बड़ा आकर्षण था—देवमानव महाप्रभु चैतन्य की उपस्थिति और उनका नृत्य-कीर्त्तन।

रथ का कर्षण प्रारम्भ होते ही अपने भक्तों और पार्षदों के साथ उसके अग्रभाग में महाप्रभु का कीर्त्तन प्रारम्भ हो गया। उनकी दिव्य श्रीमंडित गौर देह में सात्विक प्रेम-विकार का ऐश्वर्य प्रकटित हो रहा था और इस अपार्थिव मूर्ति एवं भावमत्तता को देखकर अगणित दर्शनार्थी आनन्द से उद्वेलित हो रहे थे।

रथाग्र में प्रभु के इस देव-दुर्लभ नृत्य और उद्दाम कीर्त्तन का दर्शन रूप दूर से ही जी भरकर कर रहे थे और उसके साथ ही प्रमत्त हो रहे थे दिव्य

---

१. सप्त गोस्वामी : सतीशचन्द्रमित्र

भावावेश से। अपने जीवन को सार्थक समझकर वे लौट आए अपनी भजन-कुटिया में।

प्रभु-इच्छा के अनुरूप ही उन्होंने दस महीनों तक नीलाचल में वास किया। उनके जीवन में इन दस महीनों का असीम महत्व था। महाप्रभु के प्रेममय सान्निध्य तथा उनके अन्तरंग पार्षदों के स्नेहमय परिवेश में इनके अन्दर दिव्य-रस की धारा अविराम गति से प्रवाहित होने लगी। केवल इतना ही नहीं, कृष्ण-भक्ति और कृष्ण-प्रेम लीलाविषयक जिन सभी ग्रंथों की रचना करवाने हेतु प्रभु इच्छुक थे, उन सभी की प्रस्तुति इस समय इनके भीतर शनैः-शनैः होने लगी। महाप्रभु की कृपा के कारण इस समय कृष्ण-तत्त्व और व्रजरस-तत्व के उत्स का संधान रूप को उपलब्ध हुआ। अपने प्रयाग निवास के समय जिस अमृतोपम तत्वोपदेश को महाप्रभु ने प्रदान किया था, वही अब इनके अन्तस्थल में उद्गत हुआ एक नूतनतर उद्दीपना को लेकर।

सुकवि, प्रतिभाधर और निष्णात् पंडित रूप प्रभु-निर्देश से कृष्ण-लीला ओर कृष्ण-रस के नाटक लिख रहे हैं परन्तु केवल काव्य-प्रतिभा के द्वारा कृष्ण-रस और व्रज-रस के परमतत्व न तो उद्घाटित किए जा सकते और न कृष्ण-लीला का प्रकृत माहात्म्य ही प्रस्फुटित किया जा सकता है। इसके लिए तो एक ओर चाहिए व्रज-रस की सम्यक् उपलब्धि और दूसरी ओर चाहिए रस-नाट्य का आंगिक तथा सिद्धान्त विषयक निर्भ्रान्त प्रयोग-नैपुण्य।

इसके पूर्व ही महाप्रभु ने रूप के साधना-आधार में अपनी शक्ति का संचार कर दिया था, अब उसी शक्ति-स्रोत को उत्सारित और विस्तारित करना चाहते हैं जन-कल्याण हेतु।

व्रज-रस-तत्व के महाप्रभु के दो परम रसज्ञ पार्षद थे—राय रामानन्द एवं स्वरूप दामोदर। रूप के नवरचित काव्य-रस के आस्वादन और मूल्य-निरूपण हेतु प्रभु ने इन दोनों विदग्ध और प्रवीण पार्षदों को नियोजित करने का निश्चय किया।

रस-तत्व के शास्त्र में राय रामानन्द श्रीचैतन्य के भी वाह्यतः उपदेष्टा थे। अपनी दक्षिण देश की यात्रा के समय महाप्रभु ने इस मर्मी साधक को आत्मसात् किया था और उसी के मुख से मधुर रस एवं निगूढ़ भजन की मर्मकथा को प्रकाशित भी करवाया था।

महाप्रभु से राय रामानन्द कहते हैं—'प्रभु, व्रजरस-तत्व, कान्ताभाव ओ राधातत्व की महिमा मैं भला क्या जानूं? मैं तो आपकी कठपुतली हूं,

आप मुझे जिस प्रकार नचाते, जिस प्रकार बुलवाते, मैं तदनुरूप ही करता और बोलता हूँ।'

दैन्य भाव से प्रभु ने उत्तर दिया—'राय, मैं तो विशुद्ध संन्यासी हूँ। अतः महाभावमयी श्रीराधा का रस-तत्व मैं क्या जानूँ ? अहा; तुम्हीने तो मुझे वह तत्व सिखलाया था।'

दोनों का यह मत-द्वैध और आनन्द-कलह प्रायः ही चला करता जिसे सुन अन्तरंग पार्षद ओ भक्तगण मंद-मंद-मुस्कुराते रहते।

राय रामानन्द उड़ीसा के एक श्रेष्ठ वैष्णव थे जो कृष्णरस-तत्व में पारंगत ओ यशस्वी नाट्यकार थे। महाप्रभु से भेंट होने के पूर्व ही इन्होंने संस्कृत भाषा में 'जगन्नाथ वल्लभ' नाटक की रचनाकर प्रचुर प्रसिद्धि प्राप्त की थी। प्रेम-भक्ति की साधना में उन्होंने पहले से ही पर्याप्त प्रगति कर ली थी, अब महाप्रभु का आश्रय ग्रहण कर वे इस साधना में सिद्धकाम हो चुके थे।

प्रभु के अन्यतम श्रेष्ठ पार्षद स्वरूप दामोदर भी कृष्णतत्व एवं ब्रजरस के एक मर्मज्ञ साधक के साथ-साथ थे उसके धारक और वाहक। केवल इतना ही नहीं, रूप में अन्य अनेक गुण थे। 'वे संगीत में गंधर्व के सदृश थे और शास्त्र में बृहस्पति के तुल्य।'

इनके मधुर रस के संगीत से महाप्रभु भावोन्मत्त हो गए, अब इन्हीं के प्रबोध-वाक्य तथा संगीत के द्वारा आश्वासित होकर उन्होंने अपना वाह्यज्ञान लाभ किया।

स्वरूप में और भी विशिष्टताएं थीं। एक ओर वे जिस प्रकार रसज्ञ और मधुर रस के साधक थे, दूसरी ओर उसी प्रकार वे वैष्णव साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् सूक्ष्म और कठोर समालोचक भी थे।

महाप्रभु तो महाभाव के मूर्त्त विग्रह थे अतएव प्रेम-भक्ति-धर्म के किसी वाक्य अथवा रचना के प्रतिकूल सिद्धान्त अथवा रसाभास कभी भी उन्हें सह्य न था। इसीलिए तो वैष्णवीय रस-तत्व के निरूपण और परीक्षण-कर्म में उन्होंने अपने पार्श्वचर और मर्मी भक्त स्वरूप को सदा नियोजित कर रखा था :—

प्रभु के आगे जो भी ग्रंथ श्लोक गीत आदि लाते,
स्वरूप करते प्रथम परीक्षा तभी प्रभु उन्हें सुन पाते॥

इस प्रकार उच्चकोटि के दो साधक और ब्रजरस के तत्वज्ञ अब रूप की रचना का श्रवण और सूक्ष्म भाव से परिक्षण करेंगे।

एक दिन महाप्रभु रथ के आगे नृत्य-कीर्त्तन कर रहे थे। हठात् भावप्रमत्त होकर वे 'यः कौमारहर' इत्यादि 'काव्य-प्रकाश' के श्लोकों का उच्चारण करने लगे। इस वाक्य द्वारा निभृत मधुमय परिवेश तथा अनन्य चित्त से कान्ता तथा कान्त के एकान्त मधुर मिलन-रस का उत्सारण होता है।

महाप्रभु के अन्तर का भाव समझकर स्वरूप दामोदर ने तत्क्षण इस रस के अनुसारी एक मधुर संगीत की रचना की और उसे तत्काल उन्हें गाकर सुनाया भी जिसे सुन वे अत्यन्त प्रसन्न हुए।

दूसरे दिन महाप्रभु राय रामानन्द, स्वरूप दामोदर प्रभृति को साथ लेकर हरिदास एवं रूप को देखने वे वहाँ पहुँचे। हठात् उनकी दृष्टि कुटिया के छप्पर में खोंसकर (प्रविष्टकर) रखे हुए एक ताल-पत्र पर पड़ी।
महाप्रभु अत्यन्त उत्कंठित होकर बोले—'लेते आओ उसे, देखें उसमें क्या है ?'

रूप अत्यन्त विनयी और लज्जाशील थे, इन्होंने कहा—'नहीं प्रभु, आपके देखने योग्य उसमें कुछ भी नहीं है।'

'ठीक है, मेरे पास उसे लेते तो आओ।'

शीघ्रता के साथ खोलकर तालपत्र लाया गया। उसे देखने पर ज्ञात हुआ कि इसमें रूप द्वारा सद्यः निर्मित प्रेमरस के अनेक मनोरम श्लोक हैं।

विगत समय कान्ता और कान्त के निभृत मिलन सम्बन्धी जिन श्लोकों का उच्चारण प्रभु ने किया था और गीत-छन्द में रूपायित कर जिन्हें स्वरूप ने सुनाया था, ये उसी भाव के द्योतक श्लोक हैं। रूप ने अपनी अनुपम भाषा, भाव और छन्दों में यमुना किनारे कृष्ण-राधा के एकान्त मिलन के आनन्द की कथा लिखी थी।

इस तालपत्र की रचना को प्रभु ने बड़े उत्साह से सबों के साथ सुना और बार-बार मुक्तकंठ से उसकी प्रशंसा की; 'अहा, अहा, इस प्रकार का रस-तत्व तो चराचर में कहीं भी नहीं पाया जाता है। रूप निश्चय ही तुमने मुझे आज अत्यधिक आनन्द दिया है।'

महाप्रभु की इस उच्छ्वसित प्रशंसा के कारण उस दिन रूप की काव्य-प्रतिभा के प्रति स्वरूप, रामानन्द की दृष्टि विशेष रूप से आकृष्ट हुई।

और एक दिन प्रत्यूष में महाप्रभु हरिदास की कुटिया में पधारे; उनके साथ थे स्वरूप, रामानन्द प्रभृति विशिष्ट भक्तवृन्द।

महाप्रभु को विदित था कि रूप की काव्य-रचना पुष्कल रूप में अग्रसर हुई है। अन्तर्यामी महाप्रभु से यह भी छिपा नहीं था कि यह काव्य मधुर रस के उत्स रूप में परिगणित होगा।

आज वे भक्तप्रवर रूप की महिमा को बढ़ाना चाहते हैं; विशेषकर स्वरूप और रामानन्द सदृश रसज्ञ विचारकों की स्वीकृति दिलवाकर उनके भीतर नव प्रेरणा को उद्बुद्ध करना चाहते हैं।

महाप्रभु ने स्वयं एक दिन उनकी हस्तलिखित पुस्तिका को बाहर निकाला और उसमें से कुछ-कुछ अंशों का पाठ किया। भाषा-लालित्य, रस-परिपाक और शास्त्र-सिद्धान्त की दृष्टि से यह रचना सचमुच में अपूर्व थी।

महाप्रभु विशेषकर के विदग्ध माधव की पांडुलिपि से एक रमणीय श्लोक सबों को सुनाने लगे। एक श्लोक का मर्म यों है :—

'कृष्ण', 'कृष्ण' क्या ही हैं ये दोनों वर्ण
मानों अमृत देकर हुई है इनकी सृष्टि ।।
रसना द्वारा होता जब इनका उच्चारण
जगती हृदय में शत रसना पाने की कामना ।।
कर्णों द्वारा श्रवण होते ही जगती स्पृहा
कोटि-कोटि कानों को पाने की वासना ।।
इस नाम की चेतना का जब होता स्फुरण
तभी होती जीव की इन्द्रियां सभी पराभूत ।।

सभी भक्त आनन्दोल्लास से एक स्वर से उनकी प्रशस्ति का गुणगान करने लगे, नाम-माहात्म्य का इस प्रकार का मधुर-श्लोक तो सहसा सुनने में नहीं आता।

महाप्रभु की आँखें तृप्तिजन्य आनन्द से भर आईं प्रसन्न हृदय से वे बार-बार रूप को आशीर्वाद दे रहे हैं।

स्वरूप ने राय रामानन्द को कथा का सार इस समय समझा दिया। महाप्रभु की आभ्यन्तरिक इच्छा को समझकर रूप एक महान् कर्म के व्रती हो गए और प्रारम्भ कर दी उन्होंने कृष्ण-लीला सम्बन्धी नूतन नाटक की रचना।

महाप्रभु ने निर्देश दिया—'रूप, तुम्हारी रचना के श्रवण हेतु सभी उल्लसित हो उठे हैं अतएव अपने नव-निर्मित नाटक से कुछ-कुछ अंश पढ़कर सबों को सुनाओ।'

संकोचवश रूप सिकुड़-से गए, करबद्ध हो उन्होंने निवेदित किया—'महाप्रभु, मैं तो म्लेच्छाधम हूँ अतएव मैं कृष्ण-लीला नाट्य भला क्या लिखूँगा ? आपकी इच्छा समझ केवल लिखता भर हूँ।

'नहीं, नहीं रूप। अपनी रचना के कुछ-कुछ अंश रामानन्द और स्वरूप को तुम आज सुनाओ।'

अब नाटक का पाठ प्रारम्भ हुआ। स्वरूप और रामानन्द के विस्मय की सीमा न रही। भाषा, रस और सिद्धान्त इन सभी दृष्टियों से यह काव्य अत्यन्त चमत्कारपूर्ण है। महाप्रभु ने तो उपयुक्त व्यक्ति पर ही उत्तरदायित्व सौंपा है। सभी उपस्थित व्यक्ति धन्य-धन्य कहने लगे। प्रभु की दृष्टि विशेष रूप से रामानन्द पर निबद्ध है। रामानन्द का सम्पूर्ण अन्तस्तल आनन्द और विस्मय से भर गया है। रूप को लक्ष्य करके गद् गद् स्वर से उन्होंने उनकी प्रशस्ति का उच्चारण किया :—

है कवित्व नहीं यह अमृत की धारा।
है प्रकटित जहाँ नाटक-लक्षण सिद्धान्त ही सारा।
है प्रेम-परिपाटी का इसमें अद्‌भुत वर्णन।
होता सुनकर कानों में आनन्द का घूर्णन।

(चै—चरितामृत, अंत्य)

रामानन्द मर्मी और रसवेत्ता थे। उन्होंने अपने नाटक 'जगन्नाथ वल्लभ' में बड़ी सावधानी से निगूढ़ और सूक्ष्म रस-तत्व की मीमांसा की है। रूप के नाटकांश को सुनकर वे निश्चय ही विस्मित हो रहे हैं। उन्हें समझते देर न हुई कि इस कार्य के पीछे महाप्रभु की प्रेरणा और ईश-संकेत है अन्यथा नवागत भक्त रूप की लेखनी से इस प्रकार की वस्तु की सृष्टि तो संभव नहीं। महाप्रभु की ओर दृष्टि लगाकर अब उन्होंने सहास्य कहा :—

ईश्वर तुम जैसा चाहो हम वैसा ही करते।
कठपुतली को भी पार नचाते॥
मेरे मुख से जिन रसों का किया प्रचारण।
वे ही रस तो मिले मध्य इस आलेखन॥
है भक्त हेतु तुम्हें ब्रजरस प्रकाशित करना।
कराओ जैसा करे हम वैसा, है जगत तो तेरे आधीना।

(चै—चरितामृत, अंत्य)

रूप को महाप्रभु की दिव्य प्रेरणा, कृपा तथा रसज्ञ वैष्णवों की स्वीकृति प्राप्त हुई। इनके प्रति सबों की आस्था जागृत हो गई। इस बार विदा करते समय महाप्रभु ने उन्हें मनस्थ कर दिया

सभी का आशीर्वाद प्राप्तकर उस दिन वृन्दावन के लिए प्रस्थान करते समय रूप को महाप्रभु ने कहा :—

ब्रज जा करें रस-शास्त्र निरूपण ।
सभी लुप्त तीर्थों का करें प्रचारण ।
कृष्ण सेवा ओ रसभक्ति का करें प्रचार ।
आऊँगा मैं भी तुझे देखने एकबार ।।

अपने वृन्दावन के संगठन के माध्यम से महाप्रभु वैष्णव शास्त्रों का लेखन और प्रचार, तीर्थों का उद्धार और विग्रह-सेवा तथा कृष्ण-भक्ति के पथ पर भक्त जनसमाज का परिचालन; इन्हीं तीन ईश्वरीय कर्मों की सूचना और उसका प्रसार करना चाहते थे। इसी कथा को अपने चिह्नित सेवक, रसतत्व के प्रतिभावान् व्याख्याता, रूप को, उस दिन मन में दृढ़ता के साथ उन्होंने अंकित कर दिया।

रूप और सनातन की संयुक्त प्रतिभा और कर्मनिष्ठा का परिणाम अनेक वर्षोपरान्त पुष्पित और फलित होते देखा गया। "अपनी कठोर साधना और शास्त्रालोचन में आत्मनियोग के कारण भ्राता-द्वय ने प्रेमियों के आदर्शरूप में सर्वजातीय भक्तों की दृष्टि अपनी ओर शीघ्र ही आकर्षित कर ली। एक ओर जिस प्रकार दैन्यमूर्त्ति के अन्तराल में पांडित्य का विकास होने लगा, उसी प्रकार दूसरी ओर रागानुगा भक्ति के दिव्योन्माद ने उन्हें सर्वजन वरेण्य और स्मरणीय बनाया। एक ओर जिस प्रकार किसी के मन में आध्यात्मिक समस्या उत्पन्न होने पर उसके समाधनार्थ वह उनकी दीर्घ कुटी में द्वारस्थ होता, दूसरी ओर उसी प्रकार किसी का मन मानवरूपी देवता को देख जीवन चरितार्थ करने हेतु उनके दर्शन-लाभ को लालायित रहता। उनके भवन-कुंज तो परिणत हो चुके थे मानवों के पावन तीर्थक्षेत्र में।

अनगिणत भक्तों और शिष्यों का वहाँ पदार्पण होता जिनके साहाय्य से भारतवर्ष के नाना प्रदेशों से असंख्य शास्त्रग्रन्थ संगृहीत होकर वृन्दावन में आ गए। इनके साहाय्य से सनातन के विचार-शक्ति और रूप की कवित्व-प्रतिभा नव-नव शास्त्र-पथ पाकर एक पर्वतीय स्रोतस्विनी की भाँति क्षिप्र गति से प्रवाहित होने लगी। उनके द्वारा लिखित, संकलित और व्याख्यायित भक्ति-ग्रन्थ-समूह विश्व-मानवों के लिए सार सम्पत्ति बनने लगी।"

वृन्दावन भेजते समय महाप्रभु ने सनातन से कहा था कि वे श्रीधाम में दीन भक्तवृन्दों के आश्रय-स्थल बनें परन्तु यह कार्य उनके एकनिष्ठ कनिष्ठ भ्राता द्वारा ही विशेषरूप से साधित हुआ। सनातन तो कुछ आत्महारा गंभीर प्रकृति के मनुष्य थे, व्यावहारिक कार्यकुशलता तो रूप में ही अधिक थी। उपयुक्तता के अनुपात से कार्य-भार तो अपने आप मानवों के पास जुट

जाते हैं। महाप्रभु के प्रवर्त्तक अथवा प्रचारित उपदेश के फलस्वरूप नाना दिशाओं से भक्तों का समूह जिस प्रकार दल बनाकर वृन्दावन में पदार्पण करता उसी प्रकार अग्रणी और उद्यमी बनकर रूप उन सब की देखरेख करने लगते। जो जिस प्रकृति के लोग थे, उन्हें उसी के अनुरूप कुटी बनाकर निवास करने के लिए देते, सबों के अभावों के विषय में छानबीन कर उसकी व्यवस्था कर देते और इस प्रकार रूप गोस्वामी वृन्दावन की भक्ति-मंडली के कर्त्ता बन बैठे। इसी -कर्तृत्व ने उनके गोस्वामी नाम की सार्थकता रखी। किसी को भी इस कामोपयोगी व्यक्ति की पहचान में विलम्ब नहीं होता। कोई भी नूतन व्यक्ति आने पर सर्वप्रथम वह रूप को ही खोज निकालता। प्रवासी भक्तगण अपनी अंगुलियों के संकेत से उन्हें ही दिखला देते, किसी पर्व-त्योहार या उत्सवादि के अवसर पर उसकी सारी व्यवस्था वे ही करते। इस प्रकार नानाविध से रूप श्रीकृष्ण-रंगमंच पर अभिनय करने लगे। श्रीकृष्ण वृन्दावन के राजा हैं और रूप हैं उनके राज-प्रतिनिधि। रूप का ही नाम देश में अतिशीघ्र प्रचारित हो गया और उनका अनुवर्त्तन कर शत-शत भक्तों ने व्रजमंडल में एक संघ की स्थापना की। उठते-बैठते लोग उनकी ही कथा करते और उनके उपदेशों के फलस्वरूप ज्ञान एवं साधना के पथ पर अग्रसर होकर धन्य-धन्य होते। कौन बड़े हैं और कौन छोटे, इसे कोई नहीं जानता, रूप और सनातन इस युगल नाम में सभी रूप को ही प्रधान-रूप में स्वीकार करते। समाज के प्रति इस प्रकार की अबाध प्रतिपत्ति अल्प शक्ति का परिचायक नहीं है।[१]"

श्रीविग्रह की सेवा के निमित्त महाप्रभु ने रूप और सनातन को जो निर्देश दिए थे उन्हें एक दिन के लिए भी विस्मृत नहीं किया गया। लुप्ततीर्थों के उद्धार की कल्पना के साथ-साथ उनके लुप्त विग्रहों के पुनराविर्भाव की कथा के सम्बन्ध में भी वे एकान्त मन से व्याकुल होकर विचार करते।

वृन्दावन में कार्यारम्भ हुए बहुत वर्ष व्यतीत हो गए हैं। रूप और सनातन के पश्चात् वहाँ आ उपस्थित हुए हैं गोपाल भट्ट, रघुनाथ भट्ट प्रभृति पंडित और साधकगण। महाप्रभु की लीला-संवरण के पश्चात् तो वृन्दावन में रघुनाथ दास प्रभृति विशिष्ट भक्तों का भी पदार्पण हो चुका है। गौड़ीय सम्प्रदाय के गोस्वामियों की तपस्या, पांडित्य और संगठन के कारण वृन्दावन अब परिवर्तित हो चुका है भारतवर्ष के एक श्रेष्ठ वैष्णव-केन्द्र रूप में।

---

१. रूप गोस्वामी : सतीशचन्द्र मित्र

इस बीच ब्रजमंडल में प्राचीन और लुप्त विग्रहों का अनुसंधान कार्य सघन रूप से चल रहा था और इसके साथ ही मिश्रित थी सनातन और रूप आदि की आर्त और व्याकुल प्रार्थना। इस प्रार्थना का फल शीघ्र ही परिलक्षित होने लगा। मथुरा के चौबेजी की गरीब विधवा के पास से सनातन मदनगोपाल की मूर्त्ति संग्रह करके ले आए। चौबे की पत्नी को कृपापूर्वक स्वयं स्वप्न देकर उन्होंने स्वयं को सौंप दिया कंगाल भक्त सनातन के करों में।

मदनगोपाल के विग्रह के पश्चात् गोस्वामियों को करायत्त हुआ गोविन्ददेव का विग्रह। ब्रजमंडल के प्रसिद्ध और सुप्राचीन अष्टमूर्त्तियों में यह सर्वाधिक प्रधान है। श्रीकृष्ण के पौत्र ब्रजनाभ के पराभव के पश्चात् इस विग्रह ने आत्मगोपन कर लिया। रूप गोस्वामी के अलौकिक प्रयास के फलस्वरूप ही यह पावन ऐतिह्यमय विग्रह लोक-लोचन के सम्मुख प्रकट हो सका और उन्होंने ही परम उल्लास के साथ स्वीकार किया इसकी सेवा-अर्चना का दायित्व।

इस गोविन्ददेव के उद्धार-साधन की कथा आज भी ब्रजमंडल के जनमानस में ज्यों की त्यों बनी हुई है। आज भी परम जागृत विग्रह रूप में ये विराजित हैं भारतवर्ष के प्रेमी साधकों के अन्तरपट पर।

प्राचीन शास्त्रीय ग्रंथों के आलोड़न-विलोड़न के पश्चात् ही रूप गोस्वामी को ज्ञात हुआ कि राजा ब्रजनाभ ने इस श्रीविग्रह को विराजित किया था वृन्दावन के योगपीठ पर। कंथा और करंकधारी भातृ-द्वय जब वृन्दावन के अरण्यों तथा प्रान्तरों में तीर्थोद्धार-निमित्त भ्रमण कर रहे थे, उसी समय से गोविन्ददेव रूपगोस्वामी के हृदय-सिंहासन पर विराजित हो गए थे परन्तु कहाँ तो प्राचीनकाल का वह योगपीठ, कहाँ किसी नदी का गर्भ अथवा दुर्गम वन जहाँ इस विग्रह ने अपने को आत्म-गोपन करके रखा था, उसे भला कौन कहेगा ?

जब जहाँ कहीं भी भिक्षु वैष्णव रूप रहते, जप और ध्यान के पश्चात् वे नित्यप्रति व्याकुल होकर प्रार्थना करते— 'हे प्रभु, हे प्राणनाथ, आप कहाँ छिपे हो, मुझे उसका संधान बता दें, इस भक्ताधम के प्राणों की रक्षा करें।'

इस प्रार्थना को इष्टदेव ने एक दिन सुन लिया और अपनी कृपा प्रकट की। उस दिन यमुना के किनारे बैठकर साश्रु नेत्रों से वे श्रीगोविन्द का स्मरण कर रहे थे, उसी समय वहाँ पर उपस्थित हुआ दिव्य लावण्यमय श्यामकान्ति युक्त एक चंचल ब्रज-बालक।

'अरे बाबाजी, बैठे-बैठे नींद ले रहे हो अथवा गोविन्द का ध्यान कर रहे हो ! गोविन्द तो वहाँ पर है, उस मिट्टी के टीले के भीतर।'

ध्यान भंग कर रूप एक दीप्ति के साथ अपने आसन पर खड़े हो गए और व्याकुल स्वर से प्रश्न किया—'भाई, मिट्टी के टीले में वे कहाँ छिपे हैं, कौन बतलायेगा यह मुझे ?'

'क्यों, मैं बतलाऊँगा तुम्हें बाबाजी। जानते हो, उस मिट्टी के टीले पर एक जगह प्रतिदिन दोपहर की बेला में एक गाय चरने आती है और ठीक उसी जगह स्थिरता से खड़ी होकर अपने स्तन से दूध टपकाती है। उसी के नीचे तो निवास करते हैं तुम्हारे गोविन्दजी।'

एक अलौकिक आनन्द से प्राण-मन अधीर हो उठा और अर्द्धबाह्य अवस्था में गोस्वामीजी विचार करने लगे कि क्या यह सचमुच में कोई ब्रजबालक है या दिव्य लोक का कोई अधिवासी ? अथवा स्वयं गोविन्द ही छद्मवेश में आविर्भूत हुए हैं ? रूप गोस्वामी की सम्पूर्ण देह और मन में तीव्र रसोद्रेक हो उठा और वे उसी समय मूर्छित हो गए।

चेतना लौटने पर उन्होंने देखा कि वह सुदर्शन बालक अन्तर्धान हो गया है।

बड़ी व्यग्रता के साथ तत्क्षण रूप गोस्वामी सन्निकट के गाँव में जाकर सबों से मिट्टी के टीले की रहस्यमय कथा के सम्बन्ध में जिज्ञासा करने लगे, विशेषकर नित्यप्रति गौ द्वारा दुग्ध-क्षरण की कथा के विषय में।

ब्रजवासी लोग उत्साहपूर्वक कहने लगे—'हाँ बाबाजी, तुम ठीक कह रहे हो। अनेक वर्षों से हमलोग देखते आ रहे हैं कि नियमित ढंग से ठीक एक निश्चित स्थान पर गाय के दूध उसके स्तनों से टपकते हैं। निश्चय ही वहाँ पर किसी देवता का निवास है।'

इतना सुनते ही गोस्वामी के नेत्रों से आनन्दाश्रु प्रवाहित होने लगे और सम्पूर्ण शरीर में भावावेश से बार-बार रोमांच हो आया। ग्रामीणों को उन्होंने व्याकुल होकर प्रार्थना की 'भाई सब, आपलोग वहाँ चलें और सभी मिलकर मेरी सहायता करें। उस स्थान पर हमसभी के प्राणप्रिय ठाकुर श्रीगोविन्ददेव निवास करते हैं।'

बाबाजी की इस प्रेरणा और उत्साह से सभी उद्‌बुद्ध हो उठे। समवेत चेष्ठा द्वारा उस स्थान के उत्खनन का कार्य प्रारम्भ हुआ और उसी दिन आविष्कृत हुआ श्रीगोविन्ददेव का पवित्र विग्रह।

मिट्टी का यही टीला द्वापर युग का योगपीठ है और ये ही विग्रह ब्रजनाभ महाराज द्वारा प्रतिष्ठित एवं पूजित श्रीगोविन्ददेवजी हैं; इस तथ्य को रूप गोस्वामीजी ने शास्त्रवचनों के उद्धरण द्वारा ग्रामवासियों, साधु-संतों और भक्तजनों के समीप प्रमाणित कर दिया ।

गोस्वामीजी की तपस्या के फलस्वरूप गोविन्ददेव स्वयं कृपा करके प्रकटित हुए हैं, यह कथा शीघ्र ही सम्पूर्ण ब्रजमंडल में प्रचारित हो गई । बस क्या था, भक्तों और साधुओं की भीड़ दल बाँधकर वहाँ इकट्ठी होने लगी और सबों ने मिलकर आयोजन किया एक विराट् भंडारा का ।

परवर्त्ती काल में रूप और सनातन के सहकर्मी रघुनाथ भट्ट के एक धनवान् शिष्य ने गोविन्ददेव का एक सुन्दर मंदिर और जगत का निर्माण करवाया ।१

वृन्दावन के गौड़ीय गोस्वामियों के शास्त्र-प्रणयन, संकलन और प्रकाशनों के विस्तार और गंभीरता को देखकर विस्मित होना पड़ता है । साहाय्य और सम्पदाहीन इन कंगाल भक्तों ने अपनी दीर्घ साधना और कर्मनिष्ठा के द्वारा जिस शास्त्र-सम्पदा का सृजन किया, वह इतिहास में अभूतपूर्व है ।

वैष्णव इतिहास के गवेषक और व्याख्याता सतीशचन्द्र मित्र ने लिखा है :—

सोलहवीं शताब्दी के प्रथम पाद में इनलोगों ने जिस धर्म का गठन कर सम्पूर्ण देश में एक सशक्त आन्दोलन का श्रीगणेश किया, उसका प्रवाह परवर्त्ती युग में कितने शताब्दियों तक चलेगा, इसे भला कौन बता सकता है ? कारण कि वंग के जो शक्तिशाली लोग हैं, समाज में कुलीन के रूप में जो चिह्नित हैं, वंग समाज के उच्चस्तर के उन ब्राह्मण, कायस्थ, वैद्य प्रभृति जाति के अधिकांश लोग उस समय शाक्त मतावलम्बी थे—उस समय वे गौड़ीय वैष्णवमत के प्रबल शत्रु थे । पांडित्य, प्रतिभा, वंश-परम्परा के कारण जो ब्राह्मणगण सर्वत्र ख्याति सम्पन्न थे, धर्म-साधना की अपेक्षा आचार-निष्ठा में जिनका

---

१. उड़ीसा के राजा प्रतापरुद्र के पुत्र पुरुषोत्तम ने रूप गोस्वामी के तिरोधान के कुछ पूर्व ही इस मंदिर-विग्रह के समीप एक राधिका-मूर्त्ति की स्थापना की थी । परवर्त्तीकाल में मंदिर जीर्ण-शीर्ण हो जाने पर अम्बेर के राजा मानसिंह ने इस स्थान पर लाल पत्थरों से शिल्पकला से युक्त एक भव्य मंदिर का निर्माण करवाया । तत्पश्चात् औरंगजेब द्वारा इसके प्रधान अंश को भग्न करवा दिया गया जिससे मंदिर का सौंदर्य और वैभव नष्ट हो गया ।

विशेष आग्रह था, वे सभी इस नूतन मत को अशास्त्रीय एवं अनाचरणीय कहकर उसकी उपेक्षा कर रहे थे। फलतः प्रवर्तक महाप्रभु आदि लोगों के अन्तर्धान के पश्चात् उनके धर्म की रक्षा करना एक गुरुतर समस्या थी। इस देश में शास्त्र की भित्ति पर प्रतिष्ठापित न होने पर कोई भी धर्म नहीं टिक सकता। पंडितों के इस देश में सबों को तर्क-युद्ध में पराजित कर कोई भी अपना मत स्थापित नहीं कर सका। इस विषय में सभी चेष्टाएँ व्यर्थ होंगी; महाप्रभु चैतन्य ने इस रहस्य को समझा था। भावों के जल-प्रवाह में जलोच्छ्वास तो रहता ही है परन्तु कालान्तर में शुष्क बालुका राशि में उसका सूख जाना कोई आश्चर्यजनक नहीं। उसे मिट्टी के गड्ढे में दृढ़ता से आबद्ध करके न रखने पर वह सुन्दर जल से परिपूर्ण जलाशय में परिणत होकर चिर-पिपासुओं की तृष्णा के निवारण में कतई समर्थ नहीं हो सकता।

—इसीलिए तो श्रीचैतन्यदेव ने अपने भक्तों के बीच से चुन चुन कर लोगों को भेजा और उनके द्वारा ही वैष्णवमत सम्बन्धी शास्त्रों का गठन और संकलन करवाया था। जगत् के सभी जातियों के नेतृवृन्द के मध्य जो लोग उपयुक्त, लोक-निर्वाचन में पटु और गुणग्राही तथा सूक्ष्मदर्शी थे, उन्होंने ही जगत् में विजय प्राप्त की थी। चैतन्यमत की सफलता का यही प्रधान कारण है।

—अपनी मोहिनी मूर्त्ति से उन्होंने जिन लोगों पर शक्ति-संचार करके उन्हें आत्मसात् किया था, वे ही चुने हुए लोग हिन्दू शास्त्र के आकर ग्रंथों से रत्नोद्धार करके नव-प्रवर्तित गौड़ीय मत को एक सुदृढ़ भित्ति पर प्रतिष्ठित कर गए थे। उनके समीपवर्त्ती लोगों ने ही सर्वप्रथम पांडित्य में उनसे पराजित हो अपना मस्तक अवनत कर लिया था, तभी तो इस नूतन मत की विजयपताका लहराने लगी। अन्यथा श्रीचैतन्य के धर्म की आज क्या दशा होती, इसे कौन बतला सकता है? जिन सभी संसार-त्यागी, असाधारण शास्त्रदर्शी और दैन्यवेशी संन्यासी भक्तों ने वृन्दावन को अपना केन्द्र-स्थान एवं आवास बनाकर असंख्य वैष्णव ग्रंथों की रचना की और एतद्द्वारा वैष्णव धर्म की भित्ति के मूल का निर्माण किया, उनके मध्य सर्वप्रधान और सर्वप्रथम थे तीन व्यक्ति—श्रीसनातन और रूप गोस्वामी तथा इनके भ्रातृ-पुत्र एवं शिष्य श्रीजीव गोस्वामी। यदि सनातन ने अपने धर्म को तथा भक्तिवाद के सिद्धान्तों को सनातन धर्म का अन्तर्भुक्त कहकर उन्हें प्रमाणित किया था तो रूप ने उस धर्म की साधन-प्रणाली का स्वरूप निर्धारित किया और श्रीजीव ने उनकी विविध सन्दर्भों में तत्त्व-व्याख्या करके उस धर्म को चिरजीवी बनाया।

इन गोस्वामियों के मध्य त्याग, तपस्या, संगठन-शक्ति तथा शास्त्र एवं काव्य-रचना की दृष्टि से रूप गोस्वामी थे असाधारण परन्तु उनके श्रेष्ठतम अवदान थे कृष्ण-लीला एवं कृष्ण-रस से ओतप्रोत उनके काव्य और नाटक।

रूप गोस्वामी अल्पायु से ही परम पंडित और जन्मजात कवि थे। उनके हस्ताक्षर जिस प्रकार मुक्ता-पंक्ति के सदृश सुन्दर थे उसी प्रकार उनकी भाषा भी परिमार्जित, अलंकृत, निरूपण और कवित्वपूर्ण थी। उनकी रचना से सर्वत्र गंभीर चिन्तनशीलता टपकती है। नव-नव भाव एवं सुन्दर शब्दों से समाविष्ट उनके श्लोक विषयानुरूप गांभीर्य से मंडित तथा काव्य-रस-कला से पूर्णतः युक्त हैं। गंभीर शब्दों के संभारों से भाराक्रान्त श्लोकों के अध्ययन मात्र से स्पष्ट प्रतीत होने लगता है कि ये रूप गोस्वामी की लेखनी-प्रसूत हैं और अर्थ-बोध होने मात्र से उनके कवित्व-कौशल पर मुग्ध होना पड़ता है। इस प्रकार के भावुक, तथा लेखक अपनी-युवावस्था में मुसलमान शासक का राजस्व सचिव बनकर किस प्रकार तृप्त थे, यह एक आश्चर्य का विषय है। पारिपार्श्विक अवस्था के दोषों ने प्रमत्त कवि को भी प्रचण्ड संसारी बना दिया था, यह उसी का दृष्टान्त है। संसार को जो ठीक-ठीक समझते हैं, कर्मवासना की समाप्ति होने पर वे ही पुनः संसार का अच्छी-तरह परित्याग भी करते हैं। जिस प्रकार जंग छूट जाने पर सभी धातु चमकने लगते हैं, उसी प्रकार विषय-मरीचिका के हाथों से निस्तार पाकर रूप को जो नवजीवन प्राप्त हुआ, उसके प्रकाश से सम्पूर्ण भारतवर्ष उद्भासित हो उठा था।

राजकर्मचारी रहने के समय भी कभी वे अपने ज्येष्ठ भ्राता के साथ शास्त्रचर्चा करने से विरत नहीं हुए; उनकी काव्य-प्रतिभा कभी भी पूर्णतया सुप्त या गुप्त नहीं रही। संसार त्यागकर वृन्दावन आगमन के पश्चात् जब राशि-राशि शास्त्रग्रंथों का संग्रहकर उनमें वे दत्तचित्त हो रहे थे, तब उनकी चिन्तनधारा स्वभावतः उच्छलित हो जाती थी, जिसे एक दासी की भाँति भाषा में आबद्ध कर लोकशिक्षा के निमित्त वे ग्रंथित करके रखते जाते। कितने काव्य, नाटक, स्तोत्र, मंत्र-कविता, सारार्थ-व्याख्या अथवा शास्त्र-संग्रह जो उनकी लेखनी द्वारा प्रकाशित हुए, उसका वर्णन नहीं हो सकता। रूप गोस्वामी ने अनेक प्रकार के अनेकानेक-ग्रंथों का प्रणयन किया। श्रीजीव गोस्वामी ने स्वप्रणीत 'लघु तोषणी' ग्रंथ में अपने वंश-परिचय के समय इन सभी ग्रंथों का परिचय दिया है।[१]

---

१. रूपगोस्वामी : सतीशचन्द्र मित्र।

काव्य, नाटक, रसग्रंथ, स्तोत्र भणिता एवं शास्त्र-संग्रह-ग्रंथों को मिलाकर रूप ने सोलह ग्रंथों का प्रणयन और संकलन किया था। विदग्धमाधव और ललितमाधव इन दोनों नाटकों में नायक श्रीकृष्ण का विदग्ध और ललित इन दो माधुर्य रूपों में उन्होंने चित्रण किया है तथा राधा एवं प्रधान सखियों सहित उनकी मिलन-लीला का भी चित्रण किया है। इन दोनों नाटकों में कृष्ण के अनुपम भावमूर्त्ति और निगूढ़ प्रेमतत्व के द्वारा मधुर-रस, जो साधकों का उपजीव्य है, परिवेष्टित है; परन्तु रूपगोस्वामी के ग्रंथ-समूहों में सर्वप्रधान हरिभक्ति रसामृत सिन्धु और उज्ज्वल नीलमणि ये दो ही ग्रंथ हैं। इन दोनों की प्रसिद्धि रस-ग्रंथों के रूप में है।

भक्तिरसामृत सिन्धु की रचना में सनातन और रूप—इन दोनों भाइयों का, अवदान रहा है। इसमें सनातन ही शास्त्रों के रहस्यों के विचारकर्त्ता थे और रूप उनसे निर्देश एवं सम्मति लेकर तत्वों तथा सिद्धान्तों को स्थिर करते थे। अनेक वर्षों के परिश्रम के द्वारा ही यह महाग्रन्थ इन्होंने लिखा था। इसीलिए ये ही इसके रचयिता के रूप में परिचित हैं। इस ग्रन्थ में इन्होंने भक्ति-रस की विभिन्न धाराओं की व्याख्या और उसका विश्लेषण किया है। इसके साथ ही भक्ति के स्वरूप और उसके प्रकार-भेदों के निर्णय के प्रसंग में उपस्थित किया है गौड़ीय वैष्णव मतवाद को।

भक्तिरसामृत सिंधु में रूप गोस्वामी ने शान्त, दास्य, प्रभृति सभी रसों का वर्णन किया है परन्तु मधुर रस को अत्यन्त गूढ़ कहकर उसकी आलोचना संक्षेप में प्रस्तुत की है। इस गूढ़ रस की विस्तृत व्याख्या हमें मिलती है उनके उज्ज्वलनीलमणि में। भक्ति-समुद्र से नीलमणि तुल्य मधुर अथवा उज्ज्वल रस का आहरण किया है विदग्ध लेखक ने और तभी तो इसका नामकरण किया है—उज्ज्वल नीलमणि। मधुर-रस की विस्तृत व्याख्या और उसके विश्लेषण से यह ग्रन्थ भरपूर है।

शास्त्रसंग्रह के ग्रन्थसमूहों के मध्य रूप गोस्वामी का लघुभागवतामृत विशेषरूप से उल्लेखनीय है। इसमें सनातन गोस्वामी के महान् ग्रन्थ वृहद् भागवतामृत का संक्षेपण है। विदग्ध रूप के मत में भगवतामृत के दो प्रकार हैं—कृष्णामृत एवं भक्तामृत। इसीलिए ग्रन्थ को दो भागों में विभक्त किया है। इस ग्रन्थ में इन्होंने प्रतिपादित किया है श्रीकृष्ण का स्वरूप-निर्णय, अवतार-तत्व की आलोचना एवं श्रीकृष्णावतार का श्रेष्ठत्व। मथुरा मंडल में आज भी श्रीकृष्ण की नित्यलीला चल रही है और देवता लोग सर्वदा उसका दर्शन करते हैं—इस तत्व को इन्होंने उपस्थापित किया है शास्त्र-पुराणों के अनेकानेक उद्धरणों द्वारा।

वैष्णवीय साधना और सिद्धि के मूर्त्तरूप थे रूप गोस्वामी जिनके महान् जीवन में कोमलता और कठोरता, वैराग्य और अनुराग, साधना की वैधी एवं रागानुगा धृति एकसाथ अपूर्व विशिष्टता के संग प्रस्फुटित हुई थी और इसके साथ ही घटित हुआ था भक्ति एवं ज्ञान का विराट् समन्वय।

वैयक्तिक साधनजीवन में वे थे युग्म कौपीनधारी एक दीनातिदीन वैष्णव। तृण से भी नीच और तरु से भी सहिष्णु, महाप्रभु चैतन्य का यह वैष्णवीय आदर्श रूपायित हुआ था उनके अन्दर; परन्तु इसके साथ ही उनमें धार्मिक आदर्शों की रक्षा सम्बन्धी निष्ठा और दृढ़ता भी थी। शिष्यों और भक्तों के मध्य बिन्दुमात्र शिथिलता अथवा स्खलन होते देख क्षण भर में एक तेजस्वी सिद्धपुरुष की अग्निगर्भ मूर्त्ति वहाँ प्रकटित होती और वे रुद्र रोष से उबल पड़ते। इसीलिए वृन्दावन के भक्तसमाज में रूप गोस्वामी की परिगणना होती थी एक असाधारण वैष्णव नायक के रूप में।

रूप गोस्वामी दिक्पाल पंडित और अप्रतिम कृष्ण-रस-वेत्ता थे जिनकी चारित्रिक विशेषता थी वैष्णवीय दैन्य एवं विनय; जिनकी दृष्टि में प्रतिष्ठा थी—शूकरी निष्ठा। भारतवर्ष के दिग्दिगन्त से कितने ही धार्मिक नेताओं, कितने ही दिग्विजयी पंडितों का वृन्दावन में आगमन होता जो रूप गोस्वामी के समीप उपस्थित होते तर्क और विचारणा हेतु। लेकिन वे कभी भी इस जातीय द्वन्द्व में लिप्त नहीं होते, बड़े आनन्द से लिखकर दे देते उन्हें जयपत्र। एक ओर प्रतिद्वन्द्वी जहाँ अपनी छाती फूलाकर वहाँ से प्रस्थान करते दूसरी ओर वहीं पर रूप निमग्न हो जाते अपनी शास्त्र रचना में अथवा भजनानन्द में।

एकबार आचार्य बल्लभ भट्ट रूप गोस्वामी से मिलन हेतु आए। भट्टजी विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के प्रख्यात नेता थे एवं भक्ति-पुराण शास्त्रों के सुपंडित थे। उस समय रूप गोस्वामी अपनी कुटिया में भक्ति-रसामृत ग्रंथ की रचना में तल्लीन थे और श्रीजीव उनके समीप बैठ भक्तिभाव से उन्हें अपने हाथों से व्यजन कर रहे थे। रूप ने भट्टजी की सम्मानपूर्वक अभ्यर्थना की और उन्हें एक ओर अपने पार्श्व में बैठने के लिए एक आसन बिछा दिया।

कुछेक क्षणों की कथा-वार्ता के उपरान्त भट्टजी ने रूप गोस्वामी के सद्यः रचित ग्रंथ से दो-चार श्लोकों के श्रवण की इच्छा प्रकट की। रूप द्वारा मंगलाचरण के दो-एक श्लोकों का पारायण करने के साथ-साथ बल्लभ भट्ट ने शास्त्रीय वितर्क खड़ा करते हुए कहा—'गोस्वामीजी, आप देखते हैं, इस श्लोक में एक त्रुटि रह गई है, एक संशोधन करना इसमें संगत होगा।'

'अत्युत्तम कथा' तत्क्षण सोल्लास बोल उठे रूप गोस्वामी। यदि आप स्वयं ही कृपापूर्वक संशोधन कर देते तो बहुत उपकृत होता। आप यहाँ बैठकर अपना कार्य पूरा करें। उधर अब ठाकुर की सेवा का भी कार्य है, समय हो गया है, मैं यमुना में स्नान करके आ रहा हूँ।'

कौतुक हेतु अपने ग्रंथ को उसी तरह खुला हुआ छोड़कर रूप गोस्वामी प्रशान्त मन से चले गए।

परन्तु श्रीजीव चुपचाप पार्श्व में उपविष्ट थे। पांडुलिपि संशोधन हेतु जभी भट्टजी के हाथ में लेखनी उठी, तभी क्रुद्ध होकर कठोर स्वर में उन्होंने कहा—'आचार्य, जरा ठहरें। इस श्लोक में कोई त्रुटि है अथवा नहीं, पहले इसका निर्णय तो कर लें। हमलोगों के गोस्वामी प्रभु दैन्य के अवतार हैं। आप पूर्णतः भ्रान्त हैं, इस कथा को समझते हुए भी उन्होंने आपके अहंभाव को इस प्रकार थोड़ा प्रश्रय दिया है।'

'तुम कौन हो हे नवयुवक! देखता हूँ तुम्हारी स्पर्धा कम नहीं है। जानते हो तुम, मैं कौन हूँ?'

'जी, आपका परिचय मैंने सुना है।'

'तब? इस प्रकार का साहस तुम्हें कैसे हुआ?'

'आचार्यवर, गुरु-कृपा से ही मुझमें यह साहस हुआ है। आप जिनके आलेख का संशोधन करने जा रहे हैं, उन्हीं के समीप हुई है हमारी दीक्षा एवं शास्त्र-शिक्षा। उस शिक्षा का एक कण भी मैं आयत्त नहीं कर पाया। फिर भी उनके प्रसाद के फलस्वरूप मेरे सदृश नवयुवक ने वृन्दावन में आगत दो-चार दिग्विजयी पंडितों को परास्त किया है।'

'हूँ।' आन्तरिक क्रोध और उत्तेजना को कष्टपूर्वक संयत करते हुए वल्लभ भट्ट ने कहा—'अच्छा, गोस्वामीजी के इस श्लोक की प्रासंगिकता और औचित्य का कारण बतलाओ।'

'आपने आदेश किया है तो अवश्य ही मैं दिखलाता हूँ।' यह कहकर प्रतिभाधर तरुण पंडित श्रीजीव ने प्राचीन शास्त्रों से इस श्लोक की यथार्थता सप्रमाण सिद्ध कर दी।'

आचार्य वल्लभ भट्ट ने कुछ क्षणों तक तूष्णीम् भाव का अवलम्बन किया, तत्पश्चात् जोर से पांडुलिपि को बंद करते हुए वहाँ से प्रस्थान कर गए।

मार्ग में रूप गोस्वामी के साथ भट्टजी का मिलन हुआ। इस समय आचार्य की मुख-मुद्रा अत्यन्त गंभीर थी। वे बोले—'गोस्वामी महाराज, आपकी कुटिया में उपविष्ट वह तरुण वैष्णव कौन है?'

'क्यों, क्या बात है, कहें तो। वह तो मेरा शिष्य श्रीजीव है।' रूप ने शंका के स्वर में उत्तर दिया। अब वल्लभ भट्ट ने विषण्ण होकर श्रीजीव से सम्बन्धित पूरी घटना का वर्णन किया और तत्पश्चात् वहाँ से शनैः-शनैः प्रस्थान कर गए।

कुटी के आंगन में पाँव रखते ही रूप गोस्वामी ने कठोर स्वर से श्रीजीव को अपने निकट बुलाया। इस विस्फोटक परिस्थिति का वर्णन करते हुए प्रेमविलास में उल्लेख हुआ है :—

श्रीजीव पुकार कर कहते श्रीजीव के ही प्रति।
असमय में वैराग्य वेश धारण किया मूढ़मति ।।
क्रोध के ऊपर तुम्हें क्रोध हुआ नहीं तब।
अतएव तुम्हारा मुख नहीं देखूँगा अब ।।

श्रीजीव नतशिर चुपचाप खड़े हैं। क्षण भर में उन्हें अपने गुरुतर अपराध का बोध हुआ। ठीक ही तो है, क्रोध का परित्याग न करने पर, सर्वत्यागी वैरागी होकर श्रीकृष्ण के चरणों में निवेदित—प्राण भक्त होना तो संभव नहीं है।

रूप गोस्वामी ने अब कहा—'तुम क्या समझते हो, वल्लभ भट्ट भ्रान्त हैं, यह कथा हम क्या नहीं समझते ? सब कुछ जानते हुए भी मैंने उन्हें प्रश्रय दिया है, उनके समीप झुकना स्वीकार किया है। वृन्दावन में अनेक दिग्विजयी पंडितों को बिना तर्क के मैंने जयपत्र दे दिए हैं। तुम से कुछ भी अज्ञात नहीं। महाप्रभु के पवित्र धर्म का यदि प्रचार करोगे, तो इस प्रकार के आचरण का होना उचित नहीं। केवल क्रोध ही नहीं, सूक्ष्म अहं का बोध भी तुम्हारे इस मनोभाव में प्रच्छन्न रूप से वर्तमान था। यदि तुम इन सबों का परिहार कर सको, तभी तुम मेरे समीप रह सकते हो अन्यथा नहीं।'

प्राणाधिक मातृ-पुत्र एवं अपने हाथों निर्मित दिक्पाल शिष्य श्रीजीव को जो वृन्दावन के भक्ति-साम्राज्य के भावी अध्यक्ष होंगे, एक क्षण में ताड़ित करते हुए उस दिन रूप गोस्वामी को कुछ भी बाधा न हुई। वैष्णवीय नीति और निष्ठा के प्रति इस प्रकार वज्रादपि कठोर थे वे।

गुरु को प्रणाम करके जीव गोस्वामी क्रन्दन करते-करते प्रविष्ट हुए वृन्दावन के एक मानवविहीन दुर्गम अरण्य में। वहाँ फूस और पत्तों से एक पर्णकुटीर का निर्माण किया और उसी में प्रारम्भ की अपनी कृच्छ्र साधना।

उन्होंने संकल्प किया कि जो शोधन एवं रूपान्तर गुरु को अभीष्ट है, उसे पूरा न करने तक लोकालय में पुनः प्रवेश न करूँगा और इसी अरण्य में ही करूँगा अपना जीवनपात।

इस तरह अनेक महीने व्यतीत हो गए। अत्यधिक कठोरता से श्रीजीव अपना दिन व्यतीत कर रहे थे। दूर-दूरन्त के गाँवों से कोई कभार यदि आकर कुछ खाद्य पदार्थ प्रदान करता तो उसी से अपना जीवन धारण करते। कभी कोई चरवाहा अथवा भक्त वनमाली एक मुष्टि गेहूँ लेकर उपस्थित होता। उसी को चूर्ण करके जल के साथ पान करते और पुनः निमग्न हो जाते दीर्घ समय तक अपने जप और ध्यान में।

एक दिन हठात् इस वन के प्रान्तस्थित ग्राम में सनातन गोस्वामी का आगमन हुआ। ग्राम के सभी प्राचीन महात्मा सनातन के भक्त और अनुरागी थे। नाना प्रकार की कुशल-वार्ता के पश्चात् नवीन वैरागी की कथा भी प्रकाश में आई। कौतूहली सनातन तत्क्षण वहिर्गत हुए उनकी खोज में।

देखते ही श्रीजीव लुंठित हुए अपने पितृव्य के चरणों पर और निवेदित की अपने दुर्भाग्य की कथा। स्नेह और करुणा से सनातन का हृदय विगलित हो उठा और उन्होंने नाना विध सांत्वना प्रदान की परन्तु रूप के मनोभावों का उन्हें ठीक-ठीक परिज्ञान न हो सका। अतएव उसकी सम्मति के अभाव में श्रीजीव को अपने साथ ले चलने का साहस वे नहीं कर सके।

वृन्दावन आने पर रूप के साथ साक्षात्कार होते ही सनातन ने प्रश्न किया—'तुम्हारे भक्तिरसामृतसिन्धु की रचना कहाँ तक हुई है ? समाप्त होने में अब कितना विलम्ब है ?'

रूप गोस्वामी ने उत्तर दिया—'कार्य तो बहुत अग्रसर हुआ है। यदि श्रीजीव समीप होता तो अबतक समाप्त हो गया होता और उनका साहाय्य भी प्राप्त होता। उसने तो उस दिन हठात् इस स्थान का परित्याग कर दिया।'

'मैंने सब सुना है। वनों में भ्रमण करते समय श्रीजीव के साथ मेरा साक्षात्कार हुआ है। अहा ! अनाहार, अनिद्रा और कठोर तपस्या के कारण उसकी जो दशा हुई है, उसकी ओर तो अब देखा नहीं जाता। उसकी देह अत्यन्त शीर्ण और दुर्बल हो गई है। देखा मैंने उसमें किसी प्रकार प्राण मात्र अवशेष हैं।

सनातन की आन्तरिक व्यथा और उनके इंगित का मर्म रूप को समझते देर न लगी। सनातन उनके मात्र ज्येष्ठ भ्राता नहीं थे, उनके गुरु स्थानीय भी

थे — उनके हृदय-देवता । इसीलिए इन्होंने निश्चय किया कि अब और अधिक नहीं, श्रीजीव को अब क्षमा करना होगा । इस बीच उसे पर्याप्त प्रायश्चित्त हो गया ।

उसी दिन पत्र भेजकर श्रीजीव को बुला मंगाया और तत्क्षण उस दिन के अपराध को क्षमा कर दिया । गुरु-करुणा लाभ करके मानो श्रीजीव ने पुनर्जीवन प्राप्त किया ।

सम्पूर्ण वृन्दावन के भक्त-समाज में इस घटनाजन्य परिव्याप्त त्रास की अब समाप्ति हुई और सबों ने त्राणसूचक उच्छ्वास छोड़े ।

वृन्दावन में महाप्रभु चैतन्य द्वारा आदिष्ट कर्मों के उद्यापन में रूप और सनातन ने अपने जीवन को उत्सर्ग कर दिया था । कंथा और करंगधारी, इन दोनों वैरागी भिक्षुकों, ने स्थापित किया था एक विशाल भक्ति-साम्राज्य । ये लोग महाप्रभु द्वारा प्रचारित भक्ति-प्रेमधर्म के चिह्नित अधिनायक रूप में विशेष रूप से चिह्नित हुए थे । तत्कालीन भक्त-समाज के अन्यतम मुखपात्र कृष्णदास कविराज ने इन दोनों गोस्वामियों का मूल्यांकन करते हुए लिखा है :—

सनातन की कृपा से पाया भक्ति के सिद्धान्त ।
श्रीरूप की कृपा से पाया रसभार प्रान्त ।।

प्राय: अर्द्ध शताब्दी के विपुल उद्यम और प्रयास के फलस्वरूप भक्तिधर्म और रसतत्व का विराट् शास्त्रागार रचित हुआ था और इसके साथ ही गठित हुआ था निगूढ़ साधना की सिद्धि से समुज्वल एक साधकगोष्ठी । सर्वाधिक आनन्द की कथा यह है कि इस शास्त्रागार एवं इस साधकगोष्ठी के कुशल तथा प्रतिभाधर नेता के रूप में शनै:-शनै: अभ्युदय हो रहा था श्रीजीव गोस्वामी का । रूप और सनातन गोस्वामी दोनों ही अब वृद्ध हो रहे थे और दीर्घ दिनों की कृच्छ्र साधना तथा परिश्रम के कारण उनके स्वास्थ्य भी अब टूट रहे थे । अत: अब वे उन्मुख हो रहे थे जीवन की शेष यात्रा की ओर ।

अल्पावधि में ही वृद्ध सनातन गोस्वामी ने सबों को शोक-सागर में निमग्न करते हुए आषाढ़ी पूर्णिमा को अपना देहत्याग किया । देवतुल्य ज्येष्ठभ्राता, शिक्षा-गुरु एवं रूप के जीवन के सभी कर्मों के उद्योक्ता और नायक थे सनातन गोस्वामी । अत: यह विच्छेद रूप के लिए अत्यन्त मार्मिक था । रोते-रोते इन्होंने सनातन के शेषकृत्य का समापन किया; बड़ी धूम-धाम से भंडारा एवं अनुष्ठान समाप्त किए । तत्पश्चात् रूप गोस्वामी प्रविष्ट हो गए अपनी निभृत भजनकुटी में ।

जीवन के अवशिष्ट कतिपय महीनों में उन्हें अपनी कुटी से बाहर निकलते नहीं देखा गया ; वे तो अपने इष्ट-ध्यान एवं इष्टनाम के जप में निरन्तर अभिनिविष्ट थे ।

१५५४ खीष्टाब्द के चिह्नित क्षण में इस महान् साधक की चिर बिदा बेला का लग्न आ जाने पर, प्राण-प्रभु गोविन्ददेव की ओर अपनी दृष्टि निबद्ध करते हुए वे प्रविष्ट हुए नित्यलीला में । भारत के आध्यात्म-आकाश से मानो टूट पड़ा हो प्रेमभक्ति-साधना का एक जाज्वल्यमान नक्षत्र ।

□

राम ठाकुर

वर्षागम का जो पावस-पर्व पूर्वोत्तर भारत में 'अम्बुवाची' के नाम से प्रसिद्ध है, कामरूप के कामाख्या-मन्दिर में दीर्घ काल से वह धार्मिक उत्सव के रूप में मनाया जाता रहा है। उस दिन उसी समारोह का अन्तिम दिन था। सहस्रों नर-नारियों की भीड़ मन्दिर के समारोह प्राङ्गण में एकत्र थी। सम्पूर्ण पर्वत-तीर्थ नर-नारियों के पुण्योत्सव-कलरव से निनादित हो उठा था। उत्सव-कलरव का यह पुण्यमय निनाद दूर से ही समुद्र-गर्जन की तरह सुना जा सकता था।

भारत के सुदूर प्रान्तरों से जो मानव-समुद्र उमड़ कर कामाख्या देवी के मन्दिर के आस-पास घहरा रहा था, उसमें नाना जाति और नाना प्रदेश की सम्मिलित विचित्रता थी। पुण्य-लोभी भक्तों में कुछ यदि धन की कामना से आये थे तो कुछ जन की आकांक्षा लेकर। इन गृहस्थ भक्तों की ही तरह उन गृह-त्यागी संन्यासियों की भी भीड़ लगी थी, जिनके जीवन में कोई आकांक्षा न थी। तांत्रिकों, योगियों, वेदान्तिकों और उदासियों की जमात भी प्रचुर संख्या में उपस्थित थीं। इस मन्दिर की अधीश्वरी भारत में सर्वत्र समान रूप से प्रसिद्ध हैं। भारत के प्रत्येक क्षेत्र के भक्त कामाख्या देवी के चरण-पीठ में

मस्तक टेकने के लिए सहस्रों वर्षों से लालायित रहते आये हैं। उत्सव की समाप्ति के पश्चात् आगतों की यह अपरिमेय भीड़ आप ही बिखर जायगी और जो जहाँ से आये थे, वे वहाँ लौट जायँगे।

उत्सव के इस अन्तिम दिन में सबसे अधिक भीड़ थी उस कुण्ड के पास, जहाँ स्नान-तर्पण कर लेने के पश्चात् ही देवी की पूजा में सम्मिलित होने की परिपाटी है। मन्दिर के गर्भ-गृह में और आसपास के प्राङ्गण और पथ में तो तिल रखने की जगह भी खाली न थी। पुजारीगण धीर-गम्भीर स्वर में मन्त्रोच्चारण कर रहे थे और स्तव-गान का मधुर सांगीतिक निनाद भी दूर से ही सुना जा सकता था। सहसा दर्शनार्थियों की भीड़ को सँभालना पहाड़ के भीतर अवस्थित प्राङ्गण-क्षेत्र के लिए असम्भव हो उठा। जंगल के टेढ़े-मेढ़े निर्जन पथ को यात्रियों की भीड़ से ओत-प्रोत कर देनेवाले इस उत्सव में ऐसी अव्यवस्था अक्सर अनिवार्य हो जाती है।

जन-स्रोत के ऐसे ही उत्ताल प्रवाह में बहकर बालक रामचन्द्र उस दिन अपने साथियों से अलग हो गया। घर से वे सभी साथ-साथ आये थे, पर अब उन्हें खोज पाना कठिन ही नहीं, असम्भव हो गया रामचन्द्र के लिए। अनेक दिन तक साथ साथ रहने के कारण राम की सामग्री भी उन्हीं के साथ छूट गई। किशोर वय का बालक दिन भर साथियों की खोज में बेहाल रहा, मगर उन्हें ढूँढ़ना सम्भव नहीं हुआ।

सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि राम के अपने पास एक फूटी कौड़ी भी नहीं रह गई थी। साथियों ने ही उसके भोजन-शयन की अब तक व्यवस्था की थी, किन्तु अब तो राम निरुपाय हो गया। सारा दिन वह भूखा-प्यासा रहकर साथियों को खोजता रहा। अब निराहार रहकर रात कैसे बिताई जाय, इसी की चिन्ता उसे सता रही है।

आज अम्बुवाची उत्सव की समाप्ति के साथ तीर्थयात्रियों का दल विभिन्न दिशाओं को लौटने लग गया है। 'रजस्वला' देवी के सामने सिर टेक कर आसपास के गाँवों में रहनेवाले लोग धीरे-धीरे विदा होने लगे हैं। मेला की भीड़ छँट गई है। आसपास के जंगल में पेड़ों के नीचे साधु-संन्यासियों के जो अखाड़े लगे थे, वे भी अब टूट रहे हैं। धनी-सामन्तों के खेमे भी एक-एक कर उखाड़े जा रहे हैं।

धीरे-धीरे सूने समारोह-प्राङ्गण में गम्भीर रात्रि की नीरवता छा गई। दिन भर की दौड़-धूप से थके हुए राम की हालत निराहार रहने के कारण दयनीय हो चुकी है। अब उसमें इतनी भी हिम्मत नहीं रही, कि मन्दिर से बाहर निकल कर जा सके। फिर जब यह निश्चित है कि रात में निराहार ही

रहना पड़ेगा, तो बाहर जाने की कोई आवश्यकता भी तो नहीं रही ! क्यों नहीं पूरी रात जप और ध्यान में ही व्यतीत कर दी जाय ? यह प्रश्न राम के चित्त में साहस और स्फूर्ति का संचार करने लगा।

मन्दिर के चबूतरे के एक कोने में कुमारी-पूजा के लिए निर्धारित स्थान है। रंग-बिरंगी सुगन्धित फूलों और हरे-हरे नवीन बिल्व-पत्रों के ढेर वहाँ लग गये हैं। विविध प्रकार के नैवेद्य भी उनके साथ मिल-जुलकर एक हो गये हैं। निर्माल्य-राशि को आदरपूर्वक बगल में टालकर राम ने उसी स्थान पर बैठने की थोड़ी-सी जगह अपने लिए बना ली। वहीं कोने में बैठकर वह जप में निमग्न हो गया और धीरे-धीरे प्रगाढ़ ध्यान में उसका अस्तित्व-ज्ञान डूब गया।

आधी रात इसी तरह व्यतीत हो गई। निःशब्दता और अँधियाली की सम्मिलित प्रगाढ़ता ने राम के ध्यान को और अधिक प्रगाढ़ कर दिया। अचानक उसे गम्भीर कण्ठ में किसी ने पुकारा—'राम' !

आवाज सुनने के साथ ही ध्यान टूट गया।

मगर इतनी रात को राम को पुकारनेवाला भला कौन हो सकता है ? इस तरह नाम लेकर उसे पुकारनेवाला कोई परिचित व्यक्ति इस अजनबी क्षेत्र में सम्भव भी तो नहीं है ! नहीं, नहीं, उसे भ्रम हुआ है।

फिर भी थोड़ी देर के लिए उसके कान खड़े हो गये। उसे प्रतीत हुआ कि सुनी गई आवाज स्पष्ट थी। उसे कोरा भ्रम मानना सम्भव नहीं है। तब तक वही कंठ-स्वर और अधिक स्पष्ट होकर फिर सुनाई पड़ा—

"वत्स राम ! सुन तो रहे हो ? अरे उठो, मेरे पास आ जाओ।"

दूसरे ही क्षण राम ने देखा कि प्राचीर को बिना लाँघे ही एक विशाल-काय संन्यासी अचानक उसके सामने आविर्भूत हैं। उनके शरीर का एक-एक अवयव शुक्ल पक्ष की चाँदनी की तरह निर्मल, शुभ्र और स्निग्ध प्रतीत हो रहा है। लम्बे-चौड़े शरीर को घेर कर लम्बी जटाओं का जाल भूमि तक लटका हुआ है। घुटने तक फैली बाँहोंवाले उस संन्यासी का हृष्ट-पुष्ट शरीर अतीव सुन्दर लग रहा है। दोनों आँखें भी बड़ी-बड़ी हैं, जो अग्नि-गोलक की तरह अन्धकार को भेद कर स्वतः प्रकाशित हैं। ललाट पर रक्त चन्दन का बड़ा-सा टीका है और गले में रुद्राक्ष की लम्बी माला। ये भीमकान्त महाशक्तिधर पुरुष कोई तान्त्रिक संन्यासी ही तो हो सकते हैं !

राम ने संन्यासी की ओर नजर गड़ा कर ध्यान से देखा। अचानक उसके आश्चर्य की सीमा न रही। उसे स्मरण आया कि कई साल पहले उसने सपने

में भी एक बार ऐसी ही दिव्य मूर्त्ति को देखा था। उसे यह भी स्मरण आया कि जिस मन्त्र का वह मन्दिर में आज जप कर रहा था वह उन्हीं संन्यासी का दिया हुआ मन्त्र है। उसे यह समझने में अब तनिक भी कठिनाई नहीं हुई कि स्वप्न में आकर दीक्षा देनेवाले महापुरुष ही उसके सामने खड़े हैं। बारह वर्ष के बालक के पूर्व जन्म के आध्यात्मिक संस्कार उस दिन जैसे उस संन्यासी को देखते ही अचानक जाग पड़े। अब इस दैवी मन्त्र को और इस मन्त्रदाता को भूल पाना उसके लिए जन्म-जन्मान्तर में भी सम्भव नहीं होगा। राम के हृदय-पट में महापुरुष की दिव्य मूर्त्ति पहले से ही अंकित थी, केवल उस पर नई देह के चापल्य ने विस्मृति का परदा डाल दिया था। वह परदा आज अचानक फट गया। उसे लगा कि इसी महापुरुष के प्रति निगूढ़ आकर्षण के कारण घर के काम-काज में राम का चित्त कभी पूरी तरह रम नहीं पाता था। स्वप्न में प्राप्त इस गुरु की खोज में ही वह सम्भवतः अजाने ही घर से निकल पड़ा था। तो क्या, इन्हीं की कृपा उसे खींचकर कामाख्या-मन्दिर में ले आई है और गाँव के अन्य साथियों से उसे अलग कर दिया है?

इस प्रश्न के स्वीकारात्मक उत्तर ने उसके अन्तर को विगलित कर दिया। वह अजाने ही संन्यासी महापुरुष के चरणों में साष्टाङ्ग लोट पड़ा। उसे तनिक भी सन्देह नहीं रहा कि उसने अपने जन्म-जन्म के परमाश्रय को दैवयोग से पुनः प्राप्त कर लिया है।

पहाड़ी प्रदेश की टेढ़ी-मेढ़ी राहों से होते हुए दोनों जन भुवनेश्वरी के मन्दिर के सम्मुख आ पहुँचे। वहीं से वनाकीर्ण टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडी पहाड़ से उतर कर मैदानी भू-भाग की ओर चली गई है। दिव्य महापुरुष आगे-आगे जा रहे हैं और राम उनके पीछे-पीछे।

वर्षा थम जाने के बाद आषाढ़ के आकाश में मेघ को फाड़कर चाँद विहँसने लगा है। जंगल की राह चाँदनी से नहा उठी है। थोड़ी दूर पर पहाड़ की चोटी की अधित्यका को पखारती हुई धारा के रूप में ब्रह्मपुत्र का उन्मत्त प्लावन चीत्कार करता सुनाई पड़ रहा है।

थोड़ी दूर और आगे बढ़ने पर पहाड़ की एक दूसरी चढ़ाई शुरू होती है। थोड़ा ही चलने के बाद वन-पल्लवों से ढँका एक पर्वत-गह्वर दिखाई पड़ा। अपने पीछे-पीछे चले आने का मौन संकेत राम को देते हुए महापुरुष उस कन्दरा में पैठ गये। चारों ओर निस्तब्ध निरन्ध्र अंधियाली घहरा रही है। चकमक पत्थर के दो टुकड़ों को ठोक कर महापुरुष ने दीपक जलाया। सामने एक प्रशस्त तहखाना दिखाई पड़ा। तहखाने का कमरा काफी बड़ा और अत्यधिक स्वच्छ था।

रास्ते में महापुरुष ने एक भी शब्द का उच्चारण नहीं किया। राम की तो जैसे घिग्घी बँध गई थी। वह कुछ पूछने की हिम्मत कहाँ से लाता। महापुरुष के पीछे-पीछे मोहाविष्ट की तरह वह राह तय करता चला।

कमरे में पहुँचकर महापुरुष ने स्निग्ध स्वर में कहा, "वत्स, तुम बहुत थक गये हो। भूख-प्यास ने तुम्हें आतुर कर रखा है। थोड़ा विश्राम कर लेने के बाद कुछ आहार ग्रहण कर लो और तब चैन से बैठ जाओ।"

राम को महापुरुष के सानिध्य के विस्मयकर प्रभाव का स्पष्ट अनुभव हुआ। उसकी थकी देह में अब थकावट की कोई वेदना नहीं जान पड़ती। अवसाद का चिह्न मात्र नहीं रह गया है। उसे अपार शान्ति और तृप्ति का अनुभव होने लगा है। फिर भी आज्ञानुसार उसने थोड़ी देर विश्राम कर लिया।

कुछ देर के पश्चात् महापुरुष का आदेश सुनाई पड़ा, "वत्स, अब उठ जाओ। गुहा के परले सिरे पर जाकर देखो। मिट्टी के पात्र में दो फल रखे हुए हैं। भोजन का काम आज तो उसी से चलाना होगा।"

दीपक के मद्धिम प्रकाश में राम को गुहा का पूरा प्रसार साफ-साफ दृष्टि-गोचर नहीं हो रहा था इसमें सन्देह नहीं कि उसे बड़ी भूख लगी है, किन्तु रात भी तो करीब-करीब बीत ही चुकी है। इस समय भोजन न किया जाय; तब भी काम चल सकता है। ऐसा सोचकर वह चुपचाप गु ा के एक कोने में बैठ गया। फल खोज पाना उसके बूते सम्भव न हो सका।

अचानक उसने एक विचित्र दृश्य देखा। महापुरुष का दाहिना हाथ सहसा ज्योतिर्मय हो उठा और उसकी लम्बाई बढ़ने लगी। वह लम्बा हाथ गुहा-कक्ष के उस कोने तक पहुँच गया, जहाँ मिट्टी के पात्र में दो फल रखे थे। उन फलों को उठाकर उस लम्बे हाथ ने राम के निकट रख दिया।

राम ने इस अद्भुत दृश्य को देखा, तो आश्चर्य के मारे वह बेहोश होने लगा। किन्तु इसके साथ-ही-साथ उसके हृदय में एक नये उत्साह और साहस का प्रादुर्भाव हो गया। उसे लगा कि इस योग-लीला के द्वारा महापुरुष ने उसे बता दिया है कि उनकी कृपा की बाँह बड़ी लम्बी है। वह कहीं भी पहुँच कर अपने शरणागत शिष्य की रक्षा कर सकती है। महापुरुष के सर्वगामी बाहुद्वय के लिए पृथ्वी का कोई भी हिस्सा अजाना और अगम्य नहीं है। विस्मित बालक ने दबी निगाह से महापुरुष की ओर देखा और वह फल खाने में संलग्न हो गया।

फल खा-लेने के बाद महापुरुष ने फिर आदेश दिया -- "उठ कर देखो, पास में हो तुम्हारे शयन के लिए शय्या बिछी हुई है। अब थोड़ा सो-लो। मैं पहले ही से जानता था कि तुम आज यहाँ आओगे। इसीलिए तुम्हारे भोजन और शयन की व्यवस्था पहले ही से करा दी गई थी।

पौ फटने से काफी पहले ही महापुरुष ने राम को नींद से जगाया। बोले, "राम, अब तुम शीघ्र ही दिनचर्या से निवृत होकर तैयार हो जाओ। सामने जंगल की जो राह है, उसे पकड़ कर सीधे नीचे उतर जाओ और ब्रह्मपुत्र नदी में स्नान करके वापस आ जाओ। निर्दिष्ट लग्न आ गया है। तुम्हें आज ही मैं दीक्षा दूँगा।"

दीक्षा ग्रहण करते समय राम के आश्चर्य की कोई सीमा न रही। महापुरुष ने जो मंत्र इस समय उसके कान में चुपके-चुपके डाल दिया है, वही बीज मंत्र तो उसे वर्षों पहले अपने घर पर सपने में आकर सम्भवत: यही महापुरुष प्रदान कर चुके थे!

उस दिन की दीक्षा ने बालक के जीवन में एक असाधारण दैवी कृपा की धारा बहा दी। उसके सामने अपरिचित आलोक का एक नया सिंह द्वार उद्घाटित हो गया। साधना और सिद्धि की सीढ़ियों को एक-एक कर पार कर लेने के बाद राम ब्राह्मी स्थिति में अवस्थित हो गये। उसी समय से ये प्रसिद्ध हो गये राम ठाकुर के नाम से। राम ठाकुर की चर्चा ब्रह्मज्ञ-समाज में भारतव्यापिनी हो उठी।

तंत्र और योग की युग्म रश्मि को राम ठाकुर ने देखते-देखते धारण कर लिया। शक्ति और ज्ञान की अद्‌भुत लीला उनके माध्यम से उद्‌भासित हो उठी। वे भारत के समसामयिक महापुरुषों में अन्यतम महासाधक के रूप में चर्चा के विषय बन गये।

राम ठाकुर अध्यात्म-जीवन के महाशिल्पी और सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान महापुरुष के रूप में प्रतिष्ठित हो जाने के बाद भी अपने गुरुदेव का परिचय बताने के लिए जीवन-काल में कभी राजी नहीं हुए। वे उनके परिचय को गुप्त रखने के लिए कृत-संकल्प थे। वे उनकी चर्चा अनंग देव के नाम से करते थे, किन्तु यह भी बता देते थे कि यह नाम उनका प्रकृत नाम न था। इस नाम का इतना ही तात्पर्य था कि राम ठाकुर के गुरु देहधारी नहीं थे। विदेही सत्ता के रूप में वे सर्वत्र विराजित रहते हैं। अपने गुरु के इस निर्वैयक्तिक परिचय के द्वारा वे उनके प्रकृत परिचय को छिपाये रखने की सुविधा प्राप्त कर लेते थे। कभी-कभी वे उन्हें परमेश्वर की स्वरूप-शक्ति के आनन्दमय प्रकाश के रूप में भी श्रद्धापूर्वक चर्चा कर देते थे।

पूर्व बंग के फरीदपुर जिले में एक छोटा-सा गाँव था—डिङ्गा मानिक । इसी गाँव के एक साधारण मध्य-वित्त ब्राह्मण-परिवार में राम ठाकुर का जन्म हुआ था । पिता राधामाधव चक्रवर्त्ती को उस इलाके में लोग साधु-पुरुष के रूप में जानते-पहचानते थे । उनके परोपकार, औदार्य्य और भक्ति-परायणता की कथा उस अंचल में जनश्रुति बन गई थी । माता कमला देवी भी उस गाँव की महीयसी नारियों में गिनी जाती थीं ।

राधामाधव चक्रवर्त्ती ने तंत्राचार्य मृत्युञ्जय तर्कपंचानन से दीक्षा ग्रहण के बाद योग और तंत्र की कठोर साधना की थी । उस रूप में उनकी कीर्त्ति कम न थी । उनकी अलौकिक शक्ति की कहानियाँ बंगाल के पार्श्ववर्त्ती गाँवों में अबतक सुनी जाती हैं ।

राधामाधव चक्रवर्त्ती का अन्तिम समय भी कम आश्चर्यजनक न था । एक दुःसाध्य रोग ने उन्हें दीर्घकाल तक शय्या पर सुलाये रखा । जीने की इच्छा और आशा जाती रही । किन्तु ऐसे संकट के समय में भी उनके हृदय में एक दुर्निवार इच्छा जगी—क्यों न गुरुदेव की चरण-धूलि सिर पर धारण करने के बाद ही इस नश्वर शरीर का त्याग कर दिया जाय ?

राधामाधव चक्रवर्त्ती के दीक्षा गुरु तंत्राचार्य मृत्युञ्जय उस समय सैकड़ों मील की दूरी पर निवास करते थे । उस दिन उन्हें निकट के एक शिष्य के घर पर जहाज के जरिये जाना था । जहाज का टिकट खरीदा जा चुका था । जहाज खुलने में थोड़ी ही देर थी और उस पर चढ़ने को सीढ़ी तक वे पाँव बढ़ा चुके थे । तभी उन्हें अनुभव हुआ कि कोई उन्हें पीछे की ओर खींच रहा है । चेष्टा करने के बावजूद वे उस आकर्षण से अपने को मुक्त नहीं कर सके ।

अचानक मृत्युञ्जय महाशय के मानस-पट में पूरी स्थिति स्पष्ट होकर भासित हो उठी । वे जान गये कि उनका प्रिय शिष्य राधामाधव शरीर-त्याग के पहले अपने गुरु के चरणों की धूलि प्राप्त करना चाह रहा है, किन्तु उसका शरीर इतन दुर्बल हो गया है कि वह स्वयं चल कर अपने गुरु के पास नहीं पहुँच सकता । इस तथ्य का अहसास होते ही मृत्युञ्जय महाशय जहाज की सीढ़ी से वापस उतर गये और उसी समय डिङ्गा मानिक गाँव की ओर द्रुत पदों से चल पड़े ।

इधर मुमूर्षु राधामाधव चक्रवर्त्ती जीवन की अन्तिम घड़ियाँ गिन रहे थे । हठात् उनके सिरहाने में आकर खड़े हो गये उनके दीक्षागुरु तंत्राचार्य मृत्युञ्जय । राधामाधव ने आहट पाते ही अपनी आँखें खोल दीं । उन्होंने काँपते हाथों से गुरु की चरण-धूलि लेकर मस्तक पर धारण करने में सफलता

पा-ली और इसके तत्क्षण बाद शरीर का अनायास त्याग कर दिया । उस समय उनकी आयु पचासवें वर्ष में प्रवेश कर रही थी ।

राम ठाकुर की पुण्यमयी माता कमला देवी के शरीर-त्याग की कहानी भी कम अद्‌भुत नहीं है । कहा जाता है कि अपने अन्तिम समय का अहसास उन्हें मृत्यु के छह मास पहले ही हो चुका था । अपने परिवार के सदस्यों और पड़ोसियों को वह अपनी आसन्न मृत्यु का समाचार पहले ही दे चुकी थीं और अन्तिम समय की पूरी व्यवस्था स्वयं ही कर चुकी थीं ।

राधामाधव और कमला के तीसरे पुत्र के रूप में राम ठाकुर का जन्म सन् १८६० ईस्वी की पहली फरवरी को हुआ था । भारतीय पंचाङ्ग के अनुसार, उनके जन्म-काल का वृत्तान्त आचार्य दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य ने इस प्रकार लिखा है—

"१२६६ बंगाब्द की वैशाख शुक्ला तृतीया को अर्थात् अक्षय तृतीया को राम ठाकुर ने मातृ-गर्भ में प्रवेश किया था, जिसकी स्मृति उन्हें अन्त तक थी ।

"उनके भूमिष्ठ होने का वृत्तान्त भी कम अलौकिक नहीं है । उनके पिता राधामाधव चक्रवर्त्ती ब्राह्म मुहूर्त्त में शय्या-त्याग करने के बाद गाँव से थोड़ी दूर पर अवस्थित पंचवटी-कुञ्ज में उपासना करने के लिए प्रतिदिन चले जाते थे । अगले वर्ष की माघी दशमी तिथि को जब कमला देवी ने पौ फटने से पहले ही प्रसव-वेदना का अनुभव किया, तो उन्होंने स्वामी को पञ्चवटी जाने से रोकना चाहा । वृत्तान्त जान-लेने के बावजूद राधामाधव चक्रवर्त्ती अपने दैनन्दिन दिनचर्या से विरत होने को राजी नहीं हुए । वे प्रसव करानेवाली एक स्त्री को पत्नी के पास छोड़कर धीर पदों से सीधे पञ्चवटी की ओर चले गये ।

"थोड़ी ही देर बाद प्रसव हुआ, किन्तु आश्चर्य की बात यह थी कि शिशु के बदले कमला देवी के गर्भ से चमड़े का एक स्निग्ध थैला मात्र बहिर्गत हुआ, जिसमें जीवन का कोई चिह्न न था । प्रसव करानेवाली स्त्री उस चर्ममय पिण्ड को थोड़ी दूर पर अवस्थित एक बकुल वृक्ष के नीचे फेंक आई और प्रसूति की सेवा में संलग्न हो गई । बाद में लोगों ने देखा कि उस चर्ममय पिण्ड को घेर कर स्यार-स्यारियों का एक झुण्ड खड़ा हो गया है और अपनी पशु-प्रकृति के अनुसार आनन्द-कोलाहल कर रहा है ।

"काफी देर बाद एक स्यार ने उस चर्ममय पिण्ड को मुख के द्वारा उठा लिया और झुण्ड के अन्य साथियों के साथ उस पञ्चवटी के पास जा पहुँचा, जहाँ राधामाधव चक्रवर्त्ती अपनी साधना में तल्लीन थे । तब तक सुबह की

वेला धूप से जगमगा उठी थी। मगर चक्रवर्त्ती महाशय ध्यान-मग्न बैठे थे। स्यारों के चीत्कार ने जब उनका ध्यान भंग किया, तब उन्होंने देखा कि उनके सामने चमड़े का एक फटा थैला पड़ा है, जिसमें दो सद्यःजात जीवित शिशु विहँस रहे हैं। शिशु-शरीर पर किसी प्रकार का कोई आघात-चिह्न न था। अब शिशु रोने लग गये। ज्योतिष-शास्त्र के अनुसार जातक के रोने की आवाज की घड़ी को ही जन्म-काल की लग्न-सूचना के रूप में ग्राह्य माना गया है। श्रीराम ठाकुर स्वयं ही स्पष्टतः कह गये हैं कि उनका नाड़ी-छेदन किसी नर-नारी के द्वारा नहीं हुआ था। वह काम हुआ था मातृरूपिणी शिवा के द्वारा और उनका जन्म-स्थान भी सूती-गृह नहीं, पञ्चवटी का सिद्धपीठ ही था, जहाँ वे शिशु के रूप में भूमिष्ठ हुए थे।"

बचपन और किशोर काल में राम ठाकुर के जीवन की कोई ऐसी घटना लोक-गोचर नहीं हुई, जिसे अद्भुत कहा जाता। गाँव के अन्य साधारण बालकों की ही भाँति उछल-कूद और खेल-धूप में जीवन के वे दिन राम ठाकुर ने भी व्यतीत किये थे।

इतना तो स्पष्ट ही था कि धर्मनिष्ठ परिवार में भगवद्भक्त पिता-माता की सन्तान के रूप में जन्म लेना अपने-आप में एक अद्भुत सौभाग्य है। परिवार की सात्विक परम्परा और पिता-माता के सदाचारी जीवन का प्रभाव उन्हें भीतर-ही-भीतर अवश्य ही प्रभावित कर रहा होगा। किन्तु उस समय तक पूर्व जन्म के प्राक्तन संस्कार ने अपना ऐसा प्रकाश प्रकट नहीं किया था जो ग्राम-बालकों के बीच उन्हें विशिष्ट और असाधारण प्रमाणित कर सकता हो।

बताया जा चुका है कि हमारे चरितनायक का जन्म जुड़वें सन्तान के रूप में हुआ था। बड़े का नाम रखा गया था राम और छोटे का लक्ष्मण। पुण्यमयी माता कमला देवी रामायण-गान के प्रति विशेष अनुराग रखती थीं। वे जब-कभी रामायणी कथा सुनने जातीं, तो राम और लक्ष्मण को साथ ही लिवा जातीं। बालक राम के हृदय पर इस पौराणिक कथा की गहरी छाप आरम्भ में ही, इस प्रकार, पड़ चुकी थी। भक्तिपरक गीतों के प्रति भी बचपन में ही वे अनुरक्त हो गये। बालकोचित खेल-धूप के बीच-बीच में राम के खिलाड़ीपन को कभी-कभी अद्भुत रूप लेते हुए देखा जा सकता था। कभी-कभी बाल-मित्र-मण्डली की भीड़ एकत्र कर वे ध्यानस्थ हो जाते और गीली मिट्टी की अनेक देव-मूर्त्तियाँ बात-की-बात में गढ़ डालते। देव-देवियों की ऐसी मूर्त्तियों की पूजा में साथ की बाल-मण्डली में मिलकर कीर्तन और उत्सव-समारोह, इसके बाद स्वाभाविक ही था।

राम की उम्र जिस समय केवल आठ वर्ष की थी, उसी समय उनके पिता राधामाधव चक्रवर्त्ती का परलोकवास हो गया। पिता की मृत्यु की इस घटना ने राम को शोकाकुल ही नहीं किया, उनके अन्तर में तीव्र वैराग्य का बीज भी बो दिया।

पिता की मृत्यु के तीन-चार वर्ष बाद की घटना है। बालक राम रात्रि की गंभीर निद्रा में निमग्न सो रहे हैं। अचानक स्वप्न में दर्शन दिया एक विशालकाय दिव्य संन्यासी ने। सोये-सोये सपने में ही बालक राम ने देखा कि संन्यासी महापुरुष उनके कान में मुख सटाकर एक बीज-मंत्र का उच्चारण कर रहे हैं। स्वप्न-दीक्षा की इस प्रक्रिया के पश्चात् बालक राम ठाकुर को दिव्य संन्यासी की गुरु-गम्भीर वाणी सुनाई पड़ी, "वत्स, प्रतिदिन एकाग्रभाव से इस शक्ति-मंत्र का जप करते रहो। तुम्हारी मुक्ति का पथ शीघ्र ही उन्मुक्त होने वाला है।"

स्वप्न में प्राप्त उस बीज-मंत्र का प्रभाव सचमुच अमोघ प्रमाणित हुआ। बालक राम के अन्तर्जीवन में उस मंत्र के आविर्भाव के साथ-साथ नया आलोक आलोड़ित हो उठा। उस बीज-मंत्र का जाप आप-ही-आप होता रहता था। इसका तात्पर्य ही था कि मंत्र की शक्ति बालक के प्राण के साथ मिलकर एक हो चुकी थी। इस प्रकार जन्मान्तर की सात्त्विक संस्कार-राशि को उस बीज-मंत्र ने नये सिरे से प्रवाहित कर दिया। इसके परिणाम-स्वरूप योग के विविध आसन, मुद्रा, बन्ध, प्राणायाम प्रभृति आप-ही-आप किये जाने लगे। बालक राम सहज भाव से आसन-बद्ध होते ही प्रायः ध्यान में डूब जाया करते, किन्तु आप-ही-आप होनेवाली इन यौगिक क्रियाओं के रहस्य को समझने की चेष्टा बालक राम के लिए कभी आवश्यक नहीं हुई। इस दृष्टि से वे अपनी आध्यात्मिक संभावनाओं से आप अपरिचित ही रह गये।

यद्यपि बालक राम की एकान्तप्रियता का आरम्भ इस घटना के बाद ही आवश्यक हो गया, फिर भी घर के लोगों से इन यौगिक क्रियाओं की स्वयं-क्रियता दीर्घकाल तक छिपी न रह सकी। पर, धीरे-धीरे घर के लोगों की यह उत्सुकता भी आप ही शान्त हो गई। उन्होंने ऐसा मान लिया कि किसी अज्ञात दैवी कृपा के कारण बालक राम में असाधारण सम्भावनाएँ अन्तर्निहित हो गई हैं, जो समय पर आप ही प्रकट होंगी।

कुछ वर्षों के बाद एक नई घटना घटित हुई। दूर के सम्बन्ध में राम की फूफी कही जानेवाली एक वृद्धा स्त्री सहसा तीर्थयात्रा के लिए उत्कंठित हो उठीं। उनकी टेक थी कि वे राम को ही अपने साथ लेकर चन्द्रनाथ का

दर्शन करेंगी। तीर्थों के प्रति और देव-विग्रहों के दर्शन के लिए बालक राम में भी स्वाभाविक और जन्मजात उत्कण्ठा थी। अन्ततः तीर्थयात्रा की तिथि निर्धारित हुई और उस फूफी के साथ भगवान् चन्द्रनाथ के दर्शन के लिए बालक राम घर से बाहर निकल पड़े।

तीर्थ का वह पथ अत्यधिक दुर्गम है। बीच में अनेक जंगल और पहाड़ पड़ते हैं। उन्हें लाँघकर ही चन्द्रनाथ के तीर्थयात्री इष्ट स्थान पर पहुँच सकते हैं। वृद्धा फूफी बालक राम के साथ उस दुर्गम पथ पर बार-बार थक कर बैठ जाती हैं। वृद्ध शरीर इस यात्रा में उनका साथ नहीं दे रहा है। ऐसे समय में बालक राम बड़े मनोयोग से अपनी बूढ़ी फूफी की सेवा करते हैं। अन्ततः वे दोनों उस स्थल पर पहुँचते हैं, जहाँ से पहाड़ की चोटी दिखाई पड़ती है। उसी चोटी पर अवस्थित है चन्द्रनाथ का मन्दिर। वृद्धा ने उत्साहपूर्वक कहा—"चलो, अब भरोसा हुआ। किसी तरह गिरते-पड़ते अब भगवान् चन्द्रनाथ के दर्शन कर लूँगी।" ऐसा कहकर वह एक बड़े प्रस्तर-खण्ड पर लुढ़क पड़ीं। थकावट के कारण विश्राम करना आवश्यक हो गया था।

मन्दिर के निकट पहुँच कर उसने पूजा की सामग्री की छानबीन की। हठात् वह बोली—"लो, सब चौपट हो गया। सब-कुछ तो है, किन्तु बिल्व-पत्र लाना ही भूल गई। अब उपाय भी क्या होगा? आसपास में बेल का पेड़ तो कहीं दिखाई नहीं पड़ता। पूजा की बेला हो रही है। इसलिए नीचे उतर कर बिल्व-पत्र ले आना अब सम्भव नहीं रहा।" यह कहकर वृद्धा हाँफने लगी।

अचानक बूढ़ी फूफी को गाँव-घर की वह अनुश्रुति याद आ गई, जिसके अनुसार राम को दैवी कृपा से अनुगृहीत माना जाता था। उसने बड़ी मिन्नत करके कहा—"राम बेटे! इस विपत्ति से अब तुम्हीं उद्धार कर सकते हो। कहीं से बेल के दो पत्ते मुझे ला दो। मैं खूब जानती हूँ कि तुम चाहोगे तो कहीं-न-कहीं से बिल्व-पत्र ढूँढ़ ही लाओगे।"

वृद्धा के इस आग्रह ने राम को हैरान कर दिया। बालक ने मुँह लटका कर कहा—

"क्या पागल की तरह अनाप-सनाप बोल रही हो? तुम तो खुद ही देख चुकी हो कि आसपास में बेल का पेड़ है ही नहीं। स्थान भी अपरिचित है। आसपास में कोई घर-द्वार भी नहीं कि किसी से पूछ कर बेल के पत्ते ले आऊँ।"

वृद्धा ने गिड़गिड़ा कर कहा—"देखो बेटे ! मुझे इस तरह निराश मत करो। बिल्व-पत्र के अभाव में चन्द्रनाथ की पूजा कैसे कर पाऊँगी ? तुम उस खोज में निकलोगे तो तुम्हें पता जरूर लग जायगा। बिल्व-पत्र हाथ में लिए बिना मैं मन्दिर में प्रवेश भी नहीं करूँगी। यहीं बैठी-बैठी जान दे दूँगी। मेरे प्राणों की रक्षा करना चाहते हो, तो कहीं से बिल्व-पत्र ढूँढ़ लाओ। तुम्हारे अतिरिक्त मेरे साथ कोई दूसरा है भी तो नहीं !"

वृद्धा की दोनों आंखों से टप-टप आँसू गिरने लगे। राम का मन पसीज गया। थोड़ी देर तक वह आँख मूँदे वहीं बैठा रहा। फिर उसने उँगली से पत्थर के एक टुकड़े की ओर संकेत किया। कहा—"पीसी माँ ! उसी पत्थर के टुकड़े के नीचे तुम्हारा बिल्व-पत्र है। ले-लो।"

पत्थर को हटाने पर देखा गया कि उसके नीचे सचमुच बेल का एक छोटा-सा विरवा है। उसमें नवोद्गत पत्ते भी उग आये हैं, मगर धूप के अभाव में उनका पूर्ण विकास नहीं हुआ है। वृद्धा के आनन्द की सीमा न रही। उसने बिल्व-पत्र की उन्हीं नई कोंपलों को बीन कर अपनी पूजा-सामग्री में यथास्थान रख दिया और भतीजे को आशीर्वाद देती हुई उठ खड़ी हुई।

सोलहवें वर्ष में प्रवेश करने के साथ-साथ राम के हृदय में वैराग्य का भाव अत्यधिक तीव्र हो उठा। घर के किसी काम-काज में मन लगाना उनके लिए संभव नहीं रहा। वे रह-रहकर प्रगाढ़ ध्यान में डूब जाते हैं।

स्वप्न के माध्यम से गुरु की अहेतुक कृपा प्राप्त करके उन्होंने एक नवीन जीवन प्राप्त कर लिया। मुक्ति की दुर्निवार आकांक्षा उन्हें रह-रहकर बेचैन कर देती है। इसके साथ-साथ उनकी यह इच्छा भी बलवती हो उठी है कि किसी उपाय से उस महापुरुष को ढूँढ़ा जा सके, जिन्होंने स्वप्न में आकर उन्हें बीज-मंत्र का दान दे गये थे। पर यह कौन जाने कि स्वप्न की छाया-छवि वास्तविक रूप में धरती पर ढूँढ़ी भी जा सकती है ! इसी चिन्ता में वैरागी राम बैठे-बैठे दिन व्यतीत कर रहे हैं।

इसके कई वर्ष पहले ही राम का नामाङ्कन कात्तिकपुर के विद्यालय में करा दिया गया था। मगर पढ़ने-लिखने में कोई अद्भुत प्रगति कर पाना राम के लिए कभी संभव नहीं हुआ। दैवी कृपा और जन्मान्तर के पुण्य-संस्कार के कारण बालक के मन में एक अन्तर्गत बोध अवश्य विद्यमान है। इसलिए पाठशाला का आकर्षण उसे अपनी ओर खींच नहीं पाता। निदान, कुछ ही दिनों में शिक्षा-पर्व की अकाल समाप्ति हो गई। परिवार के लोगों को राम के सम्बन्ध में इस घटना के बाद चिन्तित होना और भी स्वाभाविक

हो गया। बिना पढ़े-लिखे बालक के लिए जीविका अर्जित करना क्या आजकल सम्भव है? इस प्रश्न को लेकर घर के लोग निराश हो उठे।

परिवार का जीवन-यापन बड़ी कठिनाई से सम्भव हो रहा था। चक्रवर्ती-परिवार अर्थाभाव के कारण दीर्घकाल से पीड़ित था। माँ कमला देवी प्राय: उदास और निराश रहा करतीं। अब सभी लड़कों को किसी-न-किसी काम में लगाना ही होगा, अन्यथा घर चलाना सम्भव न हो पायगा। राम ने भी निश्चय किया कि अब घर पर चुपचाप बैठे रहने के बजाय चाकरी की खोज में बाहर निकल जाना चाहिए।

सो, घर छोड़कर वे बाहर तो हुए, पर काम की खोज में जाएँ तो कहाँ जाएँ। अनेक स्थानों का चक्कर लगाने के बाद अन्ततः वे नोआखाली के फेनी शहर में जा पहुँचे।

रास्ते में उनकी भेंट एक वकील साहब से हुई। उनके पीछे-पीछे दौड़ते हुए राम ने निवेदन किया—"मैं नौकरी की खोज में भटक रहा हूँ। मगर इस शहर में मेरी किसी से जान-पहचान नहीं है। क्या आप कृपा करके कहीं कुछ दिनों तक टिक लेने की जगह मेरे लिए ठीक कर देंगे?"

"तुम हो किस जाति के?"

"मैं ब्राह्मण हूँ।"

"रसोई बना सकते हो? यदि रसोई बनाना जानते हो, तो मेरे आवास में ही टिकने की जगह मिल जायगी। मेरे यहाँ रसोइये की एक जगह खाली है।"

दूसरा कोई उपाय तो था भी नहीं। उसी क्षण वे रसोई बनाने का काम करने के लिए राजी हो गये। इस तरह जीविका के प्रश्न का उत्तर मिल गया। व्यावहारिक जीवन के लिए एक नई अभिज्ञता का पाठ बालक राम ने यहीं से आरम्भ किया।

रात में रसोई के कार्य से निपट कर राम एकान्त स्थान खोज कर अपने जप-योग की साधन-क्रिया में निमग्न हो-जाया करते, किन्तु नौजवान रसोइये की इस हरकत को वकील साहब के परिवार के सदस्य अच्छी निगाह से नहीं देख सकते थे। वे व्यंग्य-विद्रूप के वाक्य-उच्चारण करते हुए राम के जप-योग की नकल उतारा करते और उन्हें चिढ़ाने और तंग करने के अवसर ढूँढ़ते रहते।

उस दिन वकील साहब के घर में काली-पूजा का समारोह था। अपने बेटे के कल्याण के लिए वकील साहब ने देवी की कोई मनौती मानी थी।

यह पूजा उसी क्रम में हो रही है। तभी पुरोहित के घर से खबर आई कि अस्वस्थ हो जाने के कारण वे उक्त अनुष्ठान में उपस्थित नहीं हो सकेंगे।

समाचार सुनकर वकील साहब चिन्तित हो गये। अब इतनी जल्दी दूसरे पुरोहित को कहाँ खोजा जाय !

वकील साहब को चिन्तित देखकर परिवार के एक विनोदी सदस्य ने कहा, "इसके लिए चिन्ता करने की जरूरत ही क्या है ? अपना रसोइया रामचन्द्र भी तो ब्राह्मण ही है और रोज-ब-रोज वह जप-तप भी बहुत करता है। क्यों न उसी से आज किसी तरह पूजा का काम करा लिया जाय ?"

राम सामने ही खड़े थे। वकील साहब ने परिहास के स्वर में कहा—"क्यों बाबाजी ! तुम भी तो आखिर ब्राह्मण ही हो ? जप-तप का दिखावा भी खूब करते हो। क्या काली-पूजा की विधि नहीं जानते ? यदि जानते हो, तो आज तुम्हीं पुरोहित बन जाओ।"

विनोद-परिहास के इस व्यंग्य-वाक्य से तनिक भी विचलित हुए बिना राम ने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया—"जैसा आदेश दें। यदि आदेश पाऊँ तो काली-पूजा अवश्य करा सकता हूँ।"

अन्ततः उस रात वकील साहब के घर काली-पूजा के समारोह में राम ने ही पुरोहित का कार्य सँभाल दिया।

वकील साहब ने अपने जानते काली-पूजा के उस समारोह में कोई त्रुटि नहीं होने दी। अनुष्ठान उत्साहपूर्वक सम्पन्न हुआ। सैकड़ों निमन्त्रित व्यक्तियों ने उस रात वहीं भोजन किया और रन्धन-कर्म से लेकर परोसने तक के काम में राम को ही संलग्न रखा गया।

राम ने यद्यपि बड़ी निष्ठा के साथ विधिपूर्वक पूजा सम्पन्न करा दी थी। फिर भी उन्हें साधारण रसोइये की तरह बार-बार दुत्कारा जाता रहा और उनके प्रति आदर और स्नेह का भाव दिखाना परिवार के किसी सदस्य के लिए संभव नहीं हुआ।

समारोह की समाप्ति के बाद राम एक किनारे हट कर चुपचाप उदास खड़े हो गये। तभी एक निमन्त्रित अतिथि ने आकर ठिठोली की—"क्यों पुरोहित देवता, पूजा के समय माँ काली ने तुम्हें कोई खास बात कह दी कि इस तरह उदास खड़े हो ? माँ से तुम्हारी कोई बात हुई ?"

प्रश्न सुनकर राम ठाकुर क्षुब्ध हो गए। पर उनके मुख से अचानक एक अशुभ बात निकल गई। उन्होंने कहा—"जब आपलोग सचमुच जानना ही

चाहते हैं, तो कहना ही पड़ेगा। माँ काली ने मुझे बताया कि वकील साहब ने जिस बेटे के लिए मनौती मानी थी, उस बेटे को वे निगल जायँगी।"

पागल के इस प्रलाप पर कोई ध्यान दे भी तो क्यों? कुछ लोग रसोइये को गालियाँ देने लगे और कुछ लोग हाथ में डंडा लेकर मारने दौड़े। उपद्रव मच गया। बड़ी कठिनाई से राम अपनी जानबचाकर उस नौकरी को छोड़ उसी क्षण कहीं अन्यत्र चले गये।

दूसरे दिन वकील साहब का वह पुत्र और दिनों की भाँति ही पढ़ने के लिए विद्यालय गया। मगर दोपहरी के बाद वह विद्यालय में ही बेतरह अस्वस्थ हो गया। कई व्यक्ति मिल कर उसे उसी अवस्था में घर पहुँचा गये। लड़के को सांघातिक हैजे ने धर दबोचा था। चिकित्सा में कुछ उठा नहीं रखा गया, किन्तु उसे बचाना सम्भव न हुआ। उसी रात को उसकी मृत्यु हो गई, ठीक उसी समय, जिस समय कि पिछली रात राम ठाकुर को अपमानित कर नौकरी से निकाला गया था।

उस रात की अँधियाली में मुँह छिपाकर जब रामचन्द्र चक्रवर्ती फेनी शहर से बाहर हुए, तो जीविका की तलाश छोड़कर निरुद्देश्य घूमना ही उन्हें अधिक रुचिकर प्रतीत हुआ। उसी भ्रमण के क्रम में उन्हें परिव्राजकों का पथ अपनाना पड़ा।

बाद में भक्तगण उनसे उस रात की घटना के सम्बन्ध में प्रायः पूछा करते थे—"ठाकुर! आप भगोड़े की तरह उस रात उस वकील साहब के घर से भाग क्यों गये? लड़का मरा, इसकी जिम्मेदारी तो आप पर न थी, फिर भय क्यों कर?"

ठाकुर मुस्कुराकर उत्तर दिया करते—"यदि मैं भागता नहीं, तो उस रात क्या मेरी जान बचती? लोग तो नियति के रहस्य को समझना ही नहीं चाहते, वे तो उस लड़के के मरने के साथ-साथ मुझे भी मार ही डालते। वहाँ आपलोग मेरी रक्षा करने के लिए मौजूद तो थे नहीं।"

परिव्राजकों के दल ने ही रामचन्द्र चक्रवर्ती को कामाख्या तीर्थ की महिमा बताई थी। अपनी निरुद्देश्य यात्रा को सोद्देश्य बनाने के क्रम में रामचन्द्र चक्रवर्ती कामाख्या तीर्थ की ओर कुछ ही दिन के बाद चल पड़े। उस समय उस तीर्थ-यात्रा के लिए रेलगाड़ी की आज-जैसी सुविधा न थी। जंगलों और पहाड़ों की लम्बी राह को पैदल ही चलकर तय करने के अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय न था। इसी तीर्थ में उन्हें उस दिव्य महापुरुष के दर्शन हुए, जिन्होंने वर्षों पहले स्वप्न में आकर उन्हें दीक्षित करने की कृपा की थी।

दीक्षा सम्पन्न हो जाने के बाद रामठाकुर के जीवन का परिव्रजन-काल जारी हो गया। उन्होंने अपने गुरु के साथ कामाख्या-क्षेत्र का त्याग किया। इस यात्रा में उनके—राम ठाकुर के दो गुरु-भ्राता भी सम्मिलित हो गये। दुर्गम अरण्य और संकट-पूर्ण पहाड़ी इलाकों को पैदल तय करने में दीर्घ-काल व्यतीत हो जाने के बाद वे हिमालय के निकट के क्षेत्र में जा पहुँचे।

हिमालय ही तो वह क्षेत्र है, जहाँ भारतवर्ष की आध्यात्मिक साधना की अमृतधारा निरन्तर अव्याहत रही है। तपःपूत एकान्त कन्दराओं से परिपूर्ण उस पार्वत्य प्रदेश में शायद ही कोई स्थान है, जिसकी एक-एक परत में तपस्या की कहानियाँ गुँथी हुई न हों। जन-साधारण की दृष्टि से ओझल रहकर पर्वतों के सम्राट् ने अपने अनगिनत आश्रय-स्थलों में अनेक सिद्ध-पीठ और प्राचीन आश्रय छिपा रखे हैं। शिव-सरीखे योगियों और समाधि-मग्न तपस्वियों के अनगिनत जीवन गुप्त रूप से इस देवतात्मा हिमाचल के सुप्राचीन अंचल को निरन्तर पुण्यमय बनाते रहे हैं।

हिमालय सचमुच रहस्यमय देवभूमि है। उसमें सम्प्रति निवास करनेवाले कुछ शक्तिधर योगियों और तपस्वियों की कथा गुरु ने अपने शिष्यों को सुनानी चाही। सर्वज्ञ गुरु को यह अच्छी तरह ज्ञात है कि राम ठाकुर कोई साधारण व्यक्ति नहीं, उच्चतम साधना और सिद्धि के अधिकारी हैं। यह महासाधक परमेश्वर के द्वारा एक विशेष प्रयोजन से धरती पर उतारा गया है। वे यह भी जानते हैं कि इस सद्यः दीक्षित शिष्य के उत्तर-जीवन का काल हिमालय की कन्दरा में व्यतीत होने के लिए नहीं, अपितु जनसंकुल ग्रामों और नगरों को पुण्य-प्रक्षालित करने के लिए उपयोगी होगा। सर्वज्ञ गुरु के लिए कुछ भी अज्ञात नहीं। इसलिए राम ठाकुर के पूर्व जीवन के इस अंश को वे हिमालय की एकान्त गुहा में निवास करनेवाले ब्रह्मवेत्ता पुरुषों के सम्पर्क में ले आने के लिए अकस्मात् उत्कंठित हो रहे हैं।

सर्वज्ञ गुरु की कोई इच्छा शिष्य के हित-साधन को विफल नहीं होने देती। ऐसा ही उस यात्रा में भी हुआ। उसी यात्रा के क्रम में रामचन्द्र ने अनेक गुप्त साधन-पीठों के दर्शन किये और बहुतेरे अलौकिक शक्ति-सम्पन्न साधकों के सम्पर्क का लाभ भी उन्हें मिला। यह कृपा उन्होंने श्रद्धापूर्वक आत्मसात् कर ली।

हिमालय के पार्वत्य अंचल के इस भ्रमण ने उनका सर्वविध कल्याण-साधन किया। रामठाकुर को इन साधन-पीठों एवं महान् साधकों के दर्शन के सहारे अपने दीक्षादाता गुरुदेव के माहात्म्य का भी परिचय मिला। उनका करुणाघन रूप रामठाकुर के मानस में स्पष्ट से स्पष्टतर होता चला गया।

अनेक नद-नदियों, जंगल-पहाड़ों और उपत्यकाओं का चार व्यक्तियों की उक्त यात्रा-मंडली ने अतिक्रमण किया। उसके बाद आई हिमालय के पूर्वी अंचल की एक अत्यन्त दुर्गम राह। इसी के सहारे एक गुप्त सिद्ध-पीठ में रामठाकुर के करुणाघन गुरु उन्हें ले जाना चाहते हैं। स्थान का नाम है योगेश्वर-आश्रम। हिमालय का तुषार-लोक। वहाँ अन्य ऋतुओं को एक छोटी-सी स्थान दे-देता है। तरुओं और लताओं से परिपूर्ण हिमालय की एक छोटी-सी पहाड़ी की गोद में यह आश्रम अवस्थित है। जिसे मन्दिर या मठ कह सकते हैं, वैसी कोई जगह यह नहीं है। पत्थर के बड़े-बड़े चार खम्भे हैं। ऊपर कोई छत नहीं। ऐसे ही उन्मुक्त स्थान में एक स्फटिक-निर्मित विशाल शिव-लिंग है। इस शिवलिंग से एक शुभ्र अपार्थिव ज्योति निरन्तर विच्छुरित हो रही है। इस अलौकिक दृश्य को देखकर रामठाकुर और उनके अन्य दो गुरु-भ्राता के विस्मय की सीमा न रही।

इस योगेश्वर शिवलिंग की आराधना एक अपरिचित साधिका किया करती हैं। यह संयोग ही था कि उस सिद्ध साधिका के दर्शन भी रामठाकुर को सहज ही प्राप्त हो गये। अपूर्व रूप-लावण्य से युक्त उस तपस्विनी नारी के सिर पर जटा-जूट है। वह अनेक दिनों से ध्यान में निमग्न होकर शिवलिंग के सामने निर्निमेष बैठी हैं। अन्य उपाय न देखकर इस साधिका का नाम रखा गया—गौरी। यह नाम रामठाकुर के हृदय में स्वयं ही स्फूर्त्त हुआ था।

इस सिद्ध-पीठ के दिव्य परिवेश में गुरु-शिष्यों की यह मण्डली पाँच दिनों तक ठहरी रही। नीचे की उपत्यका से एक निर्दिष्ट समय पर पर्वत-कन्याओं का एक दल इस स्थान के चारों ओर रोज ही नृत्य करने आ जाया करता है। नृत्य में शामिल होनेवाली पहाड़ी लड़कियाँ पुष्पाभरण से अपने को सजाये रहती हैं। नृत्य समाप्त हो जाने पर नर्त्तकियों की वह मण्डली फूलों की बड़ी-बड़ी मालाएँ योगेश्वर शिवलिंग पर तरतीब से अर्पित कर देती हैं और कुछ पुष्प-माल्य उस ध्यान-मग्न आराधिका के गले में भी पहना कर आनन्दमग्न हो जाती हैं। इसके बाद सब-की-सब पहाड़ी लड़कियाँ नीचे उतर कर वनांचल में गायब हो जाती हैं।

"इस देव-स्थान पर अपूर्व शान्ति और आनन्द विराजमान है"—ऐसा कहकर रामठाकुर अपने जीवन के उत्तर भाग में बहुधा पुलकित हो जाते। वे अपने अन्तेवासियों को बताते—"योगेश्वर-पीठ में जैसी शान्ति का वातावरण है और जितनी पवित्रता उस वातावरण में है, वह हिमालय के अंचल में भी दुर्लभ ही है।"

योगेश्वर-पीठ के अंचल में ही भ्रमण करते-करते एक सुदीर्घ सुरंग में एक दिन वह यात्रा-मंडली प्रवृष्ट हुई।

सुरंग में हाथ को हाथ नहीं सूझता था। सूचीभेद्य अन्धकार ने पथ को समाच्छन्न कर दिया था। ऐसा लगता था जैसे प्रकृति का प्राण-स्पन्दन यहाँ आकर सहसा रुक गया है। जीव-जगत् का कोई अस्तित्व वहाँ प्रतीत नहीं हो पाता। काफी दूर तक इस अँधियाली में चलते रहने के बाद राम ठाकुर और उनके सह-यात्रियों को शनैः-शनैः हल्के प्रकाश का आविर्भाव दिखाई पड़ा। उसके बाद ही प्रकट हुआ गोधूलि-काल की वर्णच्छटा-जैसा आलोक।

इतनी दुर्गम राह से चलकर क्या सूर्यास्त का दृश्य देखने के लिए ही वे अपने गुरु के पीछे-पीछे ले आये गये हैं? यह प्रश्न राम ठाकुर के मन में स्वभावतः उठा।

किन्तु थोड़ी ही देर बाद उन्हें अपनी भूल का पता चल गया। कुछ ही दूर पर उन्होंने देखा एक विशालकाय महापुरुष को। उनके तपःपूत शरीर से ही सूर्यास्त-काल की ज्योति निरन्तर निःसृत हो रही है। सुरंग का रास्ता भी इस आलोक की उपेक्षा न करके प्रकाशित हो उठता है।

राम ठाकुर और अन्य शिष्यों को अब गुरु ने स्फुट स्वर में धीरे-धीरे कहा—'तुमलोग इस ब्रह्मवेत्ता महापुरुष को भक्तिपूर्वक साष्टाङ्ग प्रणाम करो और उसके बाद धीरे-धीरे चले-चलो।"

ज्योतिर्मय महापुरुष अखण्ड समाधि में निमग्न हैं। नीरव-निस्पन्द-निष्कम्प आसन में वह कब से बैठे हैं, यह कोई बता नहीं सकता। गुरु की आज्ञा पाकर राम ठाकुर और उनके गुरु-भ्राताओं ने समाधि-मग्न महापुरुष को जमीन पर साष्टाङ्ग लेटकर प्रणाम किया और उसके बाद आगे बढ़ते चले गये। इसके कुछ ही बाद सुरंग का अन्त हो गया और मुक्त आकाश का महाविस्तार दिखाई पड़ने लगा।

सुरंग के मार्ग से वे जिस अंचल में पहुँचे, वह अंचल कौशिकी पर्वत के नाम से विख्यात है। इस पर्वत के क्रोड़ में एक रहस्यमय आश्रम अवस्थित है। आप्तकाम योगियों, ऋषियों और उच्च कोटि के साधकों के आवागमन और निवास के कारण यह स्थान अत्यधिक पवित्र हो गया है। इसके निकट ही एक गगनचुम्बी तुषार-मंडित पर्वतश्रेणी का आरम्भ होता है और दूसरी तरफ नीचे की ओर पत्थरों का बना एक पवित्र आश्रम अवस्थित है, जिसके निकट ही प्रबल वेगवाली एक पहाड़ी नदी की पतली-सी धारा दिखाई पड़ रही है।

इतने दिनों तक राम ठाकुर के सहयात्रियों का यह दल कौपीन मात्र पहन कर हिमालय के विभिन्न अंचलों में कैसे भ्रमण करता रहा, यह स्वयं ही विस्मय की बात है, किन्तु इस पवित्र कौशिकी आश्रम के प्रवेश-द्वार पर ही गुरु ने आज्ञा दी कि अब कौपीन का भी त्याग करना होगा। गुरु की आज्ञा का पालन किया गया और आगे की राह दिगम्बर-वेश में ही तय की गई।

राम और उनके साथियों ने उस स्थान की महिमा का प्रत्यक्ष अनुभव किया। आश्चर्य तो यह था कि पूरे आश्रम में कहीं मिट्टी का लेश भी न था। फिर भी शुद्ध शिला-खण्ड को आच्छादित कर लता-गुल्मों का वितान अजस्र भाव से फैला हुआ था। फूल-फल और कन्द-जातीय खाद्य का वहाँ कहीं अभाव नहीं था।

आश्रम-गुहा के एक विशाल कक्ष में कई योगी अलग-अलग हट कर एक ही आसन में बैठे थे। सभी की आँखें बन्द थीं और सभी नीरव, निस्पन्द समाधि में मग्न थे। अकस्मात् देखने पर ऐसा लगता था कि प्राचीन युग के तपस्वियों का एक दल देखते ही देखते जैसे किसी माया से पत्थर की मूर्त्तियों में बदल गया हो।

उत्तरवर्त्ती काल में दीनेशचन्द्र भट्टाचार्य ने स्वयं राम ठाकुर के मुख से सुने गये वृत्तान्त के आधार पर उपर्युक्त महापुरुषों का इस प्रकार वर्णन किया है—"इन महापुरुषों के हाथ और अन्य अंग पत्थर की भाँति रुक्ष और कठोर हो गये थे और स्थान-स्थान पर फट गये थे। उनमें से किसी-किसी की जटा कंधे तक खुल कर छितरा गई थी। वे इतने विशालकाय थे कि बैठी गई हालत में भी उनके मस्तक तक अपना हाथ पहुँचा पाना किसी खड़े आदमी के लिए भी संभव न था। किसी ऊँची चीज पर चढ़कर ही खड़े होने पर उनके गले में फूल की माला डाला पाना उपर्युक्त यात्री-मण्डल के सदस्यों के लिए संभव हुआ था। उनका मुख-मण्डल भी अति विशाल था। दोनों आँखें पलकों से आवृत थीं और ठुट्ठी भर नीचे गहरे कोटर में धँस गई थीं। इसके बावजूद आँखों का तीक्ष्ण प्रकाश पलकों को वेध कर देदीप्त हो रहा था। मुख-मण्डल पर जीवन-चिह्न के रूप में स्वास्थ्य की लाली विद्यमान थी। वे कितने युग-युगान्तरों से एक आसन से बैठे समाधि-मग्न हैं, इसका पता देनेवाला कोई समवयस्क साक्षी पृथ्वी पर विद्यमान नहीं है। उन्होंने काया-परिवर्त्तन के द्वारा अपने शरीर को बचा रखा था, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। यदि उन्होंने ऐसा किया होता, तो उनका देहाकार परिवर्त्तित हो गया होता और काल की

प्राचीनता का कोई चिह्न उनके शरीर को देखने पर प्रतीत नहीं होता। राम ठाकुर ने कहा था कि तपोबल के द्वारा उनका संपूर्ण शरीर ही चैतन्यमय हो गया था। यही कारण है कि उनका देहपात संभव ही नहीं था।"

उपर्युक्त महापुरुषों के सान्निध्य में अपने तीन शिष्यों को वहीं छोड़कर गुरुदेव अनंग स्वामी कुछ दिनों के लिए अन्तर्धान हो गये। जाने से पहले उन्होंने अपने शिष्यों को निर्देश देते हुए कहा—

"तुम लोग कुछ दिनों तक इन समाधि-मग्न महात्माओं के समीप ही अवस्थान करो। जी-जान से इनकी सेवा करते रहना। इनकी कृपा होने पर ही तुमलोगों का अभीष्ट पूर्ण होगा।"

राम ठाकुर और उनके दोनों गुरु-भाइयों ने इन योगियों की सेवा बड़ी निष्ठा और तत्परता के साथ शुरू कर दी। वे रोज ही उक्त समाधि-मग्न महापुरुषों के सम्मुख जाते-जाते फल-मूल रख जाते। उनके द्वारा रखे गये नैवेद्य को उक्त महापुरुष-गण कब ग्रहण कर लेते थे, इसका पता नहीं चलता था। पर, एक दिन भी इन तीनों के द्वारा समर्पित नैवेद्य उपेक्षित नहीं हुआ—इतना अवश्य स्पष्ट था। उसी का अवशिष्ट अंश महात्मागण का कृपा-प्रसाद मानकर ये तीनों भक्त भी भोजन कर लिया करते थे।

एक-एक कर लगभग पन्द्रह दिन तक महान् तपस्वियों के सान्निध्य में रहकर राम ठाकुर ने अपने दो गुरु-भ्राताओं के साथ कौशिकी-आश्रम में तीर्थवास किया। इस अवधि के बाद गुरुदेव अनंग स्वामी अकस्मात् अपने अज्ञातवास से लौट आये और अपने शिष्यों को साथ लेकर अगली यात्रा के लिए चल पड़े।

कौशिकी-आश्रम छोड़ने के समय कुछ अद्‌भुत दृश्य उपस्थित होते रहे। पिछले पखवाड़े के पूरे समय में राम ठाकुर किंवा उनके गुरुभ्राताओं के साथ उपर्युक्त समाधि-मग्न योगियों ने कभी कोई बात नहीं की थी। निश्चल, नीरव और ध्यान-निमग्न रहकर उन्होंने अपने भीतर के जीवन-चिह्न को भूलकर भी प्रकट नहीं होने दिया था। प्रत्येक दिन केवल एक बार ध्यान-मग्न आंखों को क्षण भर के लिए उन्मीलित कर वे इन तीनों तरुण साधकों के द्वारा समर्पित किये गये नैवेद्य को स्वीकृति मात्र देते और उसके बाद पुनः समाधि-मग्न हो जाते। किन्तु इस विदा की घड़ी में समाधि-मग्न महापुरुषों का एक अद्‌भुत करुणाघन रूप प्रकट हुए बिना नहीं रह सका। उन्होंने हाथ ऊपर उठाकर अभय-मुद्रा के द्वारा प्रणाम-रत तरुणों को अपना आशीर्वाद प्रदान किया। यह अप्रत्याशित कृपा राम ठाकुर और उनके गुरु-भाइयों के

लिए निश्चय ही अद्‌भुत और आह्लादकर थी। उनका शरीर कृतार्थता के आह्लाद से पुलकित हो उठा।

जानकार-जिज्ञासुगण कौशिकी-आश्रम के माहात्म्य के सम्बन्ध में प्रश्न पूछने के लिए राम ठाकुर के जीवन के उत्तर-काल में आते ही रहते। किन्तु उस प्रसंग में राम ठाकुर प्रायः मौन ही रह जाया करते थे। इससे स्पष्ट था कि कौशिकी आश्रम के समाधि-मग्न महापुरुषों के रहस्य को वे किसी भी प्रकार से प्रकट नहीं करना चाहते थे। कौशिकी-आश्रम के अवस्थान के सम्बन्ध में भी वे कोई निश्चित उत्तर नहीं दे पाते थे।

एक बार एक श्रद्धालु भक्त ने जब पूछा, तब ठाकुर ने इतना ही कहा कि "जिसे मानसरोवर कहते हो, वह भी उस आश्रम से बहुत अधिक दूर पर है—ठीक उत्तर दिशा में।"

तर्क-वितर्क करनेवाले भक्तों की भी ठाकुर के आश्रम में कमी न थी। ऐसे ही एक भक्त ने कहा—"ठाकुर महाशय, आप जिस हिमालय को रहस्य-भूमि बनाये रखना चाहते हैं, आज के विज्ञान-युग ने तो उसकी पूरी पोल खोल दी है। उसका कोई हिस्सा ऐसा नहीं है, जिसका कि पता आधुनिक युग में लगा नहीं लिया गया हो। गोरे साहबों की जरीब की रेखा चप्पे-चप्पे पर खींच दी गई है। मगर आपके कौशिकी-आश्रम का कहीं कोई पता नहीं चला।"

ऐसे प्रश्न के उत्तर में ठाकुर हँसते हुए कहा करते—"आप लोगों के गोरे साहबों ने अबतक भगवान् शिव को भी तो नहीं खोजा। आपको जिसकी खोज ही नहीं है, वह आपको मिलेगा भी तो क्यों? योग-सिद्ध शरीर न हो, तो वैसे स्थानों का पता लगाना सम्भव भी तो नहीं हो पाता! आपलोगों की तरह के नये सज्जन वहाँ तक कैसे पहुँच पायँगे? मन में हर प्रकार की आसक्तियाँ भरी हों और देह रंग-बिरंगी वस्त्रों से ढँकी हो, तो इतने मलों और आवरणों को लेकर वैसी यात्रा कभी मुमकिन ही नहीं हो पाती। हमलोग जब वहाँ गये थे, तो हमारे शरीर पर कोई वस्त्र न था। गुरु की आज्ञा से लँगोटी भी खोलकर फेंक देनी पड़ी थी। तन-मन को पूरे तौर पर खोलकर ही गुरु की कृपा के सहारे हमलोग कौशिकी-आश्रम में किसी तरह पहुँच पाये थे।"

सचमुच हिमालय के रहस्यमय अंचल में सिद्ध पुरुषों की जो साधना-भूमियाँ हैं, उनमें प्रवेश का अधिकार सब के लिए सुलभ नहीं है। राम ठाकुर जैसे महापुरुष साधनावस्था के आरम्भिक काल में ही यदि वहाँ पहुँच पाये,

तो इसे वे अपने महान् समर्थ गुरुदेव की कृपा का ही प्रसाद समझते थे। यात्रा के क्रम में अवसर मिलने पर अपने शिष्य के जीवन के स्तर-स्तर में प्रवेश कर उन्हें साधना और सिद्धि की नई-नई अभिज्ञता प्रदान करने के लिए परमसिद्ध योगी गुरुदेव अनंग स्वामी निरन्तर तत्पर रहे। इसी प्रकार उन्होंने अध्यात्म-पथ के अनेक निगूढ़ निर्देशों का अपने शिष्य के हित में, सदुपयोग कर लिया था। योग और तन्त्र की उच्चतर क्रियाओं के सहारे राम ठाकुर ने गुरु की कृपा से उसी क्रम में दुर्लभ साधन-ऐश्वर्य अर्जित कर लिया। अधिक न कहकर इतना ही कहा जायगा कि जो-कुछ पाया जा सकता है, वह सब-कुछ गुरु की कृपा से उन्हें प्राप्त हो गया था।

राम ठाकुर के गुरुदेव स्वयं ही शिव-कल्प थे। केवल योग और तन्त्र के शक्ति-शिखर पर वे अधिष्ठित हो नहीं थे, अपितु वे महाकरुणा के उत्स भी थे। अपने सुयोग्य शिष्य राम ठाकुर के प्रति उनके हृदय में अपार स्नेह था। अपनी साधना के ऐश्वर्य-भण्डार का द्वार उन्होंने इस शक्ति-धर शिष्य के निमित्त पूर्णतः उन्मुक्त कर दिया था। राम ठाकुर के प्रति उनके लिए कुछ भी अदेय न था।

दुर्गम पर्वतों और घनघोर वनों के बीच उपर्युक्त यात्रा-मण्डली के चारों सदस्य अविश्रान्त भाव से आगे बढ़ते रहे। कभी बर्फ की भयंकर आंधी से उनका मुकाबला होता और कभी अस्थि-वेधक तुषार-वृष्टि से। पहाड़ी आँधी के बीच से जीवित बच निकलना उन्हीं के बश की बात थी। आश्चर्य तो यह है कि मार्ग-संकट की वैसी घड़ियों में भी रामठाकुर और उनके गुरु-भाइयों ने कभी निरुपायता, निराशा या उदासी का अनुभव नहीं किया। उन्हें इसका अहसास निरन्तर होता रहा कि गुरु की महती कृपा उन्हें चारों ओर से घेरकर सुरक्षित कर रही है और उन्हें स्वयं कभी भी चिंतित और भीत होने की स्थिति का पता तक नहीं चल रहा है।

परिव्राजन की इस दीर्घ यात्रा में राम ठाकुर को अपने गुरु के अनेक वैशिष्ट्यों का अति निकट से परिचय मिला। सन्देह नहीं कि उस यात्रा-क्रम में अनेक सिद्ध तपस्वी, आप्तकाम महायोगी, तन्त्रसिद्ध परमहंस सामने आते रहे। किन्तु विस्मय की बात तो यह थी कि उन सभी के हृदय में गुरुदेव अनंग स्वामी के प्रति उन्होंने श्रद्धा और आदर के ही भाव देखे। पूरी यात्रा में ऐसे एक महापुरुष भी न मिले, जिन्हें गुरुदेव अनंग स्वामी ने प्रणाम निवेदित किया हो। जहाँ-कहीं वे पहुँचे, वहाँ उन्होंने देखा कि प्रत्येक सिद्धाश्रम के ऐश्वर्य-सिद्ध महापुरुष उनके गुरुदेव के प्रति श्रद्धा और अभिनन्दन के ही भाव से ओतप्रोत हैं।

अपने इस अनुभव के पश्चात् राम ठाकुर को यह समझने में कठिनाई नही हुई कि उनके गुरु सर्वशक्तिमान हैं और ऐसा कोई योगैश्वर्य नहीं है, जो चाहने पर राम ठाकुर को अपने गुरु से प्राप्त नहीं हो सकता हो। इसके पीछे राम ठाकुर के आत्म-समर्पण की पूर्णता का भी निश्चय ही बहुत बड़ा हाथ था। गुरु की कृपा-धारा तब तक अपने परिपूर्ण रूप में प्रकट नहीं होती, जब तक कि पूर्ण समर्पित शिष्य की श्रद्धा उसे अपनी ओर खींचने के लिए उद्यत नहीं हो जाती। हिमालय की यात्रा में गुरुदेव के घनिष्ठ सान्निध्य में आकर राम ठाकुर को आत्म-समर्पण की आवश्यकता का बोध दिन-दिन उज्ज्वल रूप में आभासित होता रहा।

इस यात्रा-काल की एक अद्भुत अलौकिक घटना का वृत्तान्त अपने शिष्यों को राम ठाकुर कभी-कभी बतला दिया करते थे। उसके क्रम में वे पार्वत्य-प्रदेश के एक गहन अरण्य में उस दिन अपनी यात्रा-मण्डली के साथ जा पहुँचे थे। नीरव निर्जनता के उस विस्तृत अंचल में मनुष्य का प्रवेश सुगम न था। सामने ही मुँह बाये खड़ी थी—एक पुरानी पर्वत-कन्दरा। उस कन्दरा में एक धूनी जल रही थी और एक विशालकाय वृद्ध महापुरुष उस धुनी के सामने ही आसन लगाकर चुपचाप बैठे थे।

यह दृश्य उपस्थित होने के साथ ही गुरुदेव अनंग स्वामी ने राम ठाकुर को संकेत से अपने पास बुला लिया और धीरे-धीरे कहा—"इन्हें देख लो। यह एक देव-कल्प प्राचीन महासाधक हैं। इनका शरीर बहुत प्राचीन है। सैकड़ों वर्षों से ये यहाँ एक आसन से बैठे अपनी साधना में संलग्न हैं। पर अब उनका संकल्प शरीर-परिवर्त्तन के निमित्त जग पड़ा है। यह बड़े भाग्य की बात है कि तुम उनके सामने ऐसे समय में आ गये हो, जब कि अपने प्राचीन शरीर का त्याग कर नवीन शरीर ग्रहण करने का उनका अनुपम अनुष्ठान शुरू होनेवाला है। महात्मा के पास जाकर उनके कार्य में खलल पहुँचाना उचित न होगा। छिपकर दूर ही खड़े हो जाओ और तुम तीनों ही अप्रकट रहकर इस अपूर्व दृश्य को मनोयोग पूर्वक देख लो।"

अब योगासन पर बैठे हुए उक्त महापुरुष के मुख से अनुच्च स्वर में कतिपय पवित्र मंत्रों का पाठ शुरू हो गया। उनके नेत्र मुद्रितावस्था में हैं। वे बीच-बीच में धुनी की आग में आहुति डालते जा रहे हैं। आहुति प्राप्त करते ही अग्नि-शिखा उछल कर उद्भासित हो उठती है।

कुछ देर तक यह क्रम जारी रहता है और तब एक विशाल सर्प धुनी के पास आकर उपस्थित हो जाता है। वह सर्प थोड़ी देर तक निश्चल भाव से

अवस्थान करने के बाद धुनी में जलनेवाली अग्नि की बारम्बार प्रदक्षिणा करता है। इसके बाद वह महापुरुष के सम्मुख पहुँचकर निश्चल-नतशीर्ष होकर लेट जाता है।

राम ठाकुर और उनके मित्रों ने इस दृश्य को विस्मय-विमूढ़ होकर देखा। तब तक महापुरुष ने सर्प की गर्दन दाहिने हाथ से पकड़ ली और उसके मुख को धुनी की आग में रखकर पकाने लगे। दूसरे ही क्षण उन्होंने प्रज्वलित अग्नि में उसे डाल दिया। इसका कोई प्रतिरोध सर्प ने नहीं किया, जैसे वह स्वयं ही आहुति के लिए उद्यत होकर ही आया हो।

थोड़ी देर तक धुनी की आग में उस नागराज का विशाल शरीर निश्चल भाव से तपता-जलता रहा। इसी बीच कमण्डलु से मंत्र:पूत जल हाथ में लेकर महापुरुष ने धुनी की आग को छींटे मारकर बुझा देने का उपक्रम किया।

किन्तु सर्प का विशाल शरीर अभी भी पूरी तरह से जल कर निःशेष नहीं हुआ था। उसके शरीर के अवशिष्ट दग्ध भाग को चिमटे से खींच कर उन्होंने जब धुनी से निकाला, तो वह माँस का एक छोटा-सा स्तूप ही बन गया था। इस माँस-स्तूप को महापुरुष ने अनेक छोटे-छोटे माँस-पिण्डों की शकल में विखण्डित कर दिया। इसके बाद उन्होंने एक अभिनव होम-क्रिया का आरम्भ किया। तब तक धुनी की आग आप-ही-आप पुनः प्रज्वलित हो चुकी थी। उसमें मंत्रोच्चारण के साथ सर्प-शरीर का एक-एक मांस-पिण्ड आहुति के रूप में महापुरुष के द्वारा प्रदत्त होता रहा। उसके बाद एक मांस-पिण्ड बचा रह गया, जिसे अग्नि में न डालकर महापुरुष ने अपने मुख में डाल लिया और निर्विकार भाव से उस मांस-पिण्ड को देखते-देखते ही वे निगल गये।

तरुण साधक राम ठाकुर और उनके सतीर्थ-गण इस आश्चर्यजनक दृश्य को विस्मय-विस्फारित नेत्रों से देखते ही रह गये, किन्तु इसके बाद एक और अधिक विस्मयजनक दृश्य अभी उपस्थित होनेवाला था, जिसे वे आजीवन भूल नहीं सके।

आहुति से बचे हुए सर्प-माँस को अग्निदेव के अवशिष्ट प्रसाद के रूप में भक्षण करने के उपरान्त वृद्ध तपस्वी ने अपने शरीर को अपने आसन के ऊपर हठात् गिरा दिया। शरीर देखते-देखते ही नीरव, निश्चल और स्पन्दन-हीन हो गया। उसमें प्राण का कोई चिह्न अब अवशिष्ट नहीं रहा। कुछ क्षणों के बाद महापुरुष का वह प्राचीन निश्चल शरीर फूलने लगा और फूलते-फूलते भयंकर आवाज के साथ फट कर चारों तरफ बिखर गया। इसी

बीच उस शरीर के भीतर से प्रकट हुए एक अत्यन्त रूपवान् तरुण तपस्वी। इस दृश्य को देखकर एक दिव्य इन्द्रजाल के भाव से राम ठाकुर और उनके सतीर्थगण चकित-विस्मित हो उठे।

महापुरुष का जो निष्प्राण शरीर फूलते-फूलते फट कर मांस-पिण्डों के रूप में चारों तरफ छितरा गया था, उसकी एक-एक बोटी चुनकर उक्त तरुण तपस्वी ने उसी धुनी की आग में आहुति डाल दी। इसके बाद महापुरुष के द्वारा छोड़े गये आसन, चिमटा और कमण्डलु को उठाकर उक्त तरुण तपस्वी उस अरण्य के ही एक गम्भीर अंचल में प्रवेश कर गये और शनैः-शनैः दृश्य-पट से ओझल हो गये।

प्राचीन महापुरुष के नवीन शरीर-ग्रहण और प्राचीन शरीर-त्याग के इस अकल्पनीय दृश्य को देखकर राम ठाकुर और उनके शिष्यगण अवाक् रह गये। आश्चर्य के मारे किसी के मुख से बोल नहीं फूट पाती थी। अकस्मात् गुरुदेव उनके बीच आ उपस्थित हुए और उनका आह्वान सुनकर तीनों शिष्यों को पुनः होश हुआ।

गुरुदेव ने प्रसन्न-कण्ठ से राम ठाकुर को पुकार कर कहा, "वत्स, काया-परिवर्तन का जो अलौकिक दृश्य तुमने अभी देखा, वह नितान्त समर्थ साधकों के लिए ही सुलभ है। यह दृश्य देखकर स्पष्ट हो गया होगा कि तुम लोग तंत्र और योग—दोनों ही क्षेत्रों में साधना करने की पात्रता रखते हो। इस क्षेत्र का माहात्म्य तुमने अपनी आँखों देख लिया। यह कोई मामूली बात नहीं है।"

हिमालय के पार्वत्य क्षेत्र में परिव्रजन करते समय राम ठाकुर महाशय को अनेक अद्भुत अनुभव हुए। एक बार वे और उनके एक गुरुभाई श्री अनंग स्वामी के पीछे-पीछे पहाड़ के शिखर-भाग पर चले जा रहे थे कि मार्ग में ही भयंकर हिम-झंझा हुहुआती हुई आ गई। यह स्थिति भयभीत कर देनेवाली थी कि हठात् पास सेही कहीं व्याघ्र का भयंकर गर्जन सुनाई पड़ा और बिजली की कौंध-जैसी रोशनी हठात् चारों ओर दिखाई पड़ी। अब तुषार-मंडित गिरि-शिखर पर केवल आलोक-ही-आलोक उद्भासित हो रहा था। पर दूसरे ही क्षण प्रकाश का यह चमत्कार भी अवलुप्त हो गया और सूची-भेद्य अंधकार ने सम्पूर्ण पार्वत्य अंचल को आच्छादित कर दिया। ऐसी स्थिति में पथ-अतिक्रमण करना निश्चय ही असंभव हो चला।

हाड़ कँपानेवाली सर्दी ने तुषार-कुज्झटिका के उस झोंके में राम और उनके गुरु-भाइयों को ठिठुरन और कँपकँपी के मारे अवश कर दिया। एक डेग चलना भी उनके लिए संभव नहीं हो पा रहा है। इस संकट की घड़ी में

गुरुदेव अनंग स्वामी की एक अद्भुत योग-विभूति प्रकट हुई। उन्होंने अपने शिष्यों के दोनों हाथ पकड़कर उन्हें अपनी ओर खींच लिया और अपने शरीर को अत्यन्त विशाल आकृति में फैलाकर देखते-ही-देखते उन्हें अपने शरीर के भीतर प्रविष्ट कराकर उस तुषार-कुज्झटिका के भीतर होकर यात्रा पूरी कर ली। बाद में राम ठाकुर अपने शिष्यों को बताते कि "वह बर्फीली आँधी अनेक दिनों तक चलती रही और उस अवधि में गुरुदेव ने अपनी कोख में रखकर ही अपने शिष्यों की रक्षा कर दी।"

थोड़ी देर बाद गुरुदेव ने कहीं से लाकर दो फल अपने शिष्यों को भोजन के लिए दे-दिये। बाद में उस फल के सम्बन्ध में राम ठाकुर अपने भक्तों को बताया करते—"वे फल क्या थे, मानो स्वर्गीय आस्वाद की अनुपम विभूति ! उन्हें खाते ही हमलोगों के शरीर में एक दिव्य स्फूर्त्ति का संचार हुआ और आनन्द के मारे हमलोग लोट-पोट हो उठे। इसके बाद कँपकँपी से ठिठुरे शरीर में ऐसी ऊष्णता का संचार हुआ कि हिमालय के तुषारांचल की सर्दी का कोई कष्ट हमें अभिभूत नहीं कर पाता था। यहाँ तक कि कुछ दिनों तक भूख और प्यास का भी पता नहीं चला।"

गुरु के शरीर की अलौकिक विशालता को और गुरु-शरीर में निवास करने की घटना का स्मरण करके राम ठाकुर अक्सर पुलकित हो उठते। गुरु की दिव्य-सत्ता का वैशिष्ट्य शनैः-शनैः वे थोड़ा-थोड़ा समझने लगे। उन्हें पता चल गया कि देह में रहकर भी गुरुदेव सब प्रकार से देहातीत हैं। स्थूल देह के नाम पर संभवतः वे आभास-मात्र हैं। वस्तुतः वे सत्य की ही एक विराट् सत्ता हैं और उस देहातीत महासत्ता के भीतर ही सम्पूर्ण सृष्टि के साथ-साथ राम ठाकुर भी विराजमान हैं, ऐसा अनुभव वे किया करते। इस परम सत्य को तरुण शिष्यों ने उस घटना के बाद साक्षात्कार का विषय बना लिया।

यौगिक और तांत्रिक विभूतियों की अनेक लीलाओं का प्रदर्शन करते समय बीच-बीच में गुरुदेव अनंग स्वामी अपने स्वरूप-तत्त्व को प्रायः प्रकट कर दिया करते। शिष्यों ने समझ लिया कि उनके आश्रयदाता गुरु की अलौकिक शक्ति सीमाहीन है और वह शक्ति उन्हें चिर दिन के लिए अपना आश्रित बनाकर सुरक्षित किये रहेगी। यह गुरु-शक्ति ही उनकी जीवन-साधना को संजीवनी-मंत्र की उद्दीपना के द्वारा जगाये रखेगी।

हिमालय के तुषारांचल में भ्रमण करते-करते शिखर-भाग के एक विशिष्ट स्थान पर राम ठाकुर अपने गुरु और गुरु-भाइयों के साथ जा पहुँचे। वहाँ एक बहुत बड़ी कन्दरा थी। गुरुदेव की आज्ञा हुई कि वहीं चलकर यात्रियों का दल विश्राम कर ले।

कई दिनों तक अपने तरुण शिष्यों का भार ढोते हुए गुरु अनंग स्वामी अब एक निश्चिन्त अंचल में आ पहुँचे हैं। अपने शिष्यों के लिए वे कहाँ से फल-मूल ले आए, इसका पता नहीं। शिष्यगण इस बात से चिन्तित हैं कि उक्त अवधि में उन्हें कभी अपने गुरु की सेवा करने का सुयोग प्राप्त नहीं हुआ। राम ठाकुर के हृदय में अभिलाषा जगी कि गुरुदेव की सेवा करने का सुयोग किसी तरह प्राप्त कर लेने की चेष्टा की जाय। और नहीं तो अरण्य-अंचल से कुछ फल-फूल ही ले-आने की सुविधा प्राप्त कर लेनी चाहिए।

लेकिन फल-फूल का तो क्या कहना, आसपास में लता-गुल्म के भी दर्शन नहीं हुए। निरन्तर तुषारपात होते रहने के कारण हिमालय के शिखर-भाग का वह अंचल लता-वृक्ष से शून्य हो चुका था। पेड़-पौधों का नाम-पता तक नहीं था। अरण्य की कल्पना पर उन्हें हँसी आने लगी। फिर भी, इष्ट का नाम-स्मरण कर वे उस कन्दरा से बाहर निकले। कौन जाने, कुछ कन्द-मूल कहीं प्राप्त हो जाए और इस प्रकार गुरु की सेवा का कर्त्तव्य अल्पांश में भी पूरा हो जाय।

घूमते-फिरते वे दूर निकल गये। वहाँ एक हिमाच्छादित टीला था। टीले के पास पहुँचते ही एक अलौकिक दिव्य दृश्य ने उन्हें अभिभूत कर लिया। उन्होंने चकित दृष्टि से देखा। एक युगलमूर्त्ति उनकी ओर देख देखकर प्रसन्नता पूर्वक मुस्कुरा रही है। उस युगल-मूर्त्ति की उपस्थिति के कारण चारों ओर अनिर्वचनीय आनन्द तरंगित हो रहा है।

निकट जाकर राम ने भक्तिपूर्वक उस युगल मूर्ति के चरणों में साष्टाङ्ग प्रणिपात किया। उस युगल-मूर्त्ति में जो नारी-मूर्त्ति थीं, उन्होंने राम ठाकुर के हाथ में बड़े प्रेम से एक सुस्वादु फल रख दिया। दूसरे ही क्षण वह युगल मूर्त्ति सहसा लुप्त हो गई।

उस अपूर्व फल को पाकर राम के आनन्द की कोई सीमा न रही। वे तुरन्त अपनी कन्दरा में लौट आये और गुरुदेव के सामने उस फल को रख दिया और बोले—"प्रभु, आप की सेवा के निमित्त कुछ फल-मूल ढूँढ़ने मैं बाहर निकल गया था। यह संयोग की ही बात है कि एक परम सुन्दरी मातृ-मुर्त्ति बिना माँगे ही यह फल मुझे देकर अन्तर्धान हो गई। आप कृपा कर इस फल को स्वीकार करें।"

गुरुदेव ने हँसते हुए कहा, "वत्स, यह फल तो तुम्हारे ही लिए दिया गया है। इसे तुम ही खा-जाना। तुम्हारे भाग्य का क्या कहना। साक्षात् पार्वती स्वयं आविर्भूत होकर अपने हाथों तुम्हारे हाथ में यह फल रख गई हैं।"

गुरु के मुख से यह वचन सुनकर राम ठाकुर ने श्रद्धापूर्वक उस फल को सर-आँखों पर रखा और उसके बाद गुरु की आज्ञा का पालन करते हुए उस फल को उन्होंने खा लिया।

परिव्राजन की समाप्ति के साथ-साथ राम ठाकुर की कठोर तपश्चर्या का आरम्भ हिमालय के उसी शिखर-प्रदेश की गुहा में शुरु हुई, जहाँ जाकर स्वयं गुरुदेव ही उन्हें रख आये थे। दिन के बाद दिन, मास के बाद मास एक-एक कर बीतने लगें। योग और तंत्र की अगणित निगूढ़ क्रियाओं के साथ-साथ कठोर तपश्चर्या चलती रही।

अन्ततः गुहा के भीतर ही एक विशेष प्रकार का यज्ञ अनुष्ठित हुआ। गुरु की आज्ञा पाकर यज्ञाग्नि में पूर्णाहुति देने के साथ-साथ राम ठाकुर आप्तकाम हुए। गुरु की कृपा से समस्त सिद्धियाँ उनके करगत हो गईं।

हिमालय-निवास का अन्त लगभग आ पहुँचा है। गुरु ने अपने महाधिकारी नवीन साधक शिष्य को आदेश दिया—"वत्स राम, अब तुम जनसाधारण के बीच लौट जाओ। भगवान् की कृपा से योग और मंत्र की सिद्धि के द्वारा जिस महाशक्ति का बीज तुम्हें आधार बनाकर रख दिया गया है, उसे पल्लवित और पुष्पित करने का अवसर जन-साधारण के बीच रहकर ही प्राप्त करना होगा। आज से जीव-मात्र के कल्याण के लिए तुम विशेष भाव से अपना सदुपयोग होने दो।

गुरुदेव से विदा लेते समय राम ठाकुर की आखें भर आईं। उन्होंने गुरुदेव के चरणों की वन्दना की। गुरुदेव से इसके बाद भेंट नहीं होगी, यह सोचकर उनका हृदय हाहाकार करने लगा। केवल इसी भरोसे पर वे वहाँ से विदा हुए कि उनके गुरुदेव सर्व-समर्थ हैं। उनका कल्याणमय हाथ हर समय और हर जगह राम ठाकुर के कल्याण के लिए अभय मुद्रा में निरन्तर उठा रहेगा।

राम ठाकुर जब विदा होने लगे, तो एक गुरु भ्राता आगे बढ़कर उनके पास आ गए। उनके कण्ठ में एक नारायण शिला अरसे से लटक रही थी। उस शालग्राम शिला की ओर निर्देश कर उन्होंने अपने गुरु-भाई राम ठाकुर से कहा, "भैया, तुम तो अब लोकालय की ओर लौट रहे हो। इसलिए तुम पर मैं एक पवित्र दायित्व सौंप रहा हूँ। मेरे गले में जो यह पवित्र नारायण-शिला है, उसकी कथा तुम जानते ही हो। गुरुदेव की आज्ञा हुई है कि अब मैं इस रक्षा-कवच का त्याग कर दूँ। ऐसी हालत में इस नारायण-शिला को तुम्हीं लिये जाओ। जहाँ सुयोग और सुविधा प्राप्त हो, वहाँ इस पवित्र विग्रह की सेवा का कोई कायमी प्रबन्ध करा देना।"

चलने से पहले उस पवित्र नारायण शिला को राम ठाकुर ने श्रद्धापूर्वक अपने गले में धारण कर लिया। थोड़ी देर के बाद गुरुदेव और उनके अन्यान्य शिष्यगण वहाँ से विदा होकर अन्यत्र चले गये। हिम-पर्वत के अंचल में इक विशेष शिव भूमि की ओर जा पहुँचना उनकी अगली यात्रा को अभीष्ट था।

अपने जीवन के उत्तर काल में राम ठाकुर महाशय अपने अन्तरंग शिष्यों को कभी-कभी उस नारायण-शिला की कहानी सुना दिया करते थे। अपने गुरु भाई से उन्होंने उस नारायण-शिला की एक विशेषता की कहानी सुनी थी। यह नारायण-शिला घोर कृष्ण-वर्ण की थी, किन्तु पहाड़ की कन्दरा के अन्धकार में बैठकर जब कोई उस नारायण-शिला की ओर एक टक होकर पूर्णिमा की रात के समय देखता था, तो ऐसा स्पष्ट भासित होता था कि उससे एक स्वच्छ दिव्य प्रकाश विच्छुरित हो रहा है। उस तिथि के बीतते-बीतते पुनः वह प्रकाश अभ्यन्तरस्थ होकर शनैः-शनैः क्षीण होने के क्रम में अन्ततः लुप्त हो जाया करता था। इस आलोक के तारतम्य पर दृष्टिपात करके, यहाँ तक कि तिथि-निर्णय करना भी संभव था।

लेकिन इस बार उस नारायण-शिला को अपने कंठ में धारण करने के पश्चात् राम ठाकुर को एक नई समस्या के समाधान के लिए चिन्तित हो जाना पड़ा। भला, किसके पास कहाँ उस नारायण शिला को रक्खेंगे ? नारायण-शिला की सेवा-पूजा की दैनन्दिन व्यवस्था किस प्रकार संभव होगी, इसका निश्चय करने में उन्हें कठिनाई हो रही थी।

राह चलते-चलते वे एक पहाड़ी राज्य की सीमा में आ पहुँचे हैं। कुछ ही दूर पर है उस राज्य के राजा साहब का एक मनोहर उपवन। ठाकुर ने मन-ही-मन सोचा, "यह अच्छा संयोग है। इस राजा साहब के ही यहाँ इस नारायण-शिला को यदि रख दिया जाय, तो सारी व्यवस्था हो जायगी।' उन्हें इसका अनुभव था कि वह पूर्णतः जाग्रत नारायण-शिला थी और उन्होंने अपने गुरु-भाई से उसकी सेवा-पूजा का दायित्व ले-लिया था। इसलिए उस नारायण-शिला को जहाँ-तहाँ साथ लिये फिरना उचित न था। कोई राजा-सामन्त यदि सचमुच भक्त हो, तो उसके हाथों में यह नारायण-शिला सौंपकर ही निश्चिन्त हुआ जा सकता है। ऐसा हो-जाने के बाद ही वे अपने देश को लौटने के लिए निश्चिन्त होंगे।

किन्तु पहाड़ी-राज्य के राजा के उस उपवन में पहुँच कर राम ठाकुर ने जो दृश्य देखा, वह विचित्र था। राजा एक बरामदे में बैठकर शराब पीने में

मत्त था। उसे चारों ओर से घेर कर नर्त्तकियाँ ठुमुक रही थीं और खुशामदी मुसाहिबों की जमात कह-कहे लगा रही थी। ऐसे समय में तरुण तापस राम ठाकुर का वहाँ अचानक जा-पहुँचना निश्चय ही रुचिकर न था।

मजलिस की चुहल तरुण साधु के पहुँचते ही थोड़ी देर के लिए रुक गई। शराब के नशे में लाल आंखों को तरेर कर राजा ने क्रुद्ध स्वर में डाँटते हुए कहा, "किसने इस बदतमीज भिखारी को यहाँ आने की इजाजत दे दी है ? क्यों रे ! तू क्या चाहता है ?"

ठाकुर ने शान्त स्वर में विनयपूर्वक कहा—"राजा साहब, मेरे गले में एक नारायण-शिला है। यह नारायण-शिला मैं आज आपको दे-जाना चाहता हूँ। इस नारायण-शिला की अर्चना और सेवा की व्यवस्था आप अपने रियासत की ओर से करा दें, मेरी इतनी ही प्रार्थना है।"

ठाकुर का निवेदन सुन कर राजा साहब क्रोध के मारे आपे से बाहर हो गये। बोले, "कोई है ? अभी इस बाँमन के बच्चे को गरदन पकड़ के यहाँ से निकाल दो। देखो तो इसकी हिमाकत, जो-सो प्रस्ताव लेकर मजा किरकिरा करने यह कहाँ से इसी समय आ पहुँचा ! कोई जल्दी निकालो इसे।"

सिपाहियों का दल लपकता हुआ आ पहुँचा। तब राजा साहब ने अपने आदेश को दुहराते हुए कहा, "बाँमन के इस असभ्य बेटे को पकड़ कर तत्काल बाघ के मुँह में फेंक आओ। ऐसे गहन जंगल में जाकर छोड़ दो, जहाँ से लौट आना इसके लिए संभव न हो। अपनी नारायण-शिला गले में बाँधकर बाघ के पेट में जाने के बाद ही इसे गुस्ताखी करने का फल मिल सकता है।"

ठाकुर महाशय को पहरे के सिपाहियों ने ठेल-ढकेल कर उपवन से क्षण भर में बाहर कर दिया। इस घटना की बात बताते समय राम ठाकुर अक्सर हँस पड़ते और अपनी स्वभाव-सिद्ध अनासक्ति और विनोद-प्रियता के लहजे में अपने अन्तरंग शिष्यों को प्रायः कहा करते, "गरदन पकड़ कर प्रचण्ड धक्कों के द्वारा ढकेल दिये जाने पर राह तय करना आप-ही-आप सुगम हो जाता है। इस तरह बहुत दूर तक की राह तय करनी पड़ी है। इसे गुरु की ही कृपा समझो कि गिरते–गिरते बच गया।"

गम्भीर अरण्य-प्रदेश में ठाकुर को छोड़कर पहरेदारों का दल राज-भवन की ओर लौट गया। तब तक मध्याह्न-काल आ पहुँचा था। भूख-प्यास और उत्पीड़न के कारण ठाकुर का शरीर अवसन्न हो गया था। ऐसे समय में भी राम ठाकुर को एक ही चिन्ता लगातार सताती रही कि दोपहर हो जाने के बावजूद नारायण शिला को वे स्नान-पूजा भी निवेदित नहीं कर सके, भोग-राग की तो बात ही क्या ! इस गहन वन में इसकी व्यवस्था भला कैसे हो

पायेगी ? अपनी थकावट, अवसाद और अपमान की बात भूलकर वे पवित्र नारायण-शीला की सेवा के प्रश्न को लेकर एकबारगी चिन्तित हो उठे।

थोड़ी ही दूर पर उनकी नजर पड़ी एक अपरिचित लता पर। उस लता के एक टुकड़े को तलहत्थी पर मल कर उन्होंने देखा कि वह दूध के वर्ण के रस से ओतप्रोत है। दबाने के साथ उससे दुग्ध-मधुर रसधारा उसी तरह फूट पड़ी, जैसे गाय के स्तन से दूध की धारा स्वतः फूट पड़ी हो। उस रस को जीभ पर रखकर राम ठाकुर चकित हो गये। बिल्कुल गाय के दूध-जैसा उसका स्वाद और रंग था। तब तो दूध के बदले इस लता के रस का उपयोग पूजा में भी हो ही सकता है, इसमें कैसी बाधा ?

अन्ततः इस विनिश्चय के बाद पत्तों का दोना बनाकर राम ठाकुर ने उसमें उस अद्‌भुत लता के सफेद रस का संचय कर लिया और वही रस उस दिव्य नारायण-शिला के स्नानाभिषेक का माध्यम बना। संयोग से वहीं एक आम्रवृक्ष भी मिल गया, जिसके एकमात्र फल को नैवेद्य में अर्पित कर ठाकुर महाशय ने प्रसाद ग्रहण कर स्वस्ति का अनुभव किया।

दिन के समाप्त होने से पहले ही उस अरण्य-प्रदेश में अँधियाली उतर आई। ठाकुर महाशय का चिन्तित होना अस्वाभाविक न था। जंगल में बाघ, भालू, साँप-जैसे जन्तु दिन में ही छिपे रहते हैं, रात होने के बाद तो उनकी हिंस्र लीला बन्द नहीं रह सकती। ऐसी स्थिति में एक निरापद स्थान तो ढूँढ़ना ही होगा, जहाँ नारायण-शिला के शयन की व्यवस्था कर वे स्वयं भी थोड़ी देर के लिए सो सकें।

ऐसी निरापद जगह की खोज में निकलना भी उस समय निरापद न था। यह चिन्ता करते-करते ठाकुर महाशय ने अकस्मात् एक विशालकाय बाघ को थोड़ी ही दूर पर खड़ा देखा। लेकिन विस्मय की बात यह थी कि इस समय बाघ को भूख-प्यास का वेग सता नहीं रहा था और आहार के लिए हिंसा करना अनावश्यक समझकर वह शान्त भाव से चुपचाप खड़ा था। ठाकुर महाशय के शरीर से सटकर आनन्दपूर्वक वह देह-से-देह रगड़ने लगा। उसी समय एक विषधर सर्प भी आ पहुँचा, लेकिन उसने भी उपद्रव करने के बजाय ठाकुर महाशय के पास निश्चिन्त विश्राम करने का ही निश्चय कर लिया था।

ठाकुर महाशय की आँखों में भगवान के प्रति कृतज्ञता के आँसू भर आये। जीवन के प्रभु ने अपनी अहेतुकी कृपा का अद्‌भुत दृश्य ठाकुर महाशय को दिखला दिया है। यह गुरु-शक्ति के सार्वत्रिक संरक्षण का प्रमाण हो, किंवा नारायण-शिला के माहात्म्य का प्रसाद, किन्तु इतना तो स्पष्ट जान पड़ा कि

उस अंधकारमय गहन वन में प्रकृति के समस्त शरीरधारीगण ठाकुर महाशय के प्रति मैत्री भाव के प्रेम और करुणा से ही ओतप्रोत हैं ।

राम ठाकुर ने मन-ही-मन सोचा, 'निरापद स्थान की खोज में कहीं दूर जाना आवश्यक नहीं है । यहीं थोड़ी-सी जगह झाड़-बुहार कर नारायण-शिला के लिए शयन-स्थान निर्मित कर दूँ और तब स्वयं भी सो जाऊँ । थकावट के मारे शरीर टूटा जा रहा है ।'

पवित्र शिला-खंड को शयन में रखकर ठाकुर महाशय देखते-ही-देखते निद्राभिभूत हो गये । जब रात के छठे प्रहर में अचानक उनकी नींद खुली, तो एक आश्चर्यमय दृश्य दिखाई पड़ा । थोड़ी ही दूर पर मशाल जलाये कुछ लोग शोरगुल कर रहे थे । यह दल उसी ओर आ रहा था, जहाँ अपनी नारायण-शिला को शयन की अर्चना देकर ठाकुर महाशय सो गये थे ।

थोड़ी ही देर बाद आगन्तुक लोगों की पुकार सुनाई पड़ी । उनमें से एक ने चिल्लाकर कहा—"साधु बाबा, आप कहाँ हैं ? दया करके जरा झुरमुट से बाहर निकल आइए ।" चटपट नारायण-शिला को गले में बांधकर राम ठाकुर अपनी जगह पर खड़े हो गये । सोचने लगे— 'क्या ये लोग मुझे ही खोज रहे हैं ? ऐसा तो लगता है कि ये लोग यहाँ षड्यन्त्र रचने नहीं, गुहार के लिए ही आये-से जान पड़ते हैं ।' धीरे-धीरे चलकर वे मशालवालों के उस समूह के निकट पहुँचकर खड़े हो गये ।

राम ठाकुर को पाकर वह जन-समूह प्रसन्नता के मारे लोटपोट हो गया, मानो कोई खोई सम्पत्ति अनायास वापस मिल गई हो ।

राम ठाकुर ने चकित होकर देखा कि प्रहरियों के उस दल के साथ राजा साहब और रानी साहिबा भी उपस्थित हैं । दोनों हाथ जोड़कर राजा साहब ने सजल नेत्रों से राम ठाकुर को देखा और बारम्बार क्षमा माँगते हुए प्रार्थना की, "साधु बाबा, मैं बहुत बड़ा पापी हूँ । आपके प्रति मैंने जो अपराध किया है, वह तो अक्षम्य है, किन्तु आप उस अपराध की गुरुता पर ध्यान न देकर अपनी अपार करुणा के सहारे ही मुझे माफ कर दीजिए । ऐसा न होने पर हमारी कोई गति नहीं रह जायगी ।"

ऐसा कहकर राजा और रानी— दोनों-के-दोनों—ठाकुर महाशय के चरणों पर आर्त्तभाव से गिर पड़े ।

अनुनय और क्षमा-प्रार्थना का यह दृश्य जब समाप्त हो गया, तभी जाकर ठाकुर महाशय को घटित वृतान्त का सही-सही पता चल पाया ।

राम ठाकुर का राज-दरबार में जिस दिन अपमान हुआ था, उसी रात राजा और रानी ने एक भयंकर दुःस्वप्न देखा । सपने में प्रकट होनेवाले देवता

ने क्रोध-कषायित नेत्रों से घूरकर राजा-रानी को डांटते हुए कहा—"क्योंजी, तुमलोगों ने आज इस तरह अपना सर्वनाश क्यों कर लिया है ? तुम्हारे दरवाजे पर तुम्हें जाग्रत नारायण-शिला प्रदान करने के लिए जो ब्राह्मण-कुमार आये थे, वे तपःसिद्ध महापुरुष हैं। तुमने अक्षम्य अपराध किया है। नारायण-शिला की सेवा-पूजा करना तो दूर रहे, तुमने उस महापुरुष को भी अपमानित करके अपने दरबार से निकाल दिया। चटपट उठो और वे जहाँ मिलें, वहाँ जाकर उनसे माफी माँग लो, अन्यथा तुम्हारा राज-पाट ही समाप्त नहीं होगा, तुम निर्वंश भी हो जाओगे। ब्राह्मण-कुमार प्रसन्न हो जायँ, तो उनसे नारायण-शिला मांग लाओ और मंदिर बनाकर उस नारायण-शिला की सेवा-पूजा की व्यवस्था करो। ऐसा न होने पर तुम्हारा सर्वनाश अवश्यम्भावी है।

राजा साहब और रानी साहिबा की प्रार्थना चलती रही, "प्रभो, हमलोगों को आप क्षमा कर दें और कृपा करके एकबार फिर हमारे प्रासाद में पदार्पण करें। हमलोग नारायण-शिला की पूजा-प्रतिष्ठा की व्यवस्था अविलम्ब कर देंगे।"

परिस्थिति की विचित्रता देखकर राम ठाकुर मन-ही-मन हँसने लगे। लीला-पुरुषोत्तम प्रभु की कैसी अपूर्व माया है ! इस नाटकीय व्यवस्था के बीच उन्होंने अपनी सेवा-पूजा का आयोजन स्वयं ही कर लिया है। यह राम ठाकुर तो निमित्त-मात्र है। सारे खेल तो उस प्रभु के ही हैं।

राजा और रानी को क्षमा करने में ठाकुर महाशय को कोई कठिनाई न हुई, किन्तु राजा के राज-प्रासाद में पुनर्वार जाना उन्हें स्वीकार्य न था। उन्होंने कहा—"राजा साहब, यदि सचमुच आप इस नारायण-शिला की सेवा-पूजा की व्यवस्था कराने के लिए उत्सुक हैं, तो इसी जंगल में एक मन्दिर बना देना आपके लिए कठिन नहीं होना चाहिए। आप राजा हैं, इसलिए धन-जन के अभाव की कोई समस्या आपको बाधा नहीं दे सकती। इसी स्थान पर एक मन्दिर बनवा डालिए और उसमें इस नारायण-शिला की प्रतिष्ठा करा दीजिए। सेवा-अर्चना के लिए पुरोहित और सेवक की स्थायी व्यवस्था निश्चय ही आवश्यक है। इस प्रस्ताव में आपत्ति की कोई बात नहीं है।"

राजा साहब ने देखा कि ठाकुर महाशय राजधानी की तरफ पाँव बढ़ाने के लिए किसी भी तरह से राजी नहीं किये जा सकते, इसलिए इस प्रस्ताव को मानना ही पड़ेगा। उन्होंने मन्दिर बनाये जाने का आदेश उसी समय दे दिया और कुछ ही दिनों में मन्दिर बन कर तैयार भी हो गया। शुभ मुहूर्त में नारायण-शिला का स्थापना-समारोह आयोजित हुआ और उसके बाद राम ठाकुर वहाँ से अपने गन्तव्य पथ पर चल पड़े।

पर्वत-अंचल के वन-प्रदेश की कँटीली राहों से होकर वे दुर्गम यात्रा-पथ को तय करते चले। साथ में कोई दूसरा व्यक्ति नहीं। आसपास के क्षेत्र भी जन-शून्य हैं। ऐसी स्थिति में ही एक दिन उन पर ज्वर का प्रबल आक्रमण हो आया।

देह का तापमान क्रमशः बढ़ता ही चला गया। एक दिन ऐसा भी हुआ कि ज्वर के बहुत अधिक बढ़ जाने के कारण ठाकुर महाशय पूरे तौर पर बेहोश हो गये।

उस मूर्च्छा से जब वे जगे, तो उन्हें यह देखकर अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि गुरुदेव अनंग स्वामी उन्हें अपनी गोद में लिये बैठे हैं। अब न तो ज्वर है, और न थकावट का अवसाद और भूख-प्यास का कोई अनुभव। वे पूरी परिस्थिति से मन-ही-मन अवगत होने के बाद गुरुदेव के चरणों पर साष्टांग लेट गये।

राम ठाकुर को गुरुदेव के साहचर्य का आनन्द बाद के भी कई दिनों तक प्राप्त होता रहा। उसी अवधि में उन्होंने कुछ निगूढ़ साधना की प्रक्रिया से राम ठाकुर को अवगत करा दिया। इसके बाद राम ठाकुर के अंग-अंग में नई शक्ति और स्फूर्त्ति आप ही संचरित होने लग गई।

यह भी गुरुदेव की ही कृपा थी कि भूख-प्यास की झंझट से भी राम ठाकुर को सदा के लिए मुक्ति मिल गई। विदा होते समय गुरुदेव ने आदेश दिया—"राम, अब राह में ज्यादा देर मत करो, सीधे अपनी जन्मभूमि के देश में चले जाओ।"

अब राम ठाकुर दिन-रात तत्परतापूर्वक राह तय करने में लग पड़े। एक दिन उनकी निगाह राह में बैठे एक कुष्ठ रोगी पर पड़ गई। उसके एक-एक अंग में गलित कुष्ठ के प्रभाव से सड़न पैदा हो गई थी। दुर्गन्ध के मारे उसके पास क्षण भर भी रहना संभव न था, मगर उसकी कातर दृष्टि में सहायता की जो आर्त्त-पुकार थी, उसकी उपेक्षा करना ठाकुर महाशय के लिए संभव न हो सका। वे उसकी सेवा-सुश्रूषा के लिए वहीं ठहर गये।

इस प्रसंग में ठाकुर महाशय के भतीजे श्री महेन्द्र चक्रवर्ती ने इस प्रकार बताया है—'वे उस गलित कुष्ठ के रोगी के पास बैठकर उसके घाव से खोद-खोद कर कीड़ों को निकालने लग गये। थोड़ी ही देर के बाद गुरुदेव अनंग स्वामी अकस्मात् प्रकट हुए और ठाकुर महाशय से पूछ बैठे—"क्यों जी! एक-एक कर कीड़ों को निकालना कितने दिनों में संभव होगा?"—ठाकुर महाशय से उत्तर देते न बना।

गुरुदेव ने कहीं निकट से ही एक वृक्ष के हरे पत्ते ढूँढ़ लिये और कहा, "इस पत्ते के रस से रोगी के शरीर में मालिश करने पर सारे कीड़े आप-ही समाप्त हो जायँगे। आश्चर्य की बात यह थी कि पत्तों का वह रस रोगी के शरीर पर मलने के साथ-ही-साथ रोगी का सम्पूर्ण शरीर रक्त-वर्ण का हो गया। इसके बाद गुरु ने एक दूसरे वृक्ष के पत्ते ला-दिये, जिसके प्रयोग से वह रोगी देखते-ही-देखते रोग-मुक्त हो गया। उसके शरीर में कुष्ठ रोग का कोई चिह्न बाकी नहीं रहा। इसके बाद गुरुदेव ने आज्ञा दी कि राह में रुककर विलम्ब मत करो। जल्द अपने देश में वापस जा-पहुँचो। ऐसा कहकर गुरुदेव हठात् अन्तर्धान हो गये।

ठाकुर महाशय को यह समझने में कठिनाई नहीं हुई कि प्रत्येक डेग पर और प्रत्येक क्षण में सर्व-शक्तिमान् गुरुदेव छिपे रहकर अपने शिष्य की रक्षा कर रहे हैं। इस सत्य का अनुभव राम ठाकुर आजीवन करते रहे। उनका मन अपार तृप्ति और अपार प्रसन्नता से सदा ओतप्रोत होता रहा।

तुषारमौलि हिमालय-शिखर की भाँति अपरिमेय ऐश्वर्य और माहात्म्य के साथ गुरुदेव अनंग स्वामी उनके जीवन के आमने-सामने निरन्तर उपस्थित हैं। ऐसा अनुभव करने के साथ-साथ राम ठाकुर को ऐसा भी प्रतीत होता रहा कि हिमालय की ही भाँति उनके गुरुदेव आकाशचुम्बी उँचाई तक उठे हुए और उनका आर-पार पाना संभव नहीं है। मर्त्य मानव उनकी महिमा को छू नहीं सकता। राम ठाकुर अपने को भाग्यवान् मानते हैं कि अनन्तचुम्बी गुरु को इस जीवन में उन्होंने अनायास ही पा लिया। गुरुदेव की कृपा उन पर निरन्तर रस का वृष्टि कर रही है और उनके जीवन के स्तर-स्तर को अपनी स्वादु आर्द्रता से भिगोती चली जा रही है।

सो, लम्बे प्रवास के बाद राम ठाकुर अपने देश को एक दिन लौट आए।

लोग ऐसा मान चुके थे कि राम ठाकुर अब घर वापस नहीं लौटेंगे। माँ रह-रहकर अपने बेटे को देखने के लिए अधीर हो जाती। एक युग के बाद पुत्र को अपने घर में प्रत्यागत देख कर उनके आह्लाद की कोई सीमा नहीं रही।

सिद्धभूमि हिमालय की यात्रा के प्रभाव ने और उससे भी बढ़कर योगैश्वर्य-सम्पन्न गुरु का सान्निध्य पाकर राम ठाकुर के जीवन में एक अद्भुत रूपान्तर घटित हो गया था। अब उनके साधक जीवन की परम सिद्धि उन्हें प्राप्त हो चुकी थी और असाधारण शक्ति और विभूति के वे परम अधिकारी के रूप में उद्भासित होने वाले थे। अब गृह-जीवन में प्रवेश

करने के बाद उस ऋद्धि-सिद्धि को छिपाये रखने की आवश्यकता का अनुभव उन्हें होने लग गया। अपनी योग-विभूतियों को छिपाकर वे एक साधारण तरुण गृहस्थ के रूप में जीवन-यापन करने लगे। गाँव के शेष लोगों की तरह सामाजिक जीवन के सुख-दुःख में साधारण पुरुष की हैसियत से वे शरीक होने लगे।

उनकेश्वर की वित्तीय अवस्थिति आरम्भ से ही असन्तोषजनक थी। अभाव की अपनी उसी स्थिति को जारी रखकर उन्होंने घरवालों को चिन्तित कर दिया। आखिर पूरे घर में रामचन्द्र को ही तो सारी जिम्मेदारी सँभालनी है! रुपये-पैसों की व्यवस्था यदि वह नहीं करता, तो घर चलेगा कैसे? ऐसी स्थिति में रामचन्द्र या राम ठाकुर को नौकरी की खोज में एक दिन घर से बाहर जाना ही पड़ा।

लिखना-पढ़ना तो कभी पूरे तौर पर संभव ही नहीं हुआ था, इसलिए नौकरी खोजने में रामचन्द्र को स्वभावतः कठिनाई होती रही। अन्ततः रामचन्द्र को नोआखाली जाना पड़ा। वहाँ के एक सरकारी इन्जीनियर के घर में साधारण-सी नौकरी मिल गई। रामचन्द्र को रसोइये का काम चिन्तित करने लगा। इस काम में उन्हें नई बुद्धि की आवश्यकता थी। पाक-कला सीखने के लिए उन्होंने 'पाक-प्रणाली' नामक ग्रन्थ से सहायता लेने की बात सोची। कुछ ही दिनों के बाद वे भोजन बनाने की कला में निपुण हो चले।

राम ठाकुर का स्वभाव ही था, जो भी काम वे करते, पूरे मन से निष्ठापूर्वक करते। रसोइये का काम भी उन्होंने उतनी ही निष्ठा के साथ जारी रखा। घर के मालिक और उनकी पत्नी राम ठाकुर के सम्बन्ध में विशेष जानकारी रखने की आवश्यकता नहीं समझते थे। रसोई तैयार हो जाने पर परोसने का काम भी राम ठाकुर से ही लिया जाता। घर के मालिक के कार्यालय चले जाने पर घर की मालकिन और अन्य लोगों को खिला-पिला देने के बाद ही राम ठाकुर को स्नान-भोजन करने के लिए अवकाश मिल पाता।

रसोई का काम समाप्त करने के बाद अपने भोजन की सामग्री को एक थाली में परोस कर राम ठाकुर रख लेते। दोपहर तक रसोई घर में आने की आवश्यकता और किसी को न होती। इसी अवधि में राम ठाकुर स्नान कर लेते और साधन-क्रिया में भी दत्तचित्त हो जाते। जब दिन ढ़लता, तब अपने भोजन की पूरी सामग्री की थाली चुपचाप छिपाकर वे पास के एक

वन-कुंज में चले जाते और वहीं खाद्य-सामग्री फेंककर खाली थाली वापस ले आते। उनकी इस करतूत का पता किसी दूसरे को न होता, किन्तु राम ठाकुर रोज ही ऐसा करते और रोज ही दो स्यार अपनी माँद से निकलकर उस खाद्य-सामग्री को उदरस्थ कर लिया करते।

किन्तु एक दिन इस बात का रहस्य खुल गया। किसी ने घर के मालिक को कह दिया कि राम ठाकुर को किसी ने कभी भोजन करते देखा ही नहीं। रसोइये का पेशा अपनाकर भी अपने प्रकृत रूप को छिपा पाना ऐसी हालत में राम ठाकुर के लिए नितान्त कठिन हो गया।

इन्जीनियर साहब को इस अद्भुत तथ्य पर बड़ी हैरत हुई। साथ-ही-साथ वह लज्जित भी हुए। उसी दिन उन्होंने राम ठाकुर को रसोइये के काम से छुट्टी दे-दी और उन्हें निर्माण-विभाग के तहत एक सरकारी नौकरी की नियुक्ति दे-दी।

नोआखाली में नौकरी करते समय राम ठाकुर रात के गहरा जाने के बाद शहर के पास के ही एक घने जंगल में प्रवेश कर जाते और वहाँ निर्जन-एकान्त में साधन-भजन करते रहते। इसके बाद ही कुछ ऐसी घटनाएँ घटित होने लग गईं, जिनसे लोगों को राम ठाकुर के महापुरुष होने का संदेह होने लग गया। स्थानीय जनता को जब यह रहस्य कानों-कान मालूम हुआ, तो वह राम ठाकुर को अत्यधिक आदर-भाव से देखने लगी। उनकी इस प्रवास की जीवन-चर्या के सम्बन्ध में लिखते हुए महेन्द्र चक्रवर्त्ती ने कुछ महत्त्वपूर्ण बातें बताई हैं।

"नोआखाली शहर से ही श्री श्री ठाकुर के कर्ममय जीवन का आरंभ हुआ। यहीं उन्होंने योगाभ्यास की भी कुछ क्रियाएँ पूरी कीं। इसी बीच कुछ दिन घर आकर निवास करना भी उनके लिए संभव हुआ था। उन दिनों वे अपने घर के एक छप्पर वाले छोटे-से कमरे में भीतर से दरवाजा बन्द कर घन्टों चुपचाप बैठे रहते। आखिर वे घर में चुपचाप बैठकर क्या कर रहे हैं? यह प्रश्न घर के हम सभी बच्चों को उत्सुक कर देने के लिए पर्याप्त था। एक छेद में आँख लगाकर हमलोगों ने एक दिन देखा कि श्री ठाकुर पद्मासन लगाकर गंभीर ध्यान में निमग्न बैठे हैं। उनका सम्पूर्ण शरीर निःस्पन्द है। ऐसा लगता था कि श्वास-प्रश्वास की गति भी बन्द हो चुकी है। आँखें लाल रंग की हो गई थीं, जिन्हें दोनों भँवों के बीच, नासिकामूल में वे टिकाये हुए थे। गरदन फूल

गई थी। कभी-कभी उनका विकृत कण्ठ-स्वर अवश्य सुनाई पड़ जाता था। इस तरह घंटों बीत जाते और वे उसी तरह बैठे रहते।"

उन दिनों ठाकुर महाशय की आहार-सम्बन्धी दिनचर्या भी अद्भुत थी। उस प्रसंग की चर्चा करते हुए महेन्द्र चक्रवर्त्ती ने लिखा है—

"श्री श्री ठाकुर जब तक देश में रहे, कभी एक दिन भी उन्हें अन्न-ग्रहण करते नहीं देखा गया। स्नान करने के बाद किसी दिन वे एक बिल्व-पत्र चबा जाते, किसी दिन बेल की थोड़ी-सी लुगदी भी प्रसाद के रूप में ग्रहण कर लेते। कभी-कभी जीभ पर गाय के घी की एक बूँद टपकाते हुए भी मैं उन्हें देख चुका हूँ। इस तरह प्रायः वे निराहार ही रह जाते। इसके बावजूद उनके शरीर की कान्ति और पुष्टि में तनिक भी ह्रास नहीं होता। जीवनी शक्ति में कोई कमी इस अनाहार के कारण कभी देखा गया हो, ऐसा नहीं कह सकता। सच तो यह है कि इस दिनचर्या के कारण उनके शरीर में एक अद्भुत दिव्यता, निर्मलता और स्फूर्त्ति का उज्ज्वल प्रकाश ही उद्भासित होता रहा।"

माँ की सेवा में ठाकुर महाशय की अद्भुत निष्ठा थी। घर में वे जब तक रहते, बड़े उत्साह के साथ माँ के लिए अपने हाथों रसोई तैयार कर दिया करते और फिर माँ के लिए भोजन भी परोस देते। इस प्रकार माँ को बड़े यत्न से भोजन कराकर बेटा यदि स्वयं थोड़ा भी अन्न-ग्रहण न करे, तो माँ को कैसी गहरी मनोव्यथा होगी, इसका अनुमान सहज ही है।

शुरू-शुरू में बेटे को भोजन करने के लिए माँ बारम्बार अनुनय करतीं। इससे ठाकुर को कठिनाई ही होती थी। भोजन करने की तो इच्छा ही जाती रही। यह कहकर माँ को किसी तरह मना पाना जब वे सम्भव नहीं देखते, तब भी भोजन करना उनके लिए सम्भव नहीं हो पाता था। हाँ, माँ की आज्ञा का पालन न करने की अपनी असमर्थता से ऐसी घड़ी में उन्हें आर्त्त होते हुए जरूर देखा जाता।

एक दिन माँ ने उन्हें थोड़ा-सा अन्न खिला देने का हठ पकड़ लिया। ठाकुर महाशय ने कातर भाव से कहा, "माँ, मैं खा तो नहीं सकूँगा। मुझे माफ कर दो। गुरुदेव की आज्ञा है कि कुछ दिनों तक मैं कुछ भी न खाऊँ। इस आज्ञा के पालन में मुझे कोई कठिनाई नहीं होती, आनन्द ही होता है।"

बेटे के इस दैन्य निवेदन का माँ पर कोई असर नहीं हुआ। वे हठ करती ही रह गईं। उन्होंने कहा कि 'अन्न-ग्रहण से तुम्हें गुरुदेव ने रोका है, तो थोड़ा-सा दूध ही पी-लो।'

माँ का वह अनुरोध जब किसी भी प्रकार से टालना संभव न हुआ, तो विवश होकर ठाकुर ने स्वल्प मात्रा में दुग्ध-पान कर लेना ही निरापद समझा। मगर इसके बाद वही हुआ, जिसके लिए माताजी तैयार न थीं। ठाकुर महाशय दुग्ध-पान के बाद ही गम्भीर रूप से अस्वस्थ हो गये।

इस घटना के बाद माँ ने अपने पुत्र को आहार ग्रहण करने के लिए आग्रह करना छोड़ दिया।

अपने पारिवारिक जीवन में श्री राम ठाकुर अपने योगैश्वर्य को सब की आँखों से बचाकर गुप्त रखने के लिए सतत सावधान रहते। परिवार के सदस्य हों या अन्य बन्धु-बान्धव-गण किसी को भी वे यह भान ही नहीं होने देते थे कि उन्होंने कभी कोई साधना की है और सिद्धि का कोई ऐश्वर्य उनके पास है। लोग उन्हें केवल एक शीलवान्, सज्जन और साधन-निष्ठ साधारण युवक के रूप में ही तब तक जानते-पहचानते रहे।

किन्तु इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि बीच-बीच में तनिक भी असावधानता हो जाने पर ठाकुर महाशय की योग-विभूति अकस्मात् स्वयं ही प्रकाशित हो जाया करती थी।

उन दिनों की एक ऐसी ही घटना का उल्लेख उनके भ्रातुष्पुत्र श्री महेन्द्र चक्रवर्त्ती ने अपने ग्रंथ— 'श्री श्री राम ठाकुरेर जीवन-कथा'—में किया है।

''ठाकुर के भाई श्री जगबन्धु चक्रवर्त्ती उन दिनों सपरिवार राईपुर में निवास कर रहे थे। उनसे मिलने बीच-बीच में ठाकुर महाशय चले जाया करते थे। एक दिन सन्ध्या-काल के समय घर के दरवाजे को भीतर से बन्द करके ठाकुर महाशय योग-क्रिया में संलग्न थे। ऐसे ही समय में उनकी भ्रातृवधू प्रसन्न देवी आँगन के कोने में तुलसी चौरे के पास दीपोत्सर्ग करने आ पहुँची। पास में ही वह कमरा था, जिसमें किवाड़ लगाकर ठाकुर महाशय योग-साधना में निरत थे। प्रसन्नमयी के मन में कुतूहल हुआ, जरा एक बार झाँक कर देखूँ तो कि देवर महाशय क्या कर रहे हैं।

''दरवाजे के छेद से आँख लगाकर उन्होंने कमरे के दृश्य को देखने की चेष्टा की। जो दृश्य उन्होंने देखा, वह नितान्त अद्भुत था।

''उन्होंने देखा कि देवर महाशय पद्मासन में बैठे ध्यान-मग्न हैं। लेकिन उनका आसन धरती पर नहीं लगा है। धरती से थोड़ा ऊपर उठकर वे शून्य में निराधार होकर पद्मासन लगाये हुए हैं। आश्चर्य से भी अधिक डर ही हुआ उस नारी को। उसके मुँह से अनजाने ही निकला—'सोना ठाकुर, यह क्या? यह आप क्या कर रहे हैं?'

"भाभी के इस वाक्य को सुनते ही एक विचित्र आवाज हुई और ठाकुर महाशय धरती पर उतर आए। इसके बाद उन्होंने भाभी की बड़ी खुशामद की ताकि इस रहस्य की कथा किसी को कानोंकान मालूम न हो।"

एक ऐसी ही अन्य घटना का उल्लेख डाक्टर इन्दु भूषण बन्दोपाध्याय ने अपने द्वारा सम्पादित 'ठाकुरेर पत्रावली' की भूमिका में किया है। यह कहानी उन्हें किसी प्रत्यक्षदर्शी ने सुनाई थी।

घटना विक्रमपुर वेजगाँव की है। सतीशचन्द्र गंगोपाध्याय के घर पर उसी गाँव में उन दिनों राम ठाकुर महाशय कुछ दिनों से ठहरे हुए हैं। डाक्टर बन्दोपाध्याय ने बताया कि "उन दिनों ठाकुर महाशय का मैं मुँहलगा हो गया था। इसलिए अवसर पाकर बारम्बार उनके ही पास जाकर बैठ जाया करता था। मेरे स्नेह के इस अत्याचार को ठाकुर महाशय हँसकर सहन कर लेते। एक दिन दोपहर को मुझे अपनी बगल में सुला देने के बाद टीन की छतवाले बाहरवाले घर में ठाकुर महाशय भी सो गये। बाल्यावस्था होने के कारण मुझे तो लेटते ही नींद आ गई, किन्तु थोड़ा ही देर के बाद किसी विचित्र घटना के प्रभाव से मेरी नींद अचानक टूट गई। जगने पर देखा कि ठाकुर महाशय पद्मासन लगाकर धरती से बहुत ऊपर उठकर ध्यान मग्न बैठे हुए हैं। वह इतने ऊपर उठ गये थे कि टीन की छत से उनका मस्तक छू गया था। यह दृश्य देखने के बाद मैं चिल्ला उठा। मेरी चिल्लाहट सुनकर ठाकुर महाशय चटपट नीचे उतर गये और मुझे चुप करने और मनाने लगे।"

सतीश बाबू की इस कहानी के तथ्यातथ्य के सम्बन्ध में मैंने ठाकुर महाशय से जब जिज्ञासा की तो वे अन्यमनस्क भाव से बोले—"हाँ जी! कभी-कभी ऐसा भी तो हो ही जाता होगा।"

बाद में ठाकुर महाशय का तबादला नोआखाली से फेनी अंचल में हो गया। प्रसिद्ध कवि नवीनचन्द्र सेन उनके महकमे के पदाधिकारी थे। राम ठाकुर महाशय से उनकी बड़ी घनिष्ठता हो आई।

ठाकुर महाशय के साधक जीवन के कुछ अलौकिक तथ्यों का पता सेन महाशय को धीरे-धीरे लग गया। ठाकुर महाशय की एकाध ऐश्वर्य-लीला को भी अपनी खुली आँखों से देखने का सौभाग्य सेन महाशय को मिल गया था। अपना आत्मकथा में नवीनचन्द्र सेन ने ठाकुर महाशय के तत्कालीन साधक-जीवन के सम्बन्ध में छोटे-मोटे रेखाचित्र प्रस्तुत कर दिए हैं।

अपनी आत्मकथा में उन्होंने लिखा है, "फेनी में उस समय नया जेलखाना बन रहा था। उसकी देख-रेख करनेवाले वर्क सरकार के रूप में राम ठाकुर

को ही जिम्मेदारी मिली थी। जन-साधारण के बीच रामठाकुर की दिनचर्या को लेकर तरह-तरह की अद्भुत बातें उस समय तक उस अंचल के जन-समाज में फैल गई थीं। एक क्षण पूर्व किसी ने उन्हें यदि आह्निक कृत्य में निमग्न देखा, तो दूसरे-ही-क्षण वे वहाँ से अकस्मात् अन्तर्धान भी हो गये। एक-आध व्यक्ति ने ऐसा भी देखा कि वे ललाट में रक्त-चन्दन लगाये किसी वृक्ष से उतर कर अकस्मात् धरती पर आ गय। किसी ने यह भी देखा कि किसी पशु को काटने के लिए एक भयंकर सर्प दौड़ा हुआ आ रहा था, जिसे राम ठाकुर ने जब हाथ उठाकर मना कर दिया, तो वह चुपचाप वापस लौट गया। वे कुछ नहीं खाते हैं, ऐसा तथ्य भी साधारण लोगों को ज्ञात हो चुका था। दूसरों की सेवा में उन्हें परम आनन्द आया करता था। जेलखाने के पास छोटे-छोटे तात्कालिक घर बनाकर कुछ मजदूर और उनकी देख-रेख करनेवाले लोग उस समय वहीं रहा करते थे और उनके बुलावे पर कुछ वेश्याएँ भी वहाँ स्वतः चली आती थीं। आश्चर्य की बात तो यह है कि उन अभागिनियों को देखकर ठाकुर महाशय घृणा का कोई भाव व्यक्त नहीं करते थे, उल्टे उन्हें अपने हाथों भोजन बनाकर खिलाते थे और जब वे बीमार हो जातीं, तो उनकी सेवा इतनी तत्परता से करते कि मानो वे उनकी अपनी माँ-बहन हों।

"उन दिनों नोआखाली से काफी दूर चलकर भवानीगंज पहुँच जाने पर ही स्टीमर से यात्रा संभव होती। राम ठाकुर एक दिन अपने किसी आत्मीय व्यक्ति को स्टीमर पर चढ़ाकर जब लौटे, तो रास्ते में ही आधी रात हो गई। ऐसी हालत में रास्ते के किनारे की एक मस्जिद में ठहर कर रात बिता लेना आवश्यक हो गया। रात अँधेरी थी। सहसा मस्जिद में एक दिव्य प्रकाश प्रकट हुआ। ठाकुर ने देखा कि दो अन्य संन्यासियों के साथ उनके गुरुदेव उनके सामने खड़े हैं। उन्होंने बताया—"अभी कौशिकी पर्वत से उतर कर हमलोग चन्द्रनाथ तीर्थ को जा रहे थे, तभी पता चला कि रात की अँधियाली में निर्जन पथ पर राम ठाकुर को डर हो आया है। यही कारण है कि देखने चले आये।"

यह बात राम ठाकुर ने लोगों को स्वयं ही बता दी थी।"

"और भी एक कहानी कई लोगों के मुँह से सुनी और अन्ततः राम ठाकुर के मुँह से भी। गुरुदेव-अनंग स्वामी राम ठाकुर को वचन दे-गये थे कि शिव चतुर्दशी के अवसर पर चन्द्रनाथ तीर्थ में वे अपने शिष्य से मिलेंगे। उस प्रसंग को लेकर ही राम ठाकुर ने छुट्टी के लिए दरखास्त दी थी। लेकिन ऑवरसियर ने यह कहकर छुट्टी देने से इनकार कर दिया कि कार्यपालक अभियन्ता काम

का लेखा-जोखा करने के लिए उधर आनेवाले हैं। राम ठाकुर को बहुत दुःख हुआ कि शिव चतुर्दशी को गुरु के दर्शन से वंचित होना पड़ेगा। मनोवेदना की यह घड़ी चल ही रही थी कि कार्यपालक अभियन्ता का तार आ पहुँचा। तार के द्वारा उन्होंने अपने कार्यक्रम के रद्द हो जाने की सूचना दी थी। फलतः राम ठाकुर की छुट्टी मंजूर हुई और वे चन्द्रनाथ तीर्थ की ओर सत्वर गति से रवाना हो गये।

"राम ठाकुर चन्द्रनाथ देव के दर्शन की उत्कंठा से आनन्द विह्वल होकर चले जा रहे थे कि उन्हें दिग्भ्रम हो आया और उत्तर को दक्षिण समझ कर वे उल्टी दिशा में उत्तर की ओर चल पड़े। रास्ते में एक दूसरा व्यक्ति दिखाई पड़ा, जिसने बिना पूछे ही राम ठाकुर को सही दिशा की ओर लौटा दिया।

"इस तरह काफी देर हो चुकी थी और चन्द्रनाथ तक पहुँच पाना उस दिन संभव नहीं लग रहा था। हार कर राम ठाकुर एक वृक्ष के नीचे संतप्त-चित्त से बैठ गये। ऐसे ही समय में एक संन्यासी वहाँ आ-पहुँचा। संन्यासी ने पूछा, "तुम तो चन्द्रनाथ जा रहे हो न ?"

"राम ठाकुर ने उसाँस लेकर कहा—'दिग्भ्रम के कारण मैं विपरीत दिशा में जा रहा था। अब संभव नहीं लगता कि मुहूर्त्त रहते चन्द्रनाथ का दर्शन करना संभव है।"

"संन्यासी ने कहा—'देर मत करो मेरे पीछे-पीछे चले आओ। पहाड़ के भीतर होकर एक संक्षिप्त मार्ग है। उससे चलने पर शाम के पहले ही हम दोनों चन्द्रनाथ पर्वत के शिखर-देश पर पहुँच जायँगे।

"उस स्थान से चन्द्रनाथ लगभग चालीस मील की दूरी पर है। चतुर्दशी की रात को सीता-कुण्ड में व्यतीत कर दूसरे दिन राम ठाकुर को वही संन्यासी फेनी तक पहुँचा गये। फेनी में राम ठाकुर को भोर-वेला के समय एक प्यादे से भेंट हुई। वह प्यादा जंगल में छिपा हुआ था। उसी के द्वारा राम ठाकुर के तीर्थ-दर्शन की अद्भुत कथा कानोंकान जन-साधारण में फैला दी गई।

"राम ठाकुर देखने में दुबले-पतले, सुन्दर और शान्त पुरुष थे। किसी से मिलना-जुलना या बातचीत करना उनके लिए स्वाभाविक न था। आठ से लेकर बारह वर्ष तक की उम्र के बीच के चार वर्षों में शिक्षा के नाम पर केवल बंगला भाषा और साहित्य का थोड़ा-सा परिचय उन्हें हो पाया था। किन्तु धर्म-सम्बन्धी निगढ़ तत्त्वों को वे बड़ी स्पष्टता के साथ जन-साधारण को बता दिया करते थे। मुझे ठाकुर के लिए बहुत सम्मान का भाव था। कभी-कभी आग्रहपूर्वक मैं उन्हें अपने घर पर ले आता और अपनी पत्नी के साथ

मुग्ध-चित्त से उनके प्रवचन सुना करता। कहना न होगा कि उनके प्रवचन बड़े तात्त्विक और मधुर हुआ करते थे।

"एक दिन पौ फटते ही राणा घाट अंचल के भवन में मेरी पत्नी ने जगकर कहा कि उस बार जब वे कालीजी का दर्शन करने गई थीं, तो उन्हें किसी ने बताया था कि राम ठाकुर भी कुछ दिन पहले काली घाट आये थे। यह बताकर उन्होंने मुझसे जिज्ञासा की—"जब काली घाट तक वे आ ही गये थे, तो भला हम लोगों के पास मिलने क्यों नहीं आये ?" मैंने कहा, "इस सवाल का जवाब भला मैं क्या दूँ ?" इसके बाद आँख-मुँह धोकर मैं हाकिमवाले कमरे के सोफा पर बैठकर बाहर की तरफ देखने लगा। मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि मेरे सामने बरामदे पर राम ठाकुर नीचे की ओर आँख किये स्थिर भाव से चुपचाप खड़े हैं। मुझे तो ऐसा लगा कि वे यकायक आकाश से ही नीचे उतर आए हैं, क्योंकि रास्ते में आते हुए उन्हें किसी ने नहीं देखा और मैं तो उन्हें याद करता हुआ राह की ओर एकटक देख ही रहा था। यदि वे धरती की राह से आए होते, तो जरूर दिखाई पड़ जाते। कौन जाने, आसमान की राह से ही आकर अचानक बरामदे पर उतर आए हों। इस घटना के बाद राम ठाकुर को मैंने फिर कभी नहीं देखा।"

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्री श्रीराम ठाकुर असाधारण योगविभूतियों के अधिकारी महापुरुष थे, किन्तु उस ऐश्वर्य को वे अपने दैनन्दिन के आचरण और व्यवहार में अप्रकट रखने के लिए सतर्क रहते थे और नितान्त साधारण-जन की भाँति अपना जीवन-यापन करते थे। मगर योगैश्वर्य को बहुत दिनों तक छिपाकर रखना भी साधारण बात नहीं। कालान्तर में इसीलिए उनके साधन और ऐश्वर्य की किंवदन्तियाँ चारों दिशाओं में फैलने लगीं और श्रद्धालु दर्शनार्थियों की भीड़ शनैः-शनैः बढ़ने लग गई।

इसी बीच एक दिन गुरुदेव का नया आदेश ठाकुर महाशय को प्राप्त हुआ। फेनी शहर में रहना उचित नहीं, क्योंकि यहाँ के लोग उन्हें सिद्ध-पुरुष के रूप में जान-पहचान गये हैं। ऐसी स्थिति में उस शहर को छोड़ देना ही पड़ेगा और नई तपस्या में निरत होने के लिए बाहर जाने की घड़ी ढूँढ़नी होगी। एक दिन वे फेनी शहर से सहसा तपस्या के पथ पर चल पड़े और इसी के साथ शुरु हुआ उनके जीवन का एक नया अध्याय।

इसी रहस्यमय काल में राम ठाकुर ने प्रच्छन्न होकर अपने जीवन के साधनामय अभीष्ट को प्राप्त करने का शेष कार्य पूरा किया। उन्होंने बड़ी कठिन तपस्या की और तन्त्रों में कही गई निगूढ़ क्रियाएँ भी कृपालु गुरु के

आदेशानुसार एक-एक कर पूरी कर ली। इस तरह परम प्राप्ति के शिखर पर वे आसीन हो गये। योग और तंत्र का उच्चतम भूमि पर अधिरुढ़ होकर गुरु की महती कृपा उन्होंने प्राप्त कर ली। सम्पूर्ण भारतवर्ष के उच्च कोटिक साधकों के बीच वे महान् ब्रह्मज्ञ महापुरुष के रूप में अभिज्ञात हो गये।

रहस्यमय ढंग से अन्तर्धान होकर जब से उन्होंने फेनी अंचल का त्याग किया, तब से कोई सत्रह वर्ष व्यतीत हो गए। इस दीर्घ अज्ञातवास के अन्त में एक दिन फिर वे जन-साधारण के बीच लौट आए नये ऐश्वर्य की परिपूर्ण शान्ति लेकर।

ब्रह्मविद् महान् साधक राम ठाकुर ने अज्ञातवास में अर्जित ऐश्वर्य के बावजूद जन-साधारण के बीच साधारण जन की तरह जीवन व्यतीत करना ही निश्चित कर लिया था और उनके इस निश्चय में कभी विकल्प नहीं आया। गुरु का आदेश हुआ कि अब वे लोक-हित के कार्य में संलग्न होकर जन-साधारण को सत्पथ की ओर अग्रसर करते रहें। गुरु की करुणा के स्पर्श से चिह्नित महापुरुष के निकट जो भक्त-जन एकत्र हुए, उन्हें आध्यात्मिक जीवन की चरम सार्थकता प्रदान करने में राम ठाकुर इसके बाद जीवन के अंत तक जुटे रहे। वे साधारण-से-साधारण व्यक्ति के लिए भी चरम आश्रय के छाया-तरु बन गये।

जीवन-काल की इस अवस्था में उन्हें कभी कलकत्ता जाने की आवश्यकता हुई, तो कभी हुगली और उत्तरपारा जाने की।

उस बार राम ठाकुर बाँस-बेड़े के निकट एक भक्त-दम्पति के निकट ठहरे हुए थे। कुछ दिनों से उस परिवार का एक होनहार पुत्र वात-व्याधि से आक्रान्त हो गया था। शनैः-शनैः रोग ने भयंकर रूप धारण कर लिया। हालत यहाँ तक हो गई कि दिन-रात बिछावन पर लेटे रहने के अलावा उठने-बैठने तक का होश भी उस बालक को नहीं रह गया।

जानकार डाक्टर-वैद्यों के द्वारा तरह-तरह की चिकित्सा चलती रही। मगर रोगी की हालत में तनिक भी सुधार न हुआ। उल्टे, रोग रह-रहकर बढ़ता ही चला गया। अन्ततः बालक के माता-पिता निरुपाय हो गए। ठाकुर की सेवा-पूजा में इसके बावजूद परिवार ने कोई त्रुटि होने नहीं दी। पर, आँखों में आँसू भरकर उस बालक के कष्ट की कथा उनके द्वारा राम ठाकुर को बार-बार सुनाई जाती। उनके मन में भाव था कि यदि ठाकुर कृपा करेंगे तो कदाचित् बालक स्वस्थ हो जायगा। डाक्टर-वैद्य के वश की बात तो यह रोग है नहीं।

ठाकुर महाशय के मन में बालक के प्रति दया का भाव उमड़ रहा था, किन्तु बाहर से वे उदासीन बने रहते। किन्तु एक दिन दम्पति के आर्त्त-क्रन्दन ने उनके हृदय को करुणा-विगलित कर दिया।

घर के पास ही पुण्य सलिला गंगा की धारा बह रही है। उसी रात काफी अँधियाली हो जाने के बाद चुपचाप उठकर नीरव बेला में श्री राम ठाकुर नदी के किनारे चले गए और वहाँ कास के वन में आसन लगाकर ध्यान-मग्न हो गए।

इसके कुछ ही दिन बाद वह बालक पूरी तरह नीरोग हो गया; किन्तु राम ठाकुर महाशय शनैः-शनैः वात-व्याधि से स्वयं ही ग्रस्त हो गए। धीरे-धीरे उनका सम्पूर्ण शरीर वात के प्रकोप से निश्चेष्ट हो गया। कोई भी अंग हिलने-डुलने का नाम नहीं लेता था। भक्त-दम्पति को कृपालु राम ठाकुर महाशय की यह दशा देखकर असह्य कष्ट होने लगा।

ऐसे ही समय में एक दिन महायोगेश्वर गुरु अनंग स्वामी हठात् श्री राम ठाकुर के निकट आ-उपस्थित हुए। वे मुँह से एक शब्द भी न बोले। केवल राम ठाकुर के पीछे जाकर अवस्थित हो गये और वहीं से खड़े रहकर श्री राम ठाकुर के शरीर पर उन्होंने खूब जोर से खींचकर एक लात लगा दी। लात के चोट से श्री राम ठाकुर का शरीर उछल कर दूर जा गिरा।

तभी गुरुदेव का गम्भीर कण्ठ-स्वर सुनाई पड़ा—"राम! अब वहाँ से धीरे-धीरे चलकर मेरे पास चले आओ!"

ऐसा करना राम ठाकुर को आरम्भ में तो असंभव जान पड़ा, पर गुरु की आज्ञा पर भरोसा करके वे किसी तरह घुटनों के सहारे खिसककर गुरु के निकट धीरे-धीरे चले आये।

गुरुदेव ने देखा, तो कुछ सोचकर कहा, "देखता हूँ कि पूरी तरह तुम चंगे नहीं हो सके। थोड़ी-सी कसर अब भी रह गई है। मगर इसका कोई उपाय नहीं है। अभी तो ठीक हो जायगा, लेकिन लगता है कि जब तक यह शरीर रहेगा, तब तक तुम्हें बीच-बीच में वात-व्याधि का कष्ट झेलना ही पड़ेगा।"

यह सब कह चुकने के बाद गुरुदेव अनंग स्वामी जिस तरह अकस्मात् प्रकट हुए थे, उसी तरह अकस्मात् लुप्त भी हो गए।

इसमें शक नहीं कि बाद के समय में राम ठाकुर को बीच-बीच में वात-व्याधि का कष्ट हो जाया करता था, किन्तु ऐसे समय में भी उनके आकाश-गामी चित्त की आनन्दावस्था को कोई व्याघात नहीं होता। कौन जाने, कहीं यह व्याधि उस ऐश्वर्य-सम्पन्न गुरुदेव का ही प्रसाद रहा हो, ताकि राम ठाकुर

जावन के शेष काल तक गाँव-घर से बँधे रहने की स्थिति का त्याग न कर पायें !

महाशक्तिधर योगी श्री राम ठाकुर शक्ति और ज्ञान की जिस ऊँची भूमि पर अधिष्ठित थे, वहाँ ऊंच-नीच या भले-बुरे का अन्तर टिक नहीं पाता, किन्तु यह विशेषता राम ठाकुर के जीवन में उस अद्भुत धरातल पर भी प्रकट होती रही, जिसमें संन्यास और गार्हस्थ्य का अन्तर भी दिखाई नहीं देता। इसीलिए देखा जाता कि पूर्ण संन्यास में अधिष्ठित रहने के बावजूद वे साधारण गृहस्थों के बीच नितान्त निर्धन गृहस्थ की भाँति ही जीवन-यापन करते रहे और जन-साधारण के बीच ही आजीवन घूमते-फिरते रहे।

वे डीङामानिक नामक अपने गाँव के पारिवारिक घर में बार-बार लौट कर उपस्थित होते। आवश्यकता होने पर रोग-शय्या-ग्रस्त स्वजनों की अपने हाथों सेवा और चिकित्सा भी करते तथा परिवार के मुमूर्षु स्वजन की व्यवस्था करने में भी किसी से पीछे नहीं रहते। उनका पैतृक गृह जीर्ण होकर गिर जाने की राह देख रहा था। मगर ऐसे घर की मरम्मत का काम जब शुरु होता, तो उसमें भी राम ठाकुर किसी से पीछे नहीं रहते। घर की खेती-बारी में भी उनका उत्साह देखने ही योग्य होता। वैसी गृह-चिन्ताओं में निरत राम ठाकुर को देखकर सहसा यह अनुमान करना सम्भव ही नहीं होता कि वे एक सिद्ध महापुरुष हैं।

एक बार उनके एक भतीजे ने उन्हें स्नेहपूर्वक एक अद्भुत आग्रह से ग्रस्त कर लिया। उसका कहना था कि राम ठाकुर अपने भतीजे के लिए एक चाची ब्याह कर ला दें। उसका अनुनय था, "इस तरह विरागी होकर रहने से घर का काम नहीं चल सकता। चाचाजी को शादी करनी ही होगी और घर-परिजन का भार अपने कन्धों पर लेना ही पड़ेगा।"

चाचा-भतीजे के बीच के इस विवाद को सुनकर परिवार के सभी सदस्य उत्साह से भर गए। तय हो गया कि सब लोगों के अनुरोध को ठुकरा कर श्री राम ठाकुर का कुँआरा बने रहना उचित नहीं। विवाह कराये बिना श्री राम ठाकुर को उनके स्वजनगण छोड़ नहीं सकते। भतीजे ने तो अपने को दाँव पर ही लगा दिया। ठाकुर के पाँव दोनों हाथों से पकड़ कर वह धरती पर लेट गया और कहने लगा कि अपने मुँह से जब तक श्रीराम ठाकुर 'हाँ' नहीं कह देते तब तक वह भूमि-शय्या का त्याग नहीं करेगा। ठाकुर ने बहुतेरे तर्क दिये, अनुनय-विनय किया, किन्तु सब व्यर्थ। भतीजे की जिद टलनेवाली नहीं।

अब तो ठाकुर महाशय बड़े ही असमंजस में पड़ गये। क्या किया जाय? इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं मिलता। लोगों ने मिलकर इस तरह से जकड़ लिया है कि उन्हें निरुपाय हो जाना पड़ा। अन्त में उन्हें अपनी सहमति देनी ही पड़ी। घर के लोगों से कहा, "अच्छा ठीक है, अब तुम लोग जरा अच्छी तरह से देखभाल करके कन्या की खोज तो करो!"

थोड़ी देर ठहर कर उन्हें कोई बात अनायास याद आई। बोले, "अजी! एक बात भले याद आ गई। कलकत्ते में कृष्ण बाबू नाम के एक इन्जीनियर साहब हैं। उनकी दिली हसरत है कि वे कन्यादान करें। मैं उन्हें वचन भी दे चुका हूँ कि यदि शादी करनी ही होगी, तो उन्ही की कन्या से करूँगा। न हो, तो उन्हीं को इस सम्बन्ध में एक पत्र लिख डालो।"

उसी दिन लोगों ने कृष्ण बाबू की कन्या के पाणिग्रहण के प्रसंग से परिवार की प्रार्थना, पत्र के जरिये, भेज दी। इसके बाद बहुत दिन बीत गये, किन्तु कलकत्ते से कोई उत्तर नहीं आया। इसी के बीच ठाकुर महाशय को अचानक घर से गायब हो जाने का मौका मिल गया।

एक महीने से ज्यादा समय बीत जाने पर कृष्ण बाबू का प्रत्याशित पत्रोत्तर आ पहुँचा। उन्होंने उत्तर में लिखा था, 'ठाकुर महाशय कृपा कर मेरी कन्या का पाणिग्रहण करेंगे, यह जानकर अत्यधिक आह्लादित हुआ। इसे सौभाग्य ही कहा जायगा कि उनका वंश धन्य होने जा रहा है।" आगे चलकर उन्होंने कैफियत दी कि चूंकि कलकत्ता प्लेग के प्रकोप से आक्रान्त हो गया था, इसलिए वे सपरिवार शिमला चले आये हैं, अन्यथा उत्तर देने में इतना विलम्ब न होता।"

कहना न होगा कि कृष्ण बाबू के भावी जामाता तो इस बीच ही सुयोग पाकर कहीं चले गये हैं। इस समस्या का समाधान कैसे हो? ठाकुर महाशय के इस सुचतुर अभिनय का वर्णन प्रत्यक्षदर्शी की हैसियत से श्री महेन्द्र चक्रवर्त्ती ने इस प्रकार किया है—

"इस विवाह के प्रसंग में ठाकुर महाशय एक अद्भुत रसिकता की अवतारणा कर गये थे, जिसका रसास्वादन अर्से तक जनसाधारण के द्वारा किया जाता रहा। कभी-कभी रात में बिछावन पर बैठे-बैठे वे उस विवाह की कथा कहने लग जाते और हम छोटे बच्चों के मन में उस कथा को सुनते रहने का अपार उत्साह उमड़ आता। पहले तो वे कृष्ण बाबू और उनकी कन्या के प्रसंग में बताते कि कन्या अति धर्म-परायण थी; सच्चरित्रता की मूर्त्ति। वह भी योगाभ्यास किया करती थी। इसके बाद विवाह की कथा शुरू होती। शादी तो कलकत्ता में होनी ठहरी है। हमलोगों को उस विवाह

में बरात बनकर जाना है। कलकत्ता बहुत बड़ा शहर है। थोड़ी-सी भी चूक होने पर संकट में पड़ जा सकते हैं। इसलिए वहाँ खूब सावधान होकर रहना पड़ेगा और कृष्ण बाबू तो बहुत बड़े आदमी हैं। हमलोग उनके सामने खर-पात के बराबर हैं। इसलिए हमलोगों को खूब भव्य-सभ्य होकर चलना पड़ेगा। यहाँ जो घर-द्वार है, घाट-बाट हैं, उनकी सफाई में भी पहले से ही लग जाना पड़ेगा। एक नया घर भी तो बनाना पड़ेगा! इस तरह की कितनी ही बातें ठाकुर महाशय कह जाते।

"हमलोग अबोध बालक ठहरे। सो, कई दिनों तक घर-द्वार की सफाई में दिन भर योगदान करते और रात में अद्भुत शहर कलकत्ते के सपने देखते रहते। इसका पता तो अब चला है कि यह उनकी लीला थी। हमलोग तो चींटी से भी गये-बीते हैं, मगर अभ्रभेदी विशालकाय अचल-अटल हिमालय को अपनी जगह से डिगा देने का हौसला रखते हैं। धृष्टता और किसे कहते हैं? ब्याह की कथा कथा हो रह गई। बहुत दिनों तक यह भी पता नहीं चला कि ठाकुर महाशय कहाँ हैं? कहीं हैं भी या नहीं!"

१९०३ ई० में ठाकुर महाशय की माता का स्वर्गवास हो गया। उस समय ठाकुर महाशय काशी घाट में रहते थे। माता के शरीर-त्याग की खबर उन्हें वहीं भेज दी गई, पर न तो वे आये और न उनका कोई उत्तर मिला।

माँ के देह-त्याग के कुछ ही समय बाद ठाकुर महाशय दक्षिण भारत की यात्रा पर चल पड़े। लगभग डेढ़ वर्ष तक वे दक्षिण भारत के तीर्थों की परिक्रमा करते रहे। फिर पैदल ही १९०७ ई० में लौट कर बंगाल पहुँचे। इस यात्रा के बाद उन्हें फिर कभी लोकालय से बाहर जाते नहीं देखा गया। जन-साधारण के बीच रहकर जन-कल्याण के महाव्रत में ही जीवन के शेष दिन उन्होंने व्यतीत किये।

दक्षिण भारत की तीर्थयात्रा से लौटने के बाद श्री श्रीराम ठाकुर कुछ दिनों के लिए अपने जन्म-स्थान—डीङामानिक में अवस्थान करते रहे। इस अवधि के उनके दैनन्दिन जीवन के सम्बन्ध में उनके उपर्युक्त भ्रातुष्पुत्र ने इस प्रकार लिखा है—

"इस दफा ठाकुर महाशय एक दृष्टि से निष्क्रिय रह रहे हैं। सन्ध्या-वन्दन, पूजा, ध्यान-धारणा एवं योगाभ्यास की पहलेवाली दिनचर्या हठात् रुक गई है। बोलते तो वे पहले भी कम थे, इस बार उनकी अल्पभाषिता में और अधिक वृद्धि हो गई है। बीच-बीच में पड़ोस के आत्मीय जनों के पास आना-जाना जरूर होता है। किन्तु किसी भी जगह पर अधिक समय

तक ठहरना संभव नहीं होना। भोजन के नाम पर गूलर, करमी-साग और तिल कभी-कभी ग्रहण कर लेते हैं। देश के अधिकांश लोग उन्हें देखकर पहचान नहीं पाते। वे मन-ही-मन इतना ही कहते—'राधा-माधव विद्यालङ्कार का पुत्र निरुद्देश्य घूमघाम कर लौट तो आया है।' किन्तु उसी राम के रूप में जो रत्न है, उसकी कीमत लोगों को मालूम नहीं। पर कोई-कोई फिर भी देखने आ-जाते हैं। उनमें से अधिकांश लोगों की समस्या है शारीरिक व्याधि के निवारण के लिए जादू-मन्त्र का प्रयोग प्राप्त कर लेना। धर्म-पिपासु होकर राम ठाकुर के पास आनेवाले लोगों की संख्या अत्यल्प है। मगर, जो जिस भाव को लेकर आता है, राम ठाकुर उसके प्रति उसी भाव से बात कर लेते हैं।"

शनैः-शनैः निष्क्रियता की यह अवधि भी व्यतीत हो जाती है। अब राम ठाकुर बंगाल और आसाम के अनेक स्थानों में घूम-फिर रहे हैं। इसके साथ ही उनका नाम भी हर ओर से उजागर हो रहा है। अब आर्त्तों और मुमुक्षुओं के परम आश्रय के रूप में वे अभिज्ञात हो उठे हैं। प्रच्छन्न महाब्रह्मज्ञ साधक के जीवन में इसके साथ-साथ शुरू हुआ है एक नूतनतर पर्व। संसार के ताप से तापित मानव-समाज के हर दरवाजे पर वे घूम-घूमकर दस्तक देते फिर रहे हैं। कल्याणमय शान्तिजल से सभी दिशाओं को ठंड़क पहुँचाना ही जैसे उनका एकमात्र काम रह गया हो। आर्त्तों को वे आश्वस्त करते और मुमुक्षुओं को मुक्ति का पथ बता जाते।

महाशक्तिवर गुरु की कृपा से जो दीक्षा-बीज राम ठाकुर को आधार के रूप में प्राप्त कर पुष्पित और फलित हुआ है, उसे भी उन्होंने अपने कुछ चिह्नित शिष्यों के भीतर नये सिरे से प्रतिष्ठित करना शुरू कर दिया है। कुछ भाग्यवानों को उनसे बीज-मंत्र की दीक्षा भी यथासमय प्राप्त हो गई। जन-साधारण के लिए श्री राम ठाकुर का कृपामय रूप नाम-संकीर्त्तन के रूप में प्रकाशित हो रहा है। नाम-मंत्र का दान वे उदारतापूर्वक करते रहे। आश्रय-प्रार्थी भक्तों के लिए उन्होंने एक ऐसी सहज व्यवस्था प्रवर्त्तित कर दी, जिसमें निगूढ़ यौगिक अनुष्ठान, तांत्रिक साधना और कठोर तपस्या की दु:साध्यता न थी। नाम-धर्म और सत्यनारायण-पूजा का प्रचार जन-समाज के बीच श्री श्रीराम ठाकुर के द्वारा बड़े पैमाने पर प्रचारित हुई। एक सहज उदार और सार्वजनिक धर्माचरण का सरल पथ उन्होंने जन-समाज में शनैः-शनैः प्रशस्त कर दिया।

ठाकुर महाशय द्वारा प्रचारित सार्वजनिक धर्मादर्श और साधन-पथ के सम्बन्ध में डा० प्रभातेश चक्रवर्त्ती ने इस प्रकार लिखा है—

"ठाकुर महाशय कहते हैं, 'नित्य वस्तु किंवा स्वभाव-स्वरूप की प्राप्ति न करने पर दुःख से छुटकारा पाने का कोई दूसरा उपाय काम नहीं आता। अपनी कर्तृत्व-बुद्धि का यदि पूरे तौर पर विसर्जन नहीं हो गया हो, तो शान्ति को प्राप्त करना असम्भव है। नित्य वस्तु क्या है? जिसे किसी प्रकार से कभी भी त्यागा नहीं जा सके, वही तो है नित्य। जिसे पा लेने पर पाप-ताप, दुःख-यंत्रणा और भय आप हो भाग जायें, वही तो है नित्य। इस नित्य की उपासना ही धर्म है। प्राण नित्य है, क्योंकि उससे अलग होकर एक मुहुर्त्त के लिए भी रहा नहीं जा सकता। यही प्राण जगत् का आश्रय है। उसकी क्रिया और स्पन्दन में कभी कोई विराम नहीं। प्रत्यक्षतः सिद्ध नित्य-तत्त्व प्राण-देवता की इसीलिए उपासना करनी होगी। बिना किसी का आश्रय लिये किंवा अवलम्बन किये साधन-भजन में अग्रसर होना संभव नहीं होता। यह आश्रय कौन हो सकता है? वही, जो सबके आश्रय हैं, सर्वभूतों के प्राण हैं एवं सर्वत्र व्याप्त हैं। उन्हीं का आश्रय लेना होगा। इसीलिए वैष्णवों ने कहा है—'आश्रय को जो भजे वाको कृष्ण नाहि तजे'। सर्वाश्रय स्वरूप भगवान की कथा राम ठाकुर महाशय बारंबार सुनाया करते। कहते—इस आश्रय को ही तो उपनिषदों ने कहा है—'सर्वलोक-प्रतिष्ठितः।'

अति स्वाभाविक भाव से नितान्त स्वकीय जन की भाँति ठाकुर महाशय अपने भक्तों को अपनी ओर खींच लिया करते। अपने सान्निध्य, सहचार और समत्व के बीच खींच कर धीरे-धीरे उन्हें रूपान्तरित कर देते। ऐसे भक्तों को उपलक्ष्य बनाकर शक्तिधर महापुरुष श्रीराम ठाकुर के जीवन में कभी-कभी अलौकिक योगैश्वर्य का प्रकाश दिखाई देता। ऐसा इतना अधिक बार हुआ कि उसकी गणना संभव नहीं।

ब्रह्मवेत्ता महापुरुष श्रीराम ठाकुर के जीवन में योग-विभूतियाँ किंकरी की भाँति सर्वदा परिचर्या के हेतु तत्पर रहा करतीं। दूसरी ओर, महापुरुष के कौशल और तत्परता में भी कभी चूक न होती। वे अपनी अपरिमेय योग-विभूति को लोक-दृष्टि से प्रच्छन्न रखने के लिए निरन्तर सावधान और तत्पर रहा करते। इस सावधानता और तत्परता के बावजूद बीच-बीच में ऐश्वर्य की लीला अजाने और अनायास ही प्रकट हो जाया करती। कहना न होगा कि ऐसा तभी होता, जब लोक-कल्याण का प्रयोजन और शिष्यों तथा भक्तों के प्रति उनकी अपरिमेय करूणा को योगैश्वर्य के सहारे चरितार्थता पानी होती।

उस बार राम ठाकुर आसाम अञ्चल के कुलाउड़ा नामक स्थान पर जा-पहुँचे। उनके रहने की व्यवस्था की गई श्रद्धालु भक्त अविनाश बाबू के घर में। पूरा दिन दर्शनार्थियों की भीड़ के मारे घनिष्ठ भक्तों को साँस लेने की भी फुर्सत नहीं मिल पाती। तभी शाम होते ही ठाकुर महाशय को चारों ओर से घेरकर वे बैठ जाया करते। अनेक वृत्तान्तों और कथाओं के प्रसंग में प्रश्नोत्तर का क्रम तब तक चलता रहता, जब तक कि रात भींग नहीं जाती। और इतनी रात हो जाने पर उतने भक्तगण जायँगे तो कहाँ? अन्तरंग भक्तों ने निश्चय किया कि ठाकुर महाशय के सोने के कमरे के पास ही थोड़ी देर के लिए हाथ-पाँव फैलाकर रात व्यतीत कर ली जायगी।

ठाकुर महाशय आँखें बंद कर बिछावन पर लेट गये हैं। भर दिन के परिश्रम से थके सेवकों और भक्तों की मण्डली भी सोने का उद्योग कर रही है। अचानक दोपहर रात की नीरवता को बेध कर ठाकुर महाशय के मुख से एक रहस्यमय करुण चीख निकली—'पञ्जाबी!'

लोगों ने विस्मय के साथ ठाकुर महाशय की ओर देखा, मगर उस शब्द के सिवा उनके जगे होने का कोई दूसरा लक्षण दिखाई नहीं पड़ा। निकट जाकर भक्तों ने देखा कि राम ठाकुर करवट बदलकर गहरी नींद में, पुनर्वार डूब गये हैं।

उस समय उक्त घटना को महत्त्व देना भक्तों को आवश्यक नहीं जान पड़ा। वे लोग भी अपनी-अपनी जगह पर जाकर सो गये।

दूसरे दिन मध्याह्न वेला में साहबी लिवास में सज्जित एक नौजवान वहाँ आकर उपस्थित हुए और ठाकुर को भक्तिपूर्वक वारम्वार प्रणाम करने लगे। फिर प्रणामी नजराने के तौर पर कुछ रुपये हाथ में लेकर ठाकुर महाशय के सामने वे खड़े हो गए और उनकी ओर निर्निमेष दृष्टि से देखने लगे।

आगन्तुक तरुण, जाति के हिसाब से, खत्री हैं और पंजाब के निवासी हैं। इस शहर में वे सरकारी निर्माण-कार्यों में ठेकेदार की हैसियत से जीविका में लगे हैं। जब ठाकुर महाशय थोड़ी देर के लिए घर से निकल कर किसी ओर चले गये, तो आगन्तुक तरुण ने कल रात की एक अद्भुत घटना समुपस्थित भक्तों को सुना दी। कथा सचमुच अद्भुत थी।

वह वृत्तान्त इस प्रकार था—"रात के लगभग बारह बजे हैं। थोड़ी ही दूर पर आँखों के सामने नदी बह रही है और उस पर लोहे का एक अति विशाल पुल है। इसी पुल पर होकर उस पञ्जाबी नौजवान को डेरे पर लौटना था। कार्य की व्यस्तता को भुलाने की गरज से दिन भर में कई बार कई पेग शराब चढ़ाते रहने के कारण नशे की बेहोशी भी कम प्रचण्ड नहीं

है। इसी मत्त दशा में पुल को पार करना आवश्यक हो गया है। अचानक मध्य धारा के पुल पर पहुँच कर शिर चकरा गया। पाँव ने भी साथ नहीं दिया। बीच नदी के गहरे पानी में नशे की हालत में ही तरुण पञ्जाबी अजाने ही गिर पड़े। यह समझने में एक क्षण का भी विलम्ब नहीं लगा कि जीवित बचने का कोई उपाय नहीं था। इसके बाद क्या हुआ, सो पञ्जाबी नौजवान की समझ में नहीं आया।

'कुछ देर तक बेहोश रहने के बाद जब संज्ञा-लाभ हुआ, तब उन्हें पता चला कि घुटने भर पानी में वे सकुशल खड़े हैं। यह बात भी आश्चर्यजनक ही थी, क्योंकि उस नदी की धारा और पुल से दैनन्दिन परिचय के कारण उन्हें यह मालूम था कि जहाँ वे खड़े हैं, वहाँ नदी के जल की गहराई चालीस फुट से तनिक भी कम नहीं होनी चाहिए। उन्हें न तो इसका पता चला कि पुल से वे कब नीचे आ-गिरे और जल की उतनी गहराईवाली जगह में पाँव रखने की जगह किस तरह सुलभ हो गई। इस विचित्र स्थिति पर वे खड़े-खड़े चकित होते रहे।

'अन्धकाराच्छन्न नदी की ओर निरुपाय दृष्टि से देखते थोड़ी देर तक वे और खड़े रहे। उद्धार का कोई उपाय सोच पाना उनके लिए सम्भव न था। ऐसे समय में अचानक एक छोटी-सी नाव लेकर एक अपरिचित माँझी वहाँ आ-पहुँचा। उसने आग्रहपूर्वक पंजाबी नौजवान को नाव में बैठा लिया और नाव खेकर उन्हें किनारे तक पहुँचा कर उतार दिया।

'पञ्जाबी नौजवान के विस्मय की सीमा तब भी नहीं रही। भला इतनी रात को यह माँझी कहाँ से आ गया और किनारे पर पहुँचा कर अचानक नौका के साथ गायब कैसे हो गया! सभी घटनाएँ एक-से-एक अद्‌भुत रहस्य से भरी जान पड़ीं। यह भी आश्चर्यजनक ही है कि उद्धार करनेवाले उस नाविक से उसका नाम पता पूछना भी वे भूल गये थे।'

पञ्जाबी नौजवान की गत रात्रि की कहानी सुनकर ठाकुर महाशय के भक्तों को रात की घटना याद हो आई। अचानक ठाकुर महाशय पञ्जाबी का नाम लेकर क्यों चीख पड़े थे, इस प्रश्न का उत्तर उन्होंने पा लिया था।

ठाकुर महाशय की कृपा-लीला की कथा याद कर पञ्जाबी नौजवान की आँखों से कृतज्ञता के आँसू बहते रहे। वे अश्रु-रुद्ध कण्ठ से ठाकुर महाशय के प्रति अपनी सजल कृतज्ञता बारम्बार निवेदित करने लगे।

कुछ समय बाद ठाकुर महाशय आसाम के लेडू नामक स्थान पर अवस्थान कर रहे थे। उनके ठहरने की व्यवस्था थी एक श्रद्धालु भक्त श्री नन्दलाल बाबू

के घर पर। वहाँ ठाकुर महाशय को पाकर दर्शनार्थियों और तत्व-जिज्ञासुओं की भीड़ प्रतिदिन उल्लसित होती रही।

ठाकुर महाशय के वहाँ पहुँचने के कुछ दिन पहले से ही थोड़ी दूर पर स्थित एक पहाड़ी से विकट चीत्कार रह-रह कर सुनाई पड़ता था। वह चीत्कार किसी मानव का था या किसी विकराल वन्य जन्तु का, यह बात समझ में नहीं आती थी। लोगों को यह भी पता नहीं था कि पहाड़ी के किस हिस्से से आवाज आ रही थी।

ठाकुर महाशय के लेदू पहुँच जाने के बाद से वह रहस्यमय चीत्कार और भी तीव्र होता चला गया।

ठाकुर महाशय ने अपने भक्तों को बुलाकर कहा कि 'इस पहाड़ी पर एक विशिष्ट साधक निवास कर रहे हैं। यहाँ वे आना चाहते हैं। वे जिसी समय आयें, उन्हें मेरे पास तुरत ले आना।'

ठाकुर महाशय के इस कथन के कुछ ही देर बाद एक भीमकाय पुरुष विकट चीत्कार करते हुए नन्दलाल बाबू के मकान के पास चले आये। उनका आकार-प्रकार जैसा डरावना था, उनकी वेश-भूषा भी उतनी ही भयावनी थी। लम्बा-चौड़ा विशाल शरीर अन्धकार की तरह कृष्ण वर्ण का था। दो बड़ी-बड़ी लाल आँखें भी वैसी ही भयंकर लग रही थीं। शिर के बाल उलझे हुए थे। वस्त्र के नाम पर केवल एक लँगोटी थी। दोनों कानों में हड्डी के बने कुण्डल झूल रहे थे। गले में भी अस्थि-खण्ड की ही माला थी। देखने से सहज ही आभास होता था कि वे कोई अघोर पन्थी या वामाचारी तांत्रिक हैं।

मकान के पास आकर उस अद्‌भुत साधक पुरुष ने गर्जन करते हुए कहा, "मेरा नाम चैतन है। मैं ठाकुर रामचन्द्र के साथ मिलना चाहता हूँ।"

उनके कहने भर की देर थी कि राम ठाकुर महाशय के पास उन्हें भक्तों के द्वारा ले जाया गया। वह भीमकाय साधु ठाकुर महाशय के चरण प्रान्त में साष्टाङ्ग दण्डवत् करते हुए लेट गये। प्रणाम और स्तुति करने के बाद साधक महाशय ने चैन की साँस लेते हुए कहा, "आज चतन को मुक्ति मिल गई।"

आश्चर्य की बात यह थी कि आगन्तुक साधक के साथ ठाकुर महाशय की कोई बातचीत नहीं हुई। दोनों आमने-सामने मौन भाव से अवस्थित रहे। इसके बाद साधक महाशय शिर झुकाकर वहाँ से चुपचाप चले गये।

विस्मित भक्तों का कुतूहल शान्त करने के लिए, तांत्रिक साधक के चले जाने के बाद, ठाकुर महाशय ने सिर्फ इतना ही कहा—"ये चैतन एक महान् शक्तिधर पुरुष हैं। आज इन्हें इनका अभीष्ट प्राप्त हो गया।"

एक ऐसी ही घटना ठाकुर महाशय की जन्मभूमि डीङ्गामानिक के निकटवर्ती गाँव स्वर्णखोला गाँव की है। वहाँ कालिदास कूँड़ि नामक एक भक्त निवास करते थे। जिस समय वे कलकत्ता शहर में थे, उन्हें सांघातिक ज्वर ने शय्याग्रस्त कर दिया था। डाक्टरों ने चिकित्सा में कोई कसर नहीं छोड़ी। मगर, रोगी की हालत दिन-दिन बिगड़ती ही चली गई।

कालिदास कूँड़ि उस हालत में भी कमजोर आवाज में बारंबार एक ही बात दुहरा रहे हैं—"पता चला है कि राम ठाकुर महाशय इस समय इसी शहर में कहीं ठहरे हुए हैं। तुमलोगों में से कोई जरा उनके पास जाओ, ताकि उनके चरणों के दर्शन कर सकूँ। यदि ऐसा न होगा, तो मैं शान्तिपूर्वक शरीर-त्याग नहीं कर सकूँगा।"

किसी व्यक्ति को ठाकुर महाशय के पास भेजा भी गया। उस व्यक्ति के मुख से रोग-ग्रस्त कालिदास कूँड़ि की आतुरता और अन्तिम इच्छा सुन लेने के बाद ठाकुर महाशय बोले—"ठीक है, तुम जाओ। मैं कभी आकर उसे देख लूँगा।"

लेकिन दूसरे दिन भी ठाकुर महाशय को किसी दूसरे कार्य में ही व्यस्त देखा गया। कालिदास कूँड़ि के आत्मीय स्वजन और बन्धु-बान्धव की निराशा और निरुपायता की कोई सीमा न थी। लोगों को आश्चर्य तब हुआ, जब अन्तिम निःश्वास छोड़ने के पहले रोगी ने अचानक जोर से कहा—"अजी! तुमलोग जरा रास्ता छोड़ दो। हमारे ठाकुर महाशय आ रहे हैं। आखिर उन्होंने यहाँ आने की कृपा कर दी।"

मृत्यु की प्रतीक्षा में कुम्हलाये हुए भक्त की आँखों में दिव्य आनन्द की छटा उद्भासित हो उठी। इसके थोड़ी ही देर बाद वह चिर निद्रा में सदा के लिए निमग्न हो गया।

कालिदास कूँड़ि की जिस दिन मृत्यु हुई, उसके एक दिन बाद किसी भक्त ने ठाकुर महाशय के प्रति उपालम्भ और दुःख प्रकट करते हुए कहा—"हाय! कालिदास बेचारे की बड़ी इच्छा थी कि मरने के पहले वह आपके चरणों के दर्शन कर ले। आपने भी वहाँ जाकर उसे देख लेने का आश्वासन संवादवाहक को दिया था, किन्तु वैसा कुछ हुआ नहीं।"

ठाकुर महाशय ने शान्त स्वर में उत्तर दिया—"मैं तो कल कालिदास की रोग-शय्या के पास उपस्थित हुआ था। मैंने उसे और उसने मुझे देख भी लिया।"

अब लोगों को पता चला कि भक्त कालिदास की अन्तिम इच्छा ठाकुर महाशय ने सचमुच पूरी कर दी थी। भले ही अन्य लोगों ने न देखा हो, लेकिन अपरिमेय योगशक्ति के बल पर ठाकुर महाशय कालिदास कूँड़ि का सिरहाने में सूक्ष्म शरीर से उपस्थित अवश्य हुए थे और मुमूर्षु ने उनके दर्शन कर लेने के बाद ही शरीर-त्याग किया था।

अजमेर के सेठ शिवराम और उन की पत्नी दुर्गामणि के जीवन में ठाकुर महाशय का अवतरण भी बड़े अलौकिक ढंग से हुआ था। सेठ दम्पति के घर में धन-दौलत और सुख-ऐश्वर्य की कोई कमी न था। पुत्रों और कन्याओं की भी कमी नहीं थी। दिन बड़े आनन्द से कट रहे थे। एक दिन अचानक सेठजी की इच्छा हुई कि पत्नी को साथ लेकर एक फोटो खिचवा लेना चाहिए। परिणत वयस में दाम्पत्य जीवन की मधुर छवि को चित्र के रूप में जुगा रखना उन्हें अचानक ही आवश्यक जान पड़ा था।

एक बड़े शहर से कुशल फोटोग्राफर को बुलाया गया। काफी कला-कौशल का प्रदर्शन करके दम्पति का फोटो उसने यंत्र के सहारे खींचा, किन्तु जब फोटो निगेटिव से उतारे गये चित्र को रासायनिक क्रिया के द्वारा धोकर साफ किया जाने लगा, तो एक विचित्र छवि देखी गई। पति और पत्नी दोनों के चित्र तो थे ही, लेकिन दोनों के बीच में खड़े थे एक अपरिचित पुरुष। उन्हें पति-पत्नी दोनों में से एक भी नहीं पहचानते थे। ये बीच में कहाँ से आ गये, यह प्रश्न उठा। दोनों ही सोचने लगे कि इस व्यक्ति को कहीं देखा भी हो, तो अब स्मरण नहीं है।

इसके बाद दोनों के मन में उस पुरुष के प्रति दुर्निवार आकर्षण दिन-ब-दिन प्रबल होने लगा। रह-रहकर उनकी आकृति आँखों के सामने प्रकट हो जाती और उन्हें गम्भीर भाव में तन्मय कर देती। उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा कि चित्र में जिस पुरुष की आकृति अनायास आ गई है, वे उन दोनों के परम हितैषी कोई सिद्ध महापुरुष हैं। जन्म-जन्मान्तर के किसी पुण्य के फलस्वरूप वह आकृति आप ही उभर आई है, ऐसा मान लेना उनके लिए अनिवार्य हो गया।

धीरे-धीरे सेठ दम्पति के हृदय में बड़ी तीव्र भावना जग पड़ी कि उक्त पुरुष को किसी भी उपाय से कहीं-न-कहीं जाकर अवश्य ढूँढ़ लेना चाहिए।

घर के परिजन और बन्धु-बान्धव सेठ दम्पति के इस नवीन संकल्प को सुन-कर चकित हो उठे। उन्हें इस खब्ती से कठिनाई होने लगी। मगर सेठ दम्पति को उस संकल्प से डिगा पाना उनके लिए संभव नहीं हुआ। अन्ततः एक

दिन तीर्थ-यात्रा का कार्यक्रम बनाकर सेठ शिवराम अपनी पत्नी के साथ घर से बाहर निकल पड़े और उक्त अलौकिक महापुरुष के अनुसन्धान में संलग्न हो गये। वे जहाँ जाते, फोटो में अंकित महापुरुष की आकृति से मिलती-जुलती आकृति का पता आस-पास के लोगों से पूछते। संधान न मिलने पर भी निराश नहीं होते। यही काम उनके लिए ज्ञान और ध्यान का स्थायी विषय बन गया।

दीर्घ काल तक इस प्रकार के स्मरण, मनन और निदिध्यासन के कारण सेठ दम्पति के लिए उक्त महापुरुष अन्ततः आराध्य और इष्ट बन बैठे। तीर्थ-स्थानों में दर्शन, पूजा और ध्यान के बाद उस चित्र को निकाल कर एक बार देख लेना उन दोनों के लिए आवश्यक हो जाता। चित्र को देखने के बाद उनकी आँखों से अनायास ही प्रेमाश्रु बहने लगते। इस प्रकार तीर्थयात्रा के मार्ग में ही लगभग पन्द्रह वर्ष व्यतीत हो गये, किन्तु उक्त महापुरुष को ढूँढ़ पाना उनके लिए संभव नहीं हुआ।

बुढ़ापे की उम्र में घर छोड़कर दिन-रात यात्रा-पथ पर संलग्न रहना किस तरह और कबतक संभव है, यह प्रश्न एक दिन सेठजी के मन में उठा, तो हार कर वे स्त्री-सहित काशी में ही बस जाने का निश्चय कर चुके थे। काशी में उनका नित्यकर्म था बड़े तड़के उठकर गंगा-स्नान और तर्पण कर लेना। इसके बाद जप-ध्यान के पश्चात् भोजन कर सेठजी अपनी पत्नी के साथ उसी चित्रवाले महापुरुष की खोज में काशी की गली-गली को भर दिन छानते रहते। इसी तरह समय व्यतीत होने लगा।

काशी-वास में भी अनेक वर्ष व्यतीत हो गये। सेठ दम्पति की आशा टूटने लग गई है। अब तो उनके वृद्ध शरीर में इतनी भी सामर्थ्य नहीं है कि वे पैदल गंगा-तट तक जा सकें। गंगा-स्नान करने के लिए भी अब उन्हें पालकी का सहारा लेना पड़ रहा है, मगर आश्चर्य की बात है कि निराशा और श्रान्ति से भरे बुढ़ापे की अवस्था में ही एक दिन गंगा-तट के मार्ग में उन्हें वह महापुरुष अनायास दिखाई पड़ गये। ठीक उसी तरह से, जिस तरह कि अनायास और अजाने ही वे एक दिन चित्र में अंकित हो गये थे। सेठ दम्पति यह देखकर आनन्द से विह्वल हो गये कि उन दोनों के फोटोग्राफ में जो महापुरुष अदृश्य होकर अवतीर्ण हो आये थे, वे ही उन दोनों के सामने दृश्य शरीर के साथ खड़े हैं। बाद में उन्हें यह भी पता चला कि यह महापुरुष कोई अन्य व्यक्ति नहीं, स्वयं राम ठाकुर ही हैं।

दोनों पति-पत्नी पालकी से उतर कर ठाकुर महाशय के चरणों पर लेट गये। उनकी रुलाई और आनन्द के अश्रु रुकना ही नहीं चाहते। इस दृश्य

को देखने के लिए काशी की उस गली में भीड़ इकट्ठी हो गई। सेठ दम्पति की अभीष्ट-सिद्धि तो हो गई, पर महापुरुष के चरणों को छोड़कर उन्हें वापस लौटते नहीं देखा गया। बाद में पता चला कि सेठजी पत्नी के सहित वहीं दण्डवत् मुद्रा में लेटे-लेटे शरीर का त्याग कर चुके हैं। ठाकुर महाशय का दर्शन प्राप्त करना उनके जीवन का चरम अभीष्ट था। उस अभीष्ट-पूर्त्ति के पश्चात् उनके प्राक्तन कर्म-भोग की घड़ी निःशेष हो गई और उन्हें महापुरुष की कृपा से मुक्ति प्राप्त हो गई।

ठाकुर महाशय ने स्वयं मणिकर्णिका घाट पर जाकर धीर और निर्विकार चित्त से अपने हाथों सेठ दम्पति के मृत शरीर का अग्नि-संस्कार सम्पन्न किया। अन्त्येष्टि हो जाने के पश्चात वहाँ से चुपचाप उठकर वे देखते-देखते ही कहीं चले गये। जैसे उन्हें किसी ने आते नहीं देखा था, वैसे ही अन्तर्धान होने के पश्चात् भी वे काशी में फिर देखे नहीं गये।

सेठ शिवराम और उनकी पत्नी दुर्गामणि देवी की निष्ठा, आत्म-समर्पण और इष्ट के प्रति एकात्मता की यह कथा काशी में कानोंकान फैल गई। राम ठाकुर के द्वारा शरणागतों पर की जानेवाली कृपा की ऐसी अगणित कथाएँ अब तक लोक-प्रचलित हैं।

ठाकुर महाशय के भक्त आचार्य इन्द्रभूषण वन्दोपाध्याय ने अपने अनुभव के आधार पर एक अन्य मनोरम वृत्तान्त का विवरण दिया है। एक दिन की घटना है कि शाम होने से पहले ही इन्दु बाबू का शिशु-पुत्र कहीं खो गया। कलकत्ते के लिए इन्दु बाबू का परिवार हर दृष्टि से नवागत था। घाट-बाट का कोई पता परिवार के किसी सदस्य को उस समय तक ठीक-ठीक न था। घर के सभी लोग बच्चे के खो जाने से चिन्तित थे। चारों तरफ दौड़-धूप जारी हो गई।

राम ठाकुर उन दिनों पड़ोस के ही एक भक्त के घर पर वहीं ठहरे थे। इस संकट की कथा उन तक पहुँचा दी गई, तो उन्होंने कहा, "डरने की बात नहीं है। थोड़ी-सी खोजबीन होते ही बच्चा मिल जायगा।"

इन्दु बाबू इतने चिन्तित हो गये थे कि तमाम दैनिक पत्रों में बच्चे के खो जाने की खबर छपवा दी गई। थाना-पुलिस को भी सूचना दी गई और घाट-बाट में खोज करनेवालों को भी हर ओर भेजा गया। अर्थात् पिता की ओर से हर उपाय का सहारा पुत्र को खोजने के क्रम में लिया जा चुका था।

इसी बीच एक भद्र पुरुष को खोया हुआ बच्चा रास्ते में कहीं दिखाई पड़ गया। पूछताछ करने पर पता चला कि राह भूल जाने के कारण वह अबोध

बालक जहाँ-तहाँ भटक रहा है। वे उस बच्चे को लेकर पास के थाने पर गये और वहाँ बच्चे को रख आये। दूसरे दिन अखबार में बच्चे के खो जाने का विज्ञापन देखकर वह भद्र पुरुष इन्दु बाबू के घर पर भी जा पहुँचे और उन्हें पूरी बात बतला दी। इस तरह खोया हुआ पुत्र इन्दु बाबू का पुनः प्राप्त हो गया।

वन्दोपाध्याय महाशय ने इस वृत्तान्त के प्रसंग में इस प्रकार लिखा है—

"बच्चे को खिला-पिला कर पलंग पर लिटा देने के बाद उसकी माँ ने बच्चे से पूछा, 'क्योंजी ! तुम इतनी दूर राह में जहाँ-तहाँ भटकते रहे ! क्या तुम्हें भय नहीं हुआ ?' उत्तर में बच्चे ने कहा, 'डर क्यों होता ? ठाकुर महाशय तो मेरे साथ-ही-साथ चल रहे थे। जहाँ राह में बड़ी भीड़ रहती, वहाँ मेरा हाथ पकड़ कर वह इस पार से उस पार मुझे खुद पहुँचा देते थे। हाँ, राह में जब एक भद्र पुरुष ने मुझसे पूछताछ की और मुझे वे अपने साथ ले गये, तभी से ठाकुर महाशय कभी दिखाई नहीं पड़े हैं।' जितनी बार भी पूछताछ की गई, बच्चे ने यही उत्तर दुहरा दिया। पाँच वर्ष का छोटा-सा बालक बात बनाकर ठाकुर महाशय की महिमा का बखान कर रहा होगा, ऐसा सोचना कल्पनातीत है। इसलिए यह निश्चत हो गया कि स्वयं ठाकुर महाशय बालक के साथ-साथ रहकर अदृश्य भाव से रास्ते में उसकी रक्षा करते रहे और भद्र पुरुष के पहुँच जाने पर वे आश्वस्त हो गये कि अब बच्चे की रक्षा स्वतः हो जायगी। इसके बाद ही वे वहाँ से गायब हो गये होंगे। कहना न होगा कि बच्चे को उक्त प्रकार से संरक्षण देने के बावजूद वे सशरीर उस घर में भी साथ-साथ मौजूद थे, जिस घर में उनके मति बाबू अपने डिक्शन लेने वाले मकान में उन दिनों रहा करते थे।

ठाकुर महाशय के एक अनन्य भक्त थे प्रभात चक्रवर्ती। एक बार उनके घर पर भी ठाकुर महाशय का अलौकिक आविर्भाव हुआ था और इन्दु बाबू उसके प्रत्यक्षदर्शी थे। उन दिनों प्रभात बाबू के घर के तीन सदस्य सांघातिक चेचक रोग से आक्रान्त हो चुके थे। घर के बाहर बैठक में बैठ कर इन्दु बाबु और प्रभात बाबू उसी प्रसंग में चिन्ताकातर हो रहे थे। बीच-बीच में रोगियों के उपचार के प्रसंग में भी बातचीत चल पड़ती थी। इसी बीच देखा गया कि ठाकुर महाशय सदर दरवाजे से अहाते के भीतर बैठकर बरामदे को पार करते हुए सीधे अन्दर चले गये।

अन्तःपुर में प्रभात बाबू की पत्नी तीनों रोगियों की परिचर्या में संलग्न थीं। दीवार के ऊपर वहीं ठाकुर महाशय की एक फ्रेमदार प्रतिच्छवि

उनके सामने लगी थी, जिसका ओर भी वे रह-रहकर देख लेती थीं। जब ठाकुर महाशय, को अचानक आविर्भूत होते हुए देखकर वे उनके बैठने का आसन लाने आँगन की तरफ गईं, तब उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि ठाकुर महाशय सहसा गायब हो गये हैं। सोचने लगीं, 'क्या ठाकुर महाशय केवल रोगियों को दर्शन देने के लिए ही अचानक आ गये थे?' हाथ में आसन लिये वह खड़ी-खड़ी विमूढ़ भाव से इसी प्रश्न पर विचार करती रहीं।

ठाकुर महाशय को घर के भीतर प्रवेश करते हुए इन्दु बाबू और प्रभात बाबू ने भी देखा था, इसलिए वे लोग भी दौड़ कर भीतर पहुँच गये। आखिर ठाकुर महाशय के लिए उपयुक्त अभ्यर्थना की व्यवस्था उन्हें भी तो करनी थी! लेकिन अचानक क्या हो गया। चारो तरफ निगाह दौड़ाने पर भी ठाकुर महाशय को वे भीतर के कमरों में कहीं खोज नहीं पाये।

इस वृत्तान्त के प्रसंग में भी इन्दु बाबू ने कुछ मनोरंजक पंक्तियाँ लिखी हैं—

"आँगन से लौटकर हमलोग फिर बरामदे पर आ-बैठे और ठाकुर महाशय के अलौकिक आविर्भाव और अन्तर्धान पर विचार करने लगे। हमारे मित्र के भानजे ने उस रोगाक्रान्त अवस्था में ही ठाकुर महाशय को दरवाजे से होकर भीतर आते हुए देखा था। इसलिए ऐसा तो नहीं कहा जा सकता कि एक ही समय में पाँच व्यक्तियों को एक ही जैसा भ्रम हो गया था! फिर हम लोगों ने उन्हें खुली निगाहों के सामने स्पष्ट आते हुए देखा भी तो था। इसलिए यह मानना ही पड़ेगा कि ठाकुर महाशय उस स्थान पर सशरीर उपस्थित अवश्य हुए थे, भले ही उनका आना-जाना पूरे तौर पर अलौकिक रहा हो।

"बाद में पता चला कि जिस समय अद्भुत घटना घटित हुई, उस समय ठाकुर महाशय हरिद्वार में अवस्थान कर रहे थे। दूसरे ही दिन उन्हें पत्र लिखकर घटना का ब्योरा दिया गया। पत्रोत्तर मिलने पर पता चला कि जिस घड़ी उक्त घटना घटित हुई थी, उस घड़ी में भी ठाकुर महाशय हरिद्वार में ही अपने भक्तों के बीच बैठे वार्तालाप कर रहे थे। वहाँ से उनका कहीं आना-जाना नहीं हुआ था। कोई-कोई महापुरुष एक ही समय में अनेक स्थानों पर विद्यमान देखे गये हैं। योग-विभूति के सम्बन्ध में ऐसा लोक-प्रवाद अश्रुतपूर्व नहीं कहा जा सकता। इसलिए अपने भक्त के घर में ठाकुर महाशय उस समय दिव्य शरीर से अवश्य ही आविर्भूत हुए होंगे, ऐसा न मानने का कोई उचित कारण हमें नहीं जान पड़ा।"

बाद में पता चला कि सांघातिक रोग से ग्रस्त तीन जनों के जरिये छूत फैलने के डर से प्रभात बाबू की पत्नी बेतरह घबरा गई थीं और उन्होंने आर्त्त होकर मन-ही-मन ठाकुर महाशय के प्रति परित्राण की गुहार की थीं। लोगों को, इसीलिए, यह अनुमान कर लेने की सुविधा थी कि ठाकुर महाशय के उस अद्भुत आविर्भाव का कारण वे प्रभात बाबू की पत्नी की उसी आर्त्त प्रार्थना को मान लें।

उस आविर्भाव के रहस्य के सम्बन्ध में कुछलोगों ने, बाद में ठाकुर महाशय से भी प्रश्न किया था। ठाकुर महाशय ने हँस कर केवल इतना कहा, "इस तरह की बात तो हुआ ही करती है।"

राम ठाकुर ब्रह्मज्ञ के रूप में विश्रुत महापुरुष थे। योग और तंत्र के शिखर पर वे अधिष्ठित हो चुके थे। साधक जीवन की उच्चतम ऋद्धि-सिद्धि वे हस्तगत कर चुके थे। इसीलिए उनके जीवन में वारंवार आश्चर्य-जनक विभूति-लीला के दृष्टान्त उपस्थित होते रहे। आर्त्तजन का क्रन्दन जब उनके हृदय को आघात देता, तब शक्तिधर महापुरुष की अद्भुत ऐश्वर्य-विभूति परित्राण बन कर प्रकट हो जाया करती। इस प्रकार जाने-अजाने खेल-कौतुक के रूप में ही अनेक शरणागत जन को उनकी कृपा से मुक्ति और शान्ति प्राप्त होती रही।

लोकोत्तर ऐश्वर्य और शक्ति से सम्पन्न महापुरुष का जन-साधारण के बीच एक दूसरा ही स्निग्ध-मधुर, करुण-सुन्दर मानवीय रूप देखा जा सकता था। इस मानवीय रूप में वे अपने भक्तों के परम बन्धु और आत्मीय सखा होकर ही प्रतीत होते थे। उस समय योग और तंत्र-सिद्धि की विभूति की विद्युच्छटा का पता नहीं चलता। सहज-सुन्दर प्रेम की धारा से भीगी हुई घनिष्ठता और हास-परिहास के द्वारा जीवन के सहज धरातल पर अपनापन प्रकट कर देना भी वैसी स्थिति में यथेष्ट हो जाता।

ठाकुर महाशय के इस मानवीय रूप में भी मधुरता, स्निग्धता और सहजता का एक ऐसा उज्ज्वल प्रकाश रहा करता, जो आश्रित जनों को आश्वस्त और प्रसन्न कर देने के लिए पर्याप्त था।

पंचू बाबू नामक एक सज्जन ठाकुर महाशय के बड़े वशंवद भक्त और सेवा-परायण अनुचर थे। जब भी मौका मिलता, वे ठाकुर महाशय की सेवा का अवसर हाथोंहाथ उठा लेने में सबसे आगे हो जाते। उस बार वे घूमते-घूमते ठाकुर महाशय के साथ ही वृन्दावन जा पहुंचे। वहाँ भक्तों और सेवकों की और स्थानों की तरह भीड़ ठाकुर महाशय के आसपास न थी।

इसलिए पंचू बाबू ने सोचा कि अच्छा मौका हाथ लगा है। जीभर कर सेवा करने का लाभ अकेले ही उठा लेना है।

लेकिन उनके मन की यह बात ठाकुर महाशय ताड़ गये। भोर होते ही उन्हें जोर-जबरदस्ती करके, यमुना के तट की ओर भेज दिया। यमुना-तट पर जाकर शीघ्र ही स्नान कर लेना चाहिए, नहीं तो धूप लगते ही बालू की धरती तवे की तरह जलने लग जायगी। ठाकुर की बात मानकर वे यमुना-तट पर चले तो गये, लेकिन लौट कर आये, तो सिर पर हाथ रखकर बैठ गये। देखा कि ठाकुर महाशय उनके लिए तरकारी पकाने में संलग्न हैं। साग-भाजी उसके पहले ही बना चुके हैं। इतना ही नहीं, स्थान को लीप-पोत कर भी साफ कर चुके हैं और भात की हाँड़ी भी चढ़ी हुई है। एक पतीली में पकी हुई दाल भी टम-टम शब्द कर रही है।

सेवा की इच्छा रखनेवाले उस भक्त का तो होश ही गायब हो गया क्योंकि उसे पता था कि ठाकुर महाशय स्वयं भोजन नहीं करते। कभी खजूर के एक-दो फल, कुछ मुनक्के प्रसाद के रूप में ग्रहण करके जल पी-लेना ही उनके लिए पर्याप्त है। वृन्दावन में यही क्रम अन्त तक चलता रहा। पंचू बाबू लाख-लाख चेष्टा करते, मगर उनका कोई वश चल नहीं पाता। ठाकुर महाशय रोज प्रातःकाल उन्हें यमुना स्नान करने के लिए भेज देते और जब तक वे लौटें, तब तक सारे कार्य अपने हाथों ठाकुर महाशय स्वयं सम्पन्न कर लेते। पंचू बाबू बड़े पराभव में पड़ गये। ठाकुर महाशय की सेवा करने की लालसा पूरी करने आये थे, मगर उलटे ठाकुर महाशय ही उनकी सेवा करते रह गये।

मगर पंचू बाबू की विपत्ति का अन्त इतने ही से नहीं हुआ। उस समय ग्रीष्म का समय था। धूप इतनी कड़ी थी कि दोपहर को घर से बाहर निकलना किसी के लिए सम्भव ही नहीं था। पंचू बाबू चाहते थे कि कोई ऐसी बात चला दी जाय कि ताप की वह वेला ठाकुर महाशय के साथ घर के भीतर ही व्यतीत हो जाया करे। कभी विराम पाकर थोड़ी देर के लिए दोपहर-वेला में सो जाना, सो भी वृन्दावन के ग्रीष्म की दुपहरी में, स्वाभाविक ही था। बीच-बीच में पंचू बाबू की आँखें, इसलिए लग जातीं और नींद की झपकी वे ले-लिया करते। ऐसी हालत में चौंक कर उठने के बाद वे अचानक देखते कि ठाकुर महाशय उनके सिरहाने में बैठे पंखा झल रहे हैं अथवा भींगे कपड़े से उनका शरीर पोंछ रहे हैं।

ठाकुर महाशय के हाथ से इस तरह सेवा लेना निश्चय ही पंचू बाबू-जैसे भक्त के लिए भयंकर अपराध है—ऐसा मानकर वे हतप्रभ और लज्जित हो जाया करते। बार-बार इच्छा होती थी कि वृन्दावन छोड़कर कहीं भाग जाऊँ, मगर ठाकुर महाशय को अकेला छोड़कर भाग जाना भी उनके लिए किसी प्रकार सम्भव नहीं हुआ।

एक दिन तो यह असमंजस और अधिक असह्य हो उठा। घर का नौकर बीमार हो गया था। आज शाम को वह काम करने न आएगा। ग्रीष्मकाल में वृन्दावन के गहरे कुँए से पानी खींचना अत्यन्त कठिन कार्य है। मुख्यतः इसी काम के लिए वहाँ नौकर की जरूरत सबको हो जाती है। ऐसी परि-स्थिति में पंचू बाबू करें तो क्या करें? रात के समय तो कोई कठिनाई नहीं होगी, क्योंकि ठाकुर महाशय केवल एक ग्लास जल ही पीकर सारी रात के लिए निश्चित हो जाया करते हैं। पंचू बाब भी रात में बाजार से तरकारी और पूड़ियाँ खरीदकर ले आते हैं और उसी से उनका काम चल जाता है। मगर दूसरे दिन सुबह के बाद जल की समस्या अवश्य विकराल हो उठेगी।

खोज-बीन करने के बाद पंचू बाबू ने देखा कि घर में रखे गये सभी घड़े जल से भरे हुए हैं और बाल्टियों में भी पूरा जल भरा है। यह देखकर उन्हें भरोसा हो गया कि इतना पानी तो कल मध्याह्न काल तक के लिए निश्चय ही पर्याप्त है। पंचू महाशय ने सोचा कि यदि नौकर कल समय पर पानी देने नहीं आया, तब भी आधे दिन का काम चल जायगा। बाद के लिए पानी भर लाने का काम वे किसी प्रकार स्वयं कर लेंगे। ठाकुर महाशय से जब उन्होंने यह बात कही, तो उनकी योजना का समर्थन उन्होंने भी प्रसन्नतापूर्वक कर दिया।

शाम होने पर पंचू बाबू डेरे से निकल कर बाजार की तरफ चले। थोड़ी ही दूर पर हलवाइयों की दूकानें हैं, जहाँ से लौटते समय वे अपने लिए तरकारी और पूड़ियाँ खरीद कर ले आवेंगे। जब बाजार से वे लौटे और घर में प्रवेश किया, तो भीतर का दृश्य देखकर वे हक्के-बक्के रह गये। देखते हैं कि ठाकुर महाशय इसी बीच घर के हर वर्तन में प्रचुर जल भर-कर घर की सफाई में लगे हैं। पंचू बाबू को देखते ही सब काम छोड़कर चुपचाप सिर झुकाकर बैठ गये, मानो किसी ने चोर को रँगे हाथों पकड़ लिया हो। पंचू बाबू देर तक खड़े-खड़े पछताते रहे, मगर मुँह से एक शब्द भी बोल पाना उनके लिए संभव नहीं हुआ।

ठाकुर महाशय के अन्तस्तल में अपने भक्तों, सेवकों और स्वजनों के प्रति जो अगाध प्रेम भरा था, उसको समझ पाने की शक्ति पंचू बाबू में तब तक

न थी। उन्होंने सोचा, 'भला ठाकुर महाशय ने जो जल भरा है, उसका उपयोग अपने लिए पंचू बाबू कैसे करेंगे ? क्या ठाकुर महाशय के भरे हुए जल से हाथ-पाँव धोना अपराध न होगा ?' सोचते-सोचते चिल्लाकर बोले—"यह जो इतना जल भरकर ले आये हैं, उसका क्या प्रयोजन था ? इतने जल से मेरा श्राद्ध होगा या आपका ?" ठाकुर महाशय सिर झुकाये चुपचाप खड़े रहे, मानो उनसे कोई अपराध हो गया हो। सारा जल फेंककर पंचू बाबू उन पात्रों को अपने भरे जल से रात भर जगकर भरते रहे।

दूसरे दिन वे ठाकुर महाशय को पकड़कर अपने साथ वापस कलकत्ता चले गये। कोई भक्त चाहे भी, तो ठाकुर महाशय की सेवा कैसे कर पायेगा ? वे तो कुछ करने ही नहीं देते ! पंचू बाबू ने रास्ते में बार-बार उनसे इतना ही पूछा, "आपकी सेवा करना मेरा धर्म था या मेरी सेवा करना आपका कर्त्तव्य ?" ठाकुर महाशय ने धीर स्वर में इतना ही कहा—"अरे, ऐसी बातों के लिए चिन्ता मत किया करो। इसमें कोई दोष नहीं है।"

ठाकुर महाशय को स्वयं तो कुछ भी खाने की आवश्यकता न थी, मगर भक्तों को मूँगफली खिला देने का उन्हें बेहद शौक था। डाक्टर इन्द्रभूषण वन्दोपाध्याय लिखते हैं—"उन दिनों ठाकुर महाशय हेदो नामक स्थान पर रहते थे। बेंच पर मैं भी उनके साथ बैठा था। एक मूँगफली बेचनेवाला उधर होकर गुजरा। ठाकुर महाशय ने कहा—'ये दो पैसे लो और मूँगफली खरीद कर ले आओ।' बाद में मूँगफली का पूरा ठोंगा उन्होंने मेरे सामने रख दिया। मूँगफली का एक दाना उन्होंने अपने मुख में भी रख लिया। शेष सभी मैं खा जाऊँ, यही उनका अभिप्राय था। मैं उनकी आज्ञा मानकर मूँगफली खाने में संलग्न हो गया। बीच-बीच में सोचता रहा कि इस तरह पास में बिठाकर मुझे मूँगफली खिलाने में ठाकुर महाशय को क्यों इतनी प्रसन्नता हो रही है। हृदय ने उत्तर दिया, 'भक्त के प्रति महापुरुष के अपनापन का यह भी एक तरीका ही रहा होगा।'

राम ठाकुर महाशय उस बार कलकत्ता आये, तो अपने एक भक्त के मेस में ठहर गये। कुछ दिनों तक वे निर्जन एकान्त में रहना चाहते थे, इसलिए अपने आने की खबर किसी को होने न दी। फिर भी दूसरे ही दिन अचानक एक नौजवान उनके पास आकर उपस्थित हो गया। उसने ठाकुर महाशय से एक भक्त-परिवार की विपत्ति की कथा सुनाई। भक्त के पास कुछ नकद जमा है, जिसे उसकी मृत्यु के बाद उसके परिवार के किसी व्यक्ति को तभी दिया जा सकता है, यदि कोई घनिष्ठ आत्मीय अथवा जिम्मेदार व्यक्ति उसकी पात्रता को अदालत में जाकर प्रमाणित कर दे।

युवक को तो लगता है कि अदालत में जाकर शिनाख्त करनेवाले सबसे अधिक उपयुक्त पुरुष ठाकुर महाशय ही हैं। इसका एक कारण तो यही है कि उस मृत व्यक्ति को ठाकुर महाशय बहुत दिनों से बहुत अच्छी तरह से जानते हैं और दूसरा कारण यह है कि पूरे बंगाल में ठाकुर महाशय से अधिक जिम्मेदार और अधिक प्रतिष्ठित व्यक्ति ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलेगा। युवक बड़ी देर तक इसके लिए ठाकुर महाशय से अनुरोध करता रहा। वह इतना सीधा और अजान था कि ठाकुर महाशय-जैसे व्यक्ति को अपने छोटे-से सांसारिक कार्य के लिए व्यस्त करने में किसी प्रकार के अनौचित्य का भान नहीं कर पा रहा था। ठाकुर महाशय भी अदालत जाकर शिनाख्त कर देने के लिए तुरत राजी हो गये। उन्होंने कहा, "यह काम मेरे अलावा कोई दूसरा करे, यह अच्छा भी तो नहीं लगता! चलो, कानून का यह मामला मैं ही चलकर निपटा देता हूँ।"

दूसरे दिन दस बजने के पहले ही ठाकुर महाशय जामा-कुरता पहन कर अदालत में पहुँच गये और उस युवक के इन्तजार में चहलकदमी करने लगे।

संयोग की बात थी कि ठाकुर महाशय के एक स्नेहास्पद भक्त डॉ० प्रभात चक्रवर्ती उसी समय वहाँ आ-पहुँचे। ठाकुर महाशय को वहाँ देखकर वे अत्यन्त विस्मित हुए। उन्हें पता न था कि भक्तों के प्रति असीम प्रेम के कारण ठाकुर महाशय को कैसे-कैसे कामों में हाथ डालने की जरूरत पड़ जाया करती है।

प्रभात बाबू को सामने देखकर ठाकुर महाशय सकपका गये। पता नहीं, अब यह एक-एक बात खोद-खोदकर पूछने लगेंगे और हर बात का उत्तर दे पाना ठाकुर महाशय के लिए क्या संभव हो पायगा?

प्रभात बाबू ने छूटते ही पूछा—"आप भला यहाँ इस समय क्या करने आये हैं?"

ठाकुर महाशय चुप रहे। प्रभात बाबू ठाकुर महाशय के बाल-सरल स्वभाव से परिचित थे। इसलिए कड़ककर उन्होंने कहा—"मैं पूछ रहा हूँ कि इस समय इस तरह सज-धज कर कहाँ जाने की तैयारी कर रहे हैं? जल्दी जबाब क्यों नहीं देते?"

ठाकुर महाशय से कोई उत्तर देते न बना। उनको चुप देखकर प्रभात बाबू का सन्देह और भी पक्का हो गया। वे बगल के एक घर में जाकर जोर-जोर से गर्जन करने लगे।

इसी बीच ठाकुर महाशय को अदालत के कठघरे में ले चलने के लिए वह नौजवान आ पहुँचा। उसनें प्रभात बाबू को अपना अभीष्ट साफ-साफ बता दिया। सुनते ही प्रभात बाबू आग-बबूला हो उठे। उन्होने बड़ी कठोर भाषा में युवक की भर्त्सना करते हुए कहा—"शरम नहीं आती है? अपनी गरज से इतने बेहाल हो कि इतने बड़े महापुरुष को अदालत के कठघरे में ले जाना चाहते हो?"

नौजवान को अपनी भूल का अहसास होने लगा। उसे पश्चात्ताप होने लगा कि सचमुच सर्वजन श्रद्धेय ब्रह्मज्ञ महापुरुष राम ठाकुर को अपने सांसारिक कार्य के लिए अदालत में खींच लाने का भयंकर दुष्कर्म वह करने जा रहा था। यह काम तो किसी दूसरे व्यक्ति के द्वारा ही कराना उचित होता।

युवक ने अत्यन्त पछतावे के स्वर में ठाकुर महाशय के पास जाकर निवेदन किया, "मुझे माफ किया जाय। समझ न पाने के कारण ही मुझसे ऐसा अपराध हो गया। अपने छोटे-से सांसारिक स्वार्थ के लिए आप-जैसे महापुरुष को अदालत क अहाते में लाना निश्चय ही बहुत बड़ी गलती है। मेरी इस अविवेचना को आप कृपया क्षमा कर दें।"

ठाकुर महाशय ने उसे ढाढ़स देते हुए कहा, "अजी! ऐसी कोई बात नहीं। इसमें पछताने का क्या काम है? प्रभात बाबू का चले, तो वह तो मुझे कुछ करने ही नहीं देंगे। वे स्नेह के कारण इसी तरह डाँटते-बिगड़ते रहते हैं। तुम इसके लिए जरा भी दुःख मत करो।"

एक बार ठाकुर महाशय मुजफ्फरपुर के रोहिणी मजुमदार नामक अपने एक श्रद्धालु भक्त के घर पर आ-टिके। उस दिन अन्य भक्तों की भीड़ भी वहीं इकट्ठी हो गई। अध्यात्म के प्रसंग में और धार्मिक विधि-निषेधों के सम्बन्ध में एक से बढ़कर एक चर्चा होती रही। इसी बीच रोहिणी बाबू की पत्नी अमावट का एक खण्ड हाथ में लेकर आ पहुँची। उन्होंने उपस्थित अतिथि-मण्डली को बताया कि अमावट का उतना बड़ा टुकड़ा उनके घर की छत पर एक कौआ चुपचाप डाल गया है। अचरज की बात यह है कि उस अमावट पर न तो कौए का चोंच का दाग लगा है, न चगुल का। अब इस अमावट के टुकड़े का क्या किया जाय? समस्या यही आ गई है।

ठाकुर ने हँसते हुए कहा—"अमावट के बारे में इतनी चिन्ता करने की जरूरत भी क्या है? पवित्र चीज है। प्रसाद मानकर शिरोधार्य कर लो और यहाँ जितने लोग बैठे हैं, सब के बीच उस प्रसाद को बाँट कर ग्रहण कर लो।"

ठाकुर महाशय की आज्ञा मिलने भर की देर थी। कौए के द्वारा लाये गये प्रसाद को खाकर सभी बेहद प्रसन्न हुए। अमावट का स्वाद वस्तुतः अपूर्व था। कौए की चोंच लगने के कारण जूठा हो गया—ऐसी कल्पना किसी के मन में नहीं आई।

इसके कुछ ही दिन बाद पटना जिले के अपने एक भक्त के घर ठाकुर महाशय को जाना था। यथासमय वे वहाँ पहुँच भी गये। उन्हें अपने बीच पाकर परिवार के सभी सदस्य आह्लादित हो उठे, किन्तु गृह-स्वामिनी जब सामने आईं, तो वे अपने मन को कसक को छिपा नहीं पाईं। ठाकुर महाशय के चरणों में प्रणाम कर वे चुपचाप खड़ी रहीं। अजाने ही उनकी आँखों से आँसू बह रहे थे, जिन्हें वे आँचल से पोछने लगीं।

ठाकुर महाशय उनके मन का भाव ताड़ कर स्निग्ध स्वर में बोले, "अमावट तैयार करने के लिए जो मैंने कह रखा था, उसे कौआ लेकर उड़ गया। इसीलिए तो रो रही हो? चिन्ता करने की कोई बात नहीं। कौए ने तुम्हारा वह सन्देश ठीक समय पर मेरे पास पहुंचा दिया। उस निरपराध पक्षी पर क्रोध करने की जरूरत नहीं। उस अमावट को प्रसाद के रूप में आपस में बाँटकर पूरी भक्त-मण्डली सराह-सराह कर खा गई। तुम्हारा परिश्रय व्यर्थ नहीं गया।

ठाकुर महाशय के मुँह से यह लीला-प्रसंग सुनकर रोती हुई गृह-पत्नी प्रसन्नता के मारे मुस्कुरा उठीं। किन्तु उपस्थित सज्जनों को कुछ समझ में न आया। वे हक्के-बक्के होकर ठाकुर महाशय के मुँह की तरफ ताकने लगे। बाद में पूरी बात जानकर उन्हें ठाकुर महाशय की कृपा-लीला का यह रहस्य मालूम हो गया कि पटने जिले के उस गाँव से अमावट का टुकड़ा लेकर कोई कौआ मुजफ्फरपुर के रोहिणी मजुमदार के घर पर यथासमय किस तरह पहुँचा आया था।

पूरी बात इस तरह थी। लगभग एक पखवारा पहले उक्त महिला ने अमावट का एक टुकड़ा बड़े यत्न से ठाकुर महाशय के निमित्त तैयार किया था। बड़ी आकांक्षा थी कि ठाकुर महाशय आयेंगे, तो उनके सामने नैवेद्य के रूप में अमावट का टुकड़ा वह अपने हाथों प्रस्तुत करेगी। उस दिन धूप में सूखने के लिए अमावट के टुकड़े को उसने आँगन में डाल दिया था कि अचानक ही एक कौआ कहीं से उड़कर आया और उतने बड़े टुकड़े को चोंच से उठाकर देखते-देखते गायब हो गया। ठाकुर के नैवेद्य को कौआ इस तरह चुराकर जूठा कर दे, यह अपशकुन की बात जान पड़ी। इसी

कारण ठाकुर महाशय को देखकर वह रोने लगी थी। लेकिन पूरी कहानी सुन लेने के बाद वह बेतरह आह्लादित हो उठी।

महिला को यह समझते देर नहीं लगी कि ठाकुर महाशय भक्तों के अन्तर के दुःख का ही निवारण नहीं करते, वे अपनी योग-विभूति के द्वारा उसके प्रेम को भी ग्रहण कर लेते हैं। ठाकुर महाशय स्वयं तो भोजन करते नहीं, किन्तु-भक्त महिला की अभिलाषा पूर्ति के लिए उन्होंने कौए को दूत बनाकर अपना नैवेद्य ठीक समय पर मँगवा लिया था।

ठाकुर महाशय की इस कृपा-लीला की कहानी सुनकर उपस्थित भक्तों की आँखें आनन्दाश्रु से छलछला उठीं।

ठाकुर महाशय के अलौकिक आविर्भाव के सम्बन्ध में भक्तों के बीच असंख्य आश्चर्यजनक अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं। भक्तों के जीवन में उनकी अपेक्षा केवल दैनन्दिन जीवन की रसानुभूति के लिए ही नहीं, जीवन के उत्तर-तत्त्व— कल्याण और समाधान के निमित्त भी आवश्यक है।

ठाकुर महाशय के एक आश्रित भक्त-परिवार के भाइयों में घोर अनबन ठन गई थी। परिवार था भी प्रचुर सम्पत्तिशाली। यदि भाइयों के बीच का मनोमालिन्य खत्म नहीं हो जाता, तो उस परिवार का सर्वनाश आपसी झगड़े के कारण अवश्यम्भावी हो जायगा—इस चिन्ता से उस परिवार के सभी हितैषी धीरे-धीरे चिन्तित हो उठे।

सबसे बड़े भाई एक दिन कलकत्ते के कॉलेज स्ट्रीट के मोड़ पर खड़ी अपनी कार में बैठने ही जा रहे थे कि उन्होंने उस गाड़ी के पास अचानक ठाकुर महाशय को खड़ा होते हुए देखा। प्रश्न उठा, "अचानक ठाकुर महाशय यहाँ कैसे आ गये?" उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ कि कलकत्ता में विद्यमान रहने के बावजूद ठाकुर महाशय ने उनलोगों को खबर क्यों नहीं भेजी।

उसी विमूढ़ अवस्था में उन्होंने ठाकुर महाशय को साष्टाङ्ग प्रणाम किया। फिर उन्हें आदरपूर्वक अपनी गाड़ी में बैठने का आग्रह वे करने लगे। किन्तु ठाकुर महाशय उनकी ओर देखे बिना ही आप-ही-आप घुनघुनाने लगे—"राजा धृतराष्ट्र के तो सौ बेटे थे। उन बेटों के चरित्र की निन्दा की कहानियाँ तो प्रसिद्ध ही हैं। कुकर्म भी उन्होंने बहुतेरे किये, लेकिन पूरा महाभारत पढ़ जाने पर भी यह तो पता नहीं चलता कि उन सौ भाइयों के बीच आपसी कलह तो दूर रहे, कभी आपसी मतभेद भी हुआ हो।"

ठाकुर महाशय की परम शान्त, निर्विकार बात भक्त के हृदय में तेज छुरे की तरह बिंध गई। छोटे भाइयों के प्रति मन में जो उद्वेग, ईर्ष्या और क्रोध

की भावना पुञ्जीभूत थी, वह एक क्षण में ही अचानक समाप्त हो गई। अपने भाइयों के प्रति उनके हृदय में उदारता उमड़ आई। भाइयों का आपसी विरोध उसी मुहूर्त्त के साथ भाप बनकर उड़ गया।

भक्त का मन अब हल्का हो गया था। उन्होंने उसी क्षण निश्चय कर लिया कि सम्पत्ति को लेकर जो तकरार है, उसकी जड़ को आज ही खोदकर फेंक देना चाहिए। ठाकुर महाशय को गाडी में बैठाकर कुछ मिनट की खातिर गाड़ी से उतर कर दफ्तर तक हो आने की अनुमति उन्होंने ठाकुर महाशय से माँगी। एक काम निपटा कर और कर्मचारियों को उस सिलसिले में निर्देश देकर वे क्षण भर में ही लौट आयेंगे, ऐसा बता कर वे यथास्थान के लिए रवाना हुए और थोड़ी ही देर में काम निपटा कर अपनी खड़ी गाड़ी के पास वापस लौट आये।

लौटने पर उन्होंने देखा कि गाड़ी खाली है और ठाकुर महाशय इतनी ही देर में कहाँ चले गये, इसका पता ही नहीं चल पाता। उन्होंने ठाकुर महाशय को खोजने की हर संभव चेष्टा की, किन्तु कोई खोज-खबर न मिली। अन्त में इष्ट-मित्रों से सलाह लेकर वे ठाकुर महाशय के एक विशिष्ट भक्त के पास चिट्ठी लिखी। वे विशिष्ट भक्त थे केन्द्रीय धारा-सभा के श्री सत्येन मित्र। वे उन दिनों शिमला में थे। उन्हें शिमला के पते पर चिट्ठी भेज दी गई। यथासमय पत्रोत्तर भी आया। पत्रोत्तर में जो बात बताई गई थी, वह और भी आश्चर्यजनक थी। पत्रोत्तर में सत्येन बाबू ने लिखा था, "लगभग एक महीने से ठाकुर महाशय शिमला में ही अवस्थान कर रहे हैं। सो भी, उन्हीं के डेरे पर। आज भी वे वहीं हैं। इस पूरी अवधि में एक क्षण के लिए भी वे शिमला से बाहर कभी नहीं गये!"

एक बार ठाकुर महाशय मुजफ्फरपुर के श्री रोहिणी मजुमदार के आवास पर अवस्थान कर रहे थे। उन्हें देखने के लिए बहुतेरे भक्तों की मण्डली आ जमी थी। उन लोगों के भोजन के लिए रात में मांसाहार की पहले से ही व्यवस्था हो चुकी थी। भोजन करने के लिए वे उठने ही वाले थे कि ठाकुर महाशय ने कहा, "मैं भी मांस खाऊँगा। थोड़ा-सा मुझे भी दे जाना।"

गृहस्वामिनी ने ठाकुर महाशय का जब यह अनुरोध सुना, तो वह आश्चर्य और प्रसन्नता के मारे चंचल हो उठीं। ठाकुर भोजन नहीं करते—यह बात सभी जानते थे। मगर, आज उस परिवार पर असीम कृपा करके वे मांस-भोजन के लिए भी आप ही तैयार हो गये हैं, इस पर विश्वास करना भी किसी के लिए कम कठिन न था। वह चटपट बाहर की आमिष पाठशाला में गई और एक कटोरे में भर कर पका मांस ले आई। ठाकुर महाशय देखते

ही देखते कटोरा भर मांस उठाकर निगल गये और बोले, "और ले आओ, और चाहिए।"

रोहिणी बाबू की पत्नी के आनन्द की कोई सीमा न रही। ठाकुर महाशय को वह बारंबार सयत्न परोस कर मांसाहार कराती रही। बार-बार कटोरा भरकर मांस ले आया जाता है और ठाकुर महाशय क्षण भर में उसे निगल कर कटोरे को खाली कर देते हैं। अन्ततः अतिथि-भक्तों को खिलाने के लिए पकाये गये हाँड़ी भर मांस का एक-एक टुकड़ा ठाकुर महाशय ने स्वयं उदरस्थ कर लिया। दूसरों के लिए मांस का एक टुकड़ा तो कौन कहे, चम्मच भर सिरुआ भी न बचा।

एक ही घंटे के बाद ठाकुर महाशय के पेट में भीषण वेदना होने लगी। रह-रह कर दस्त के दौरे पड़ने लगे। तीन दिनों तक उन्हें पेट की घोर यन्त्रणा भोगनी पड़ी।

जब स्वस्थ हुए, तब प्रसन्नतापूर्वक उन्होंने हँसते हुए गृहस्वामी को बतलाया, "तुम्हारे यहाँ जो मांस पका था, वह नितान्त विषाक्त था। मैं ही था कि वह मांस खाकर भी जीवित बच गया। अतिथि-भक्तों को यदि तुमनें वह मांस खिला दिया होता, तो वे सब-के-सब बीमार ही नहीं पड़ते, उनमें से कुछ का जीवनान्त भी अवश्यम्भावी था। तुमको बदनामी से बचाने का एक ही उपाय था कि मैं स्वयं ही वह मांस उदरस्थ कर डालूँ। अन्ततः वही करना भी पड़ा।"

श्री रोहिणी मजुमदार ने कहा—"तब तो वह मांस फेंक देना ही अच्छा होता। आपको स्वयं इतना कष्ट सहने की क्या जरूरत थी?"

ठाकुर महाशय ने कोमल-मधुर स्वर में उत्तर दिया—"अरे, फेंक देने पर क्या गृहिणी को कष्ट नहीं होता? कितने यत्न से उन्होंने वह सुस्वादु मांस तैयार किया था? और फिर फेंक देने पर कुत्ते, बिल्लियां, कौवे-जैसे जंतुओं के पेट में तो मांस का पड़ना अनिवार्य ही होता। उनकी जान भी तो जान ही है! उस मांस को जो खाता, वही मर जाता।"

कभी-कभी ठाकुर महाशय भक्तों के रोग को अपने शरीर में खींच लेते और उस रोग की पीड़ा स्वयं भोगते रहते। किसी-किसी भक्त के मन में शंका होती कि ठाकुर महाशय तो शक्ति-सम्पन्न सिद्ध महापुरुष हैं। इनकी इच्छा-मात्र से बड़ी-से-बड़ी व्याधि क्षण भर में निर्मूल हो जा सकती है। मगर यदि ऐसा है, तो वे स्वयं रोग से पीड़ित होकर किसलिए इस तरह कराहते

रहते हैं ? दूसरों का रोग भोगना आवश्यक क्यों होता है ? रोग को गायब ही कर देना क्या इनकी सामर्थ्य से बाहर की बात है ?

एक भक्त के मन की इस उधेड़बुन को भांप कर ठाकुर महाशय ने उसी दिन प्रसन्नतापूर्वक कहा, "दुःख भोग लेने के अलावा प्रारब्ध का दण्ड मिटाने का कोई अन्य उपाय नहीं है। योग-विभूति के द्वारा यदि रोग को मिटा दिया जाय तो प्रारब्ध-भोग पावना बनकर जमा रह जाता है। बाद में एक-न-एक दिन वह और भी यन्त्रणामय होकर धावा बोल देता है। इसीलिए शरीर को जो कष्ट भोगना है, उस कष्ट को अन्य देह के द्वारा भोग कर ही निःशेष कर देना उत्तम उपाय है। ऐसा करने में थोड़ा शारीरिक कष्ट तो होता है, मगर प्रारब्ध-भोग का ऋण निर्मूल हो जाता है।"

कभी-कभी दूसरों के रोग को अपने शरीर पर ले-लेने के कारण ठाकुर महाशय बड़ी विपत्ति में पड़ जाते। डॉक्टर इन्दुभूषण बन्दोपाध्याय ने अपनी जानकारी के आधार पर इस प्रसंग में इस तरह लिखा है—

'एक दिन मेरे ५०, सी० बीडन स्ट्रीट वाले आवास के बैठकखाने की कोठरी में ढाका शक्ति औषधालय के कविराज श्री जानकीनाथ दास गुप्त के साथ-साथ मैं भी ठाकुर महाशय के आमने-सामने आकर बैठ गया था। उस समय हम दोनों ने एक आश्चर्यजनक वृत्तान्त का प्रत्यक्ष अनुभव किया। हम दोनों ने देखा कि आधे घण्टे के भीतर ही ठाकुर महाशय की हथेलियों पर और छाती पर चेचक के दाने उग आये हैं। कविराज महाशय ने विधिपूर्वक परीक्षा की, तो पता चला कि यह मारक रोग का लक्षण है। एकान्त में ले जाकर कविराज महाशय ने मुझे सावधान कर दिया और आश्वासन दिया कि शीघ्र ही वे औषधि और उपचार की उचित व्यवस्था कराने का यत्न करेंगे। थोड़ी देर के बाद उन्होंने दवाएँ भिजवा दीं। कविराज महाशय के चले जाने पर ठाकुर महाशय ने हँसते-हँसते कहा, "उधर एकान्त में ले जाकर तुम्हें कविराज महाशय ने जो कहा है, वह ठीक ही है। इतनी ही देर में मेरी हथेलियों पर और छाती पर जो फफोले उभर आये हैं, वे मारात्मक चेचक के ही दाने हैं। किन्तु वैद्य होने के बावजूद वे इस तरह डर क्यों गये ? इसकी चिकित्सा के लिए किसी औषधि की आवश्यकता न होगी। मारात्मक और छुतहा रोग तो यह है ही, मगर किसी अनिष्ट की आशंका नहीं है।"

ऐसा कहकर ठाकुर महाशय अपनी उँगली से चेचक के उन दानों को दबाने लगे, और घंटे भर के भीतर ही सारे दाने गायब हो गये। बार-बार

पूछताछ करने पर उन्होंने इतना ही स्वीकार किया कि बहुत दिन पहले चेचक के एक मरणासन्न रोगी को उन्होंने रोग-मुक्त कर दिया था। उसी का ऋण-शोध करने के लिए चेचक के वे दाने कभी-कभी ठाकुर महाशय के शरीर में निकल आते हैं और फिर ठाकुर महाशय की उँगलियों का स्पर्श पाकर शान्त हो जाते हैं।

चाँदपुर में रहते समय ठाकुर महाशय उस वार वेसिलरी आमाशय रोग के सांघातिक आक्रमण से शय्या-ग्रस्त हो गये। स्थानीय चिकित्सकों की औषधि और परिचर्या का कोई परिणाम न निकला। शनैः-शनै शरीर क्षीण होता गया और कष्ट बढ़ता ही चला गया। तय हुआ कि कलकत्ता ले-जाकर चिकित्सा कराये बिना कोई उपाय नहीं रह गया है। कलकत्ता के सुप्रसिद्ध चिकित्सक डा० जे० एम० दास गुप्त ठाकुर महाशय के परम भक्त थे। तार पाने के साथ ही वे चाँदपुर चले आये और ठाकुर महाशय को अपने साथ कलकत्ता ले गये।

चिकित्सा और सुश्रूषा में किसी प्रकार की कोई कमी उन्होंने न होने दी, किन्तु रोग की अवस्था में कोई सुधार न हुआ। एक दिन डा० दास गुप्त की चिन्ताकातर पत्नी को एकान्त में बुलाकर ठाकुर महाशय ने कहा, "इन दवाओं का तो प्रभाव देख ही लिया गया। यदि एक ग्लास कच्चा दूध ठाकुर महाशय को पिला दिया जाय, तो रोग में शायद कमी हो सकती है"

वेसिलरी आमाशय रोग में दूध का पथ्य देना तो संकट को और बढ़ाना ही होगा, उतने बड़े डाक्टर की पत्नी इस तथ्य से अपरिचित न थी। आश्चर्य और चिन्ता के मारे वे आतुर हो उठीं। उन्होंने दूरभाष के सहारे दासगुप्त महाशय को ठाकुर महाशय की व्यवस्था का समाचार देते हुए उनकी राय पूछी। चिकित्सक होने के कारण दासगुप्त प्रस्ताव सुनकर ठिठक गये, मगर ठाकुर महाशय की अलौकिक शक्ति-सामर्थ्य से परिचित होने के कारण उन्होंने अपनी राय कच्चा दूध पिला देने के पक्ष में दे-दी। मगर वैसी राय उन्होंने स्वेच्छा से नहीं, वाध्य होकर ही दी थी।

एक साँस में एक ग्लास कच्चा दूध पी लेने के बाद ठाकुर महाशय बिछावन पर करवट बदल कर सो गये। दूसरे ही दिन देखा गया कि उस रोग ने ठाकुर महाशय का पिण्ड छोड़ दिया है। शारीरिक कष्ट-पीड़ा शान्त हो गई है और रोग का कोई चिह्न नहीं रह गया है।

डाक्टर दासगुप्त ने ठाकुर के रोग-मुक्त हो जाने पर अपने मित्रों की चकित मण्डली से हँसते हुए पूछा, "इतने दिनों तक भला मैं किसकी चिकित्सा

कर रहा था ! ठाकुर महाशय को आज देखकर क्या कोई कह सकेगा कि कल तक वे उस तरह बीमार थे ? इनका यह खेल आपलोग देखे ही लीजिए ।"

ठाकुर महाशय अपने योग-सिद्ध शरीर के ऊपर वारंवार दूसरों की व्याधियों का आकर्षण प्राय: करते ही रहते थे । डॉक्टर और वैद्यों का दल रोग के कारण और निदान का निर्णय करने में इसीलिए वारंवार असमर्थ हो जाया करता । कभी-कभी ऐसे विमूढ़ चिकित्सकों को करुणावश ठाकुर महाशय मृदुस्वर में आश्वस्त करते हुए कहते — "रोग भी तो ऋण ही है । ऋण-शोध हो जाने पर समय पाकर रोग स्वयं चला जाता है और शरीर स्वयं निरामय हो जाता है । चिकित्सा भेषज और उपचार की अपेक्षा मर्यादा-रक्षा के लिए जरूरी है, मगर बिना ऋण-शोध हुए रोग तो अच्छा नहीं हो सकता !"

ठाकुर महाशय व्याधि-भोग के क्रम में कभी-कभी विनोद और कौतुक के प्रसंग भी स्वयं उपस्थित कर देते । वात-व्याधि के दौरे से वे वारंवार आक्रान्त हो उठते थे । लेकिन यह रोग उनका पुराना सहचर था । उससे जूझने के लिए वे किसी डाक्टर-वैद्य से सलाह तक नहीं लेते थे । उससे निपटने का उपाय उन्हें स्वयं ज्ञात था । उसे रोग मानकर उन्होंने कभी स्वीकार ही नहीं किया ।

एक दिन पञ्चाङ्ग उलटते-उलटते उनकी नजर एक विज्ञापन पर जा पड़ी । वात-व्याधि की एक अमोघ औषधि का आविष्कार एक महाशय ने कर लिया है । विज्ञापन में यह भी लिखा था कि यदि उस दवा के सेवन से वात-व्याधि जड़ से छूट नहीं जाय, तो दवा की पूरी कीमत लौटा दी जायगी । ठाकुर महाशय ने उसी मुहूर्त्त एक भक्त को औषधि के आविष्कारक का नाम-पता देकर प्रतिष्ठान की ओर भेज दिया । नगर-निवासी होने के कारण उस भक्त को विज्ञापन पर तनिक भी भरोसा नहीं हुआ, मगर ठाकुर महाशय की आज्ञा का पालन करने के लिए वह विवश थे । अत: विज्ञापित औषधि को खरीद कर ले आये ।

बहुत दिनों तक उस औषधि का सेवन किया गया, मगर कोई परिणाम न निकला । ठाकुर महाशय ने मुस्कुराते हुए भक्त से जिज्ञासा की, "औषधि खाने से रोग अच्छा न हुआ, तब तो उनसे औषधि की पूरी कीमत वापस वसूल लेनी चाहिए ? आप तुरत चले जायँ और कीमत के रुपये वापस लेकर ही लौटें ।"

कुछ देर के बाद भक्त महाशय औषधि-विक्रेता के पास से वापस लौट आये । तुरत ठाकुर महाशय ने जबाव तलब किया, "क्यों, रुपये मिल गए न ?"

भक्त ने उत्तर दिया—"नहीं, रुपये देने से तो वे इन्कार कर रहे हैं !"

ठाकुर महाशय ने पूछा—"ऐसी बात क्यों ? विज्ञापन में तो स्पष्ट लिखा हुआ है कि रोग अच्छा न होने पर दवा की कीमत लौटा दी जायगी। तब फिर रुपये लौटा क्यों नहीं रहे हैं ?"

भक्त ने उत्तर दिया—"वे कह रहे हैं कि रुपये न लौटाने का कारण पत्र के द्वारा भेज दिया जायगा।"

तीन-चार दिन बाद अमोघ-औषधि के आविष्कारक का पत्र सचमुच आ पहुँचा। ठाकुर महाशय ने आँख पर चश्मा लगाकर उस पत्र को चटपट पढ़ लेना चाहा।

उपस्थित भक्त-मण्डली पत्र के आशय को पहले से ही जानती थी। उसके बीच हँसी चलती रही। ठाकुर महाशय ने पत्र में पढ़ा, औषधि के आविष्कारक ने विनयपूर्वक लिखा था—" हमने मनुष्य की चिकित्सा के लिए इस औषधि की खोज की है। देवता की चिकित्सा करना हमारे वश की बात नहीं है। क्षमा प्रार्थी।" इत्यादि, इत्यादि।

ठाकुर महाशय पत्र पढ़कर गम्भीर हो गये। भक्तों की ओर देखकर उन्होंने कहा, "यह रुपया पचाने का प्रपञ्च है। इन लोगों के विज्ञापन का रहस्य मेरी समझ में आ गया।"

ठाकुर महाशय के इस कथन को सुनकर भक्त-मण्डली में हँसी की नई लहर उठी।

भक्तों के कष्ट-निवारण की चिन्ता ठाकुर महाशय को बार-बार अस्त-व्यस्त करती रहती। व्यावहारिक जीवन के दुःख-ताप, बाधा-बन्धन से निकाल कर भक्तों को आध्यात्मिक जीवन के पथ पर अग्रसर करने के लिए वे सब-कुछ करने को तैयार थे। देह-रोग से मुक्ति पाकर यदि कोई भक्त भव-रोग से मुक्ति पाने के लिए तत्पर हो सकता है और सूक्ष्मतर लोक का द्वार यदि उसके लिए शनैःशनैः उन्मुक्त हो सकता है, तो रोग का कष्ट स्वयं सहकर भक्त को रोग-मुक्त कर देना ठाकुर महाशय के लिए अनुचित नहीं जान पड़ता था।

भव-रोग के निवारण के लिए ही वे कभी-कभी भक्तों के घर बिना बुलाये ही पहुँच जाते। उन्हें नाम-मंत्र की दीक्षा दे-आते। मगर इस दैन्य की पृष्ठभूमि में ब्रह्मज्ञ महापुरुष की करुणा और ऐश्वर्य का ही प्रकाशन होता था।

प्रसन्न कुमार आचार्य नामक एक अनुरागी ब्राह्मण उन दिनों अपनी निष्ठा के लिए अड़ोस-पड़ोस में प्रसिद्ध थे। तरुण अवस्था में ही उनका हृदय

मुक्ति की आकांक्षा से उत्सुक और आतुर हो उठा था। वे गुरु की खोज में घर से एक दिन लम्बी यात्रा पर निकल पड़े। उसी क्रम में उनकी भेंट प्रभुपाद विजय कृष्ण गोस्वामी से हुई। गोस्वामी जी उन दिनों दीक्षादाता आचार्य के रूप में केवल बंग-भूमि में ही नहीं, सम्पूर्ण उत्तर भारत में श्रद्धालुओं के बीच विश्रुत हो चुके थे। उक्त गोस्वामीजी से दीक्षा-ग्रहण करने की इच्छा प्रसन्न कुमार आचार्य ने विनयपूर्वक प्रकट कर दी।

श्री विजयकृष्ण गोस्वामी ने भक्त के अनुनय के उत्तर में कहा, "यहाँ नहीं, मुझसे आपको दीक्षा लेने की आवश्यकता नहीं है। आपके गुरु अन्यत्र हैं। वे परम कृपालु पुरुष हैं। समय आने पर वे स्वयं आपके सामने उपस्थित हो जायँगे। आपके अनुरोध की आवश्यकता ही नहीं होगी। वे स्वयं आपके यहाँ ठीक समय पर पहुँच जायँगे। आप निश्चिन्त होकर सावधानतापूर्वक केवल प्रतीक्षा करते रहें।"

इसके बाद तीस वर्ष बीत गये। उन दिनों श्रीहट्ट जिला के एक गाँव में श्री प्रसन्न कुमार आचार्य अध्यापन का कार्य कर रहे थे। एक दिन उन्होंने देखा कि उनके दरवाजे पर एक अपरिचित ब्राह्मण खड़े हैं। वेश-भूषा से दरिद्रता झलक रही थी, किन्तु संतोष, शान्ति और आत्म-विश्वास की छटा से उनका मुखमण्डल दीप्त था। प्रसन्न बाबू उनके सामने जाकर खड़े हो गये। उनके वहाँ जाते ही आगन्तुक ने विश्रब्ध स्वर में कहा, "लीजिये, मैं आ गया। अब आपको दीक्षा देकर ही जाऊँगा।"

अपरिचित आगन्तुक के इस विश्रब्ध वाक्य को सुनकर प्रसन्न बाबू का सम्पूर्ण शरीर रोमांचित हो उठा। उनके हृदय में आगन्तुक की दोनों आँखें जैसे पैठ गईं। मन में कोई कहने लगा, 'अरे! ये ही हैं तुम्हारे लिए निश्चित महापुरुष। तुम्हारे जन्मान्तर परिचित गुरुदेव। गोस्वामी जी ने इन्हीं के आगमन की भविष्यवाणी की थी और तुम तीस वर्षों से इन्हीं की प्रतीक्षा कर रहे थे।' प्रसन्न कुमार आचार्य आगन्तुक के चरणों पर साष्टाङ्ग प्रणाम निवेदित करने के लिए अकस्मात् लेट गये और उनकी आँखों से आनन्द की अश्रुधारा प्रवाहित हो चली।

उसी दिन शुभ मुहूर्त्त में प्रसन्न कुमार आचार्य ने सपत्नीक दीक्षा प्राप्त की। बाद में उन्हें यह भी मालूम हो गया कि स्वतः आकर जो महापुरुष उन्हें दीक्षा प्रदान कर रहे हैं, वही हैं ब्रह्मविद् वरिष्ठ महापुरुष श्रीराम ठाकुर।

नाम-निष्ठा और पूर्ण समर्पण को चरितार्थता देनेवाली शरणागति ठाकुर महाशय की दृष्टि में मुमुक्षुओं के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

विशेषत: गृहस्थ साधकों के प्रसङ्ग में वे उपासना के इन्हीं दो मुख्य तथ्यों को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानते थे। नाम-निष्ठा और शरणागति साधक के धरातल को शनैःशनैः किस प्रकार श्रद्धा और शुद्धि के ऊर्ध्वलोक में उठा देती है, इसका निदर्शन एक भक्त के जीवन में उद्भासित हुआ।

एक वार अपने तीन भक्तों के साथ ठाकुर महाशय ढाका से कलकत्ता के लिए चल पड़े। जब स्टीमर गोयालन्द घाट पर पहुँची, तो साथ के लोगों ने चटपट सामान उठा लिये। स्टेशन पर पता चला कि गाड़ी के खुलने में लगभग एक घंटा विलम्ब है। अगत्या ठाकुर महाशय को एक कमरे में बैठाकर साथ के अन्य लोग खान-पान की व्यवस्था करने भोजनालय की ओर चले गये।

लौट कर जब वे आये, तो देखा कि ठाकुर महाशय कमरे में नहीं हैं। ठीक गाड़ी खुलने के समय उनका गायब हो जाना आश्चर्यजनक लगा। व्याकुल होकर सभी लोग उन्हें चारों ओर खोजने लगे, किन्तु कुछ पता नहीं चला।

गाड़ी खुलने की घंटी पड़ गई। अब ठाकुर महाशय को वहीं छोड़कर साथ के शेष लोग कैसे यात्रा करें, यह प्रश्न स्वभावत: उठा। अन्त में निश्चय हुआ कि एक व्यक्ति सामान के साथ ट्रेन से चले जायँ और शेष दो व्यक्ति कुछ आवश्यक सामान के साथ स्टेशन पर ठाकुर महाशय की प्रतीक्षा में बैठे रहें। ऐसा ही किया गया।

सारी रात प्रतीक्षा करनेवालों ने दुश्चिन्ता में काट दी। जब पौ फट रही थी, तो उन्होंने आश्चर्य के साथ देखा कि ठाकुर महाशय द्रुत पदों से स्टेशन की ओर चले आ रहे हैं। उनके साथ में लगभग दस वर्ष उम्रवाला एक बालक भी है।

स्टेशन पर पहुँचते ही उन्होंने कहा, "आपलोगों के पास राह-खर्च के अलावा जो भी रुपये हों, निकाल कर मुझे दीजिए।"

टिकट तो पहले ही कटा चुके थे, इसलिए उन दोनों ने दो-चार रुपये रखकर बाकी सारे रुपये ठाकुर महाशय को दे दिये। ठाकुर महाशय ने भी वे सारे रुपये उस बालक को दे-दिये, जो उनके साथ वहाँ आया था। चुपचाप रुपये धोती के छोर में बाँध लेने के बाद बालक ने ठाकुर महाशय को श्रद्धापूर्वक प्रमाण किया और बिना कुछ बोले वहाँ से तत्क्षण चला गया।

ठाकुर महाशय के अचानक गायब हो जाने का कारण जब भक्तों ने पूछा, तो उन्होंने एक बड़ी ही करुण कहानी सुना दी—

ठाकुर महाशय के एक पुरातन भक्त गोयालन्द घाट के पास के ही किसी गाँव में निवास करते हैं। दो छोटे-छोटे लड़कों और पत्नी के अतिरिक्त उनके परिवार में और कोई नहीं है। परिवार की आर्थिक स्थिति अत्यन्त दारुण है। उपज या आमदनी के नाम पर उस भक्त परिवार के पास कोई सम्पत्ति है ही नहीं। जिस दिन जो मिल जाता है, उसी से काम चला लेने के अलावा कोई उपाय नहीं है। निष्ठा और शरणागति के सहारे वह भक्त-परिवार बड़े कष्ट से समय व्यतीत कर रहा है। कृपामय ठाकुर उस परिवार के प्रत्येक सदस्य के हृदय में अधिष्ठित हैं। भक्त की बड़ी आकांक्षा थी कि जीवन के अन्तिम काल में ठाकुर महाशय दर्शन दे जायँ। भक्त की उसी आकांक्षा को पूरा करने के लिए ठाकुर महाशय को वहाँ जाना आवश्यक जान पड़ा था।

उसी रात भक्त के जीवन का अन्तिम काल उपस्थित हो गया था। संसार से विदा होते समय अपने ब्रह्म-वरिष्ठ गुरु के चरणों का स्पर्श प्राप्त कर लेना उसके जीवन की बड़ी साध थी, जो पूरी हो गई।

शरीर-त्याग करते समय स्त्री-पुत्र को बुलाकर मुमूर्षु ने शान्त स्वर में कहा था, "तुम लोग अब विलम्ब मत करना। जो कुछ घर में है, खा-पीकर प्रस्तुत हो जाओ। मेरे जाने का समय आ गया है। अब देर नहीं है।"

परिवार के सभी लोग घर से बाहर चले गये। तब उक्त भक्त ने गुरु के चरणों के निकट अपना मस्तक रख दिया और परम तृप्ति और आनन्द के साथ अंतिम साँस ली।

उपर्युक्त प्रसंग का विवरण डॉ. बन्दोपाध्याय ने अपने ग्रंथ में इस प्रकार दिया है—

"ठाकुर महाशय के श्रीमुख से पूरी घटना का विवरण सुनने के बाद मैं बहुत विस्मित और द्रवित हुआ। एक सर्वथा असहाय और निःसम्बला नारी दो छोटे-छोटे बालकों के सहारे वैधव्य के दारुण दिन किस तरह व्यतीत कर पायेगी? किन्तु यह भी पता चला कि उस सद्यःविधवा नारी ने भी अपूर्व धैर्य का परिचय दिया। उसके जीवन का लक्ष्य ही था अपने पति की आज्ञा का पालन करना। गुरु की कृपा के सहारे वह किसी भी विपत्ति का साहस के साथ सामना कर सकती है। उसके दोनों छोटे-छोटे लड़के भी शरणागति के इसी भाव में पगे थे। उतनी बड़ी विपत्ति के बावजूद वे शान्ति और सन्तोष के साथ परिस्थिति का मुकाबला करते रहे। रोने-पीटने-जैसे दृश्य वहाँ उपस्थित ही नहीं हुए।

"उस भक्त-परिवार की कहानी सुनकर मेरे आश्चर्य की कोई सीमा न रही। उस परिवार ने ठाकुर महाशय का एक ही बार दर्शन पाया था और

उनके मुख से दो-चार वाक्य सुन लेने के बाद ही संतोष और शान्ति की वृष्टि उस पर सतत होती रही। कहा जाता है कि 'गुरु के वाक्य ही हैं गुरु'। इस कहावत का अर्थ मुझे भक्त के उस दरिद्र परिवार को कथा सुनकर अवगत हो गया।"

नाम-निष्ठा और शरणागति को ठाकुर महाशय 'पतिव्रत धर्म' के नाम से पुकारते हैं। जन-साधारण के लिए मुक्ति का प्रशस्त मार्ग है यही नाम-निष्ठा और शरणागति। एक बार इस धर्म से विच्युति के कारण एक भक्त-परिवार का ठाकुर महाशय ने सदा के लिए त्याग कर दिया।

राज पुताने के किसी गाँव में जाकर ठाकुर महाशय लगभग एक वर्ष तक ठहर गये थे। एक निःसन्तान राजपूत दम्पति ठाकुर महाशय के परम भक्त के रूप में प्रसिद्ध हैं। ठाकुर महाशय के प्रति वात्सल्य-भाव से उपासना उनके जीवन का व्रत था। ठाकुर महाशय को अपना गोपाल मान कर पति और पत्नी की आराधना साल भर चलती रही। परिवार बड़ा सम्पन्न था। गाय-भैंस का कोई अभाव नहीं। रोज ही प्रचुर मात्रा में दूध और दही के साथ-साथ मक्खन भी प्रस्तुत होता। दोनों बेला में ठाकुर महाशय को वे विधि पूर्वक नैवेद्य अर्पित करते।

पति और पत्नी दोनों ही की इच्छा थी कि उनके गोपाल उनके सामने ही भरपेट भोजन करें, मगर ठाकुर महाशय की शर्त्त थी कि उन्हें भोजन करते हुए कोई भी देखने न पाए। इसलिए नैवेद्य अर्पित कर देने के बाद ठाकुर महाशय भोजन की पूरी सामग्री के साथ कमरे में बन्द हो जाते। जब द्वार खुलता, तो नैवेद्य की सारी सामग्री गायब हो जाती, केवल प्रसाद-रूप में थोड़ी-सी सामग्री भक्तों के लिए बच रहती।

यह भी आश्चर्य की ही बात थी कि उतनी प्रचुर सामग्री को उदरस्थ कर लेने के बावजूद ठाकुर महाशय के मुखमंडल पर गुरुपाकी भोजन का कोई चिह्न नहीं रहता। संदेह की यह स्थिति भक्त-दम्पति को चिन्तित कर देती। उनका कुतूहल किसी प्रकार शान्त नहीं हो पाता था।

कौतूहल अदम्य हो जाने के कारण एक दिन बन्द कमरे के एक छोटे-से छिद्र में आँख लगाकर भीतर का दृश्य उन्होंने देख ही लिया। उन्होंने देखा कि कमरा बन्द होने के साथही एक विशालकाय महापुरुष कमरे के भीतर अचानक प्रकट हो गये और कुछ ही मिनटों में उन्होंने नैवेद्य की प्रचर सामग्री उदरस्थ कर ली। इसके बाद वे जिस प्रकार अकस्मात् आविर्भूत हुए थे, उसी प्रकार लुप्त भी हो गये। दृश्य देखकर भक्त-दम्पति को अत्यधिक विस्मय हुआ।

एक दिन ठाकुर महाशय को उन्होंने वह कहानी सुना दी। ठाकुर महाशय वृत्तान्त सुनकर बड़े मर्माहत हुए। उन्हें इस बात पर दुःख हुआ कि उनकी निषेधाज्ञा का भक्त-दम्पति ने विश्वासपूर्वक पालन नहीं किया था। वे एक शब्द भी न बोल पाए। दूसरे दिन सुबह होने के साथ ही राजपूताने के उस भक्त-दम्पति को अचानक ज्ञात हुआ कि ठाकुर महाशय उस स्थान का त्याग कर रात ही कहीं चले गये हैं।

भक्त-दम्पति के अनुताप और व्याकुलता की कोई सीमा न थी। इस घटना से उन्हें यह अवश्य विदित हो गया कि शरणागति के पथ पर सन्देह और संशय का रञ्चमात्र लेश भी अक्षम्य अपराध माना जाता है।

ठाकुर महाशय जहाँ भी रहते, उन्हें केन्द्र बनाकर धर्म-प्रसंग के नाना वृत्तान्त की चर्चा चल पड़ती। ठाकुर महाशय उस बीच स्वयं भी कुछ-न-कुछ अवश्य बताते, किन्तु उनके विनोद में भी साधन-जीवन के गूढ़ अभिप्राय ही प्रकट होते थे।

उस दिन सन्ध्या समय कलकत्ता के एक भक्त के घर पर वे अचानक चले आये थे। कानोंकान खबर होते ही और भी बहुतेरे भक्त ठाकुर के निकट चले आये। सबकी दृष्टि ठाकुर महाशय के मुख-मण्डल पर ही केन्द्रित थी। ठाकुर महाशय के मुख से जो भी दो-चार वाक्य निकलते, उन्हें वह भक्त-मण्डली चातक की तरह कर्णामृत मान कर पी जाती। ठाकुर महाशय के ठहरने के कमरे में आनन्द और प्रशान्ति की दिव्य विभा विराज- मान थी।

ठीक इसी समय एक वृद्ध सज्जन अपनी पत्नी के साथ आ पहुँचे। उनकी वेश-भूषा से ही स्पष्ट था कि वे किसी उच्च कुल की सन्तान हैं।

ठाकुर महाशय के आसन के निकट पहुँचते ही आगन्तुक ने उच्च कण्ठ से घोषणा की, "अब मैं जज हो गया हूँ।"

यह छोटी-सी बात को इतनी ऊँची आवाज में बताई गई थी कि कुछ लोग चौंक उठे और कमरे का वातावरण टूट गया।

आगन्तुक की घोषणा सुन लेने के बावजूद ठाकुर महाशय निर्विकार भाव से पूर्ववत् बैठे रहे। ऐसा लगा कि कान से उन्हें कम सुनाई पड़ता है। आगन्तुक महाशय ने अनुमान किया कि वृद्धावस्था के कारण ठाकुर महाशय संभवतः बहरे हो गये हैं। इसीलिए इतनी महत्त्वपूर्ण खबर पर उन्होंने अपनी कोई प्रतिक्रिया जाहिर नहीं की है। इसलिए और भी तेज आवाज में चीख कर उन्होंने कहा— "बाबा, मैं जज हो गया हूँ।"

"क्या कह रहे हैं मुंसिफ बाबू ? आज कल मैं जरा कम सुनने लगा हूं ।" —कहकर ठाकुर महाशय फिर मौन हो गये । पति की आवाज के कमजोर पड़ जाने के कारण पत्नी ने आगे बढ़कर बाबा की सहायता की । वह बाबा के आसन से सटकर चिल्लाने लगी । उसने कहा, "बाबा, आपकी कृपा से ये जज के ओहदे पर पहुँच गये हैं ।"

इस बार ठाकुर महाशय वधिरता का अभिनय जारी नहीं रख सके । वे बोले, "बड़ी अच्छी बात हैं, किन्तु ये जज हो गये, तो उस सिलसिले में मुझे क्या करना होगा ? मुझसे क्या करने के लिए कहा जा रहा है ?"

पत्नी ने कहा - "इन्हें आजकल बहुमूत्र का रोग बहुत परेशान कर रहा है । व्याधि के कारण शरीर दिन-प्रतिदिन सूखता जा रहा है । इस रोग से मुक्ति दिलाने के लिए आप जो-कुछ कर सकते हों, कृपया कर दें ।

ठाकुर महाशय ने शान्त स्वर में कहा, "जज साहब के लिए तो सिविल सर्जन साहब की नियुक्ति सरकार ने ही कर डाली है । आप इन्हें कृपया उन्हीं के पास ले जायें । मैं तो कोई डाक्टर-वैद्य नहीं हूं ? ऐसी हालत में मेरे पास आने की जरूरत ही क्या थी ? मैं कुछ भी नहीं कर पाऊँगा ।"

ठाकुर महाशय के उपर्युक्त वाक्य सुनकर पति-पत्नी की निराशा की कोई सीमा न रही । आगे एक शब्द बोलना भी उनके लिए संभव न रहा ।

ठाकुर महाशय शक्ति और ज्ञान की चूड़ा पर अधिष्ठित थे, किन्तु उनकी कृपा उसे ही प्राप्त होती थी, जो आर्त्त भाव से उनका शरणागत होता था । उस दिन की इस घटना से इस रहस्य का पता केवल उस दम्पति को ही नहीं, शेष लोगों को भी मिल गया ।

एक बार कुछ दिनों की खातिर ठाकुर महाशय चटगाँव जाकर ठहर गये थे । भक्तों के बीच हल्ला पड़ गया । कई लोगों ने निवेदन किया कि ठाकुर महाशय अपने चरण-रज से उन लोगों के घर को भी पवित्र कर दें ।

चटगाँव के एक मुन्सिफ साहब ठाकुर महाशय के बहुत बड़े भक्त थे । ठाकुर महाशय को अपने घर ले जाने के लिए वे और भी अधिक व्यस्त हो उठे । वारम्वार के अनुनय और अनुरोध के कारण ठाकुर महाशय ने उनके घर जाने का वचन उन्हें दे दिया ।

निर्धारित समय पर ठाकुर महाशय उनके घर पर जा पहुँचे । यह भी बता दिया गया कि अधिक देर तक ठहरना संभव नहीं है, क्योंकि अन्य भक्तों के घर पर भी ठाकुर महाशय को उसी दिन जाना पड़ेगा । बहुत उत्साह के साथ मुन्सिफ साहब ने ठाकुर महाशय को अपने विशाल महल से परिचित

कराना चाहा। वे अपने एक-एक कमरे में उन्हें ले गये, ताकि उनकी राजसी साज-सज्जा को ठाकुर महाशय अपनी आंखों देखकर तृप्त हों।

सबसे अन्त में ठाकुर महाशय को वे अपने सोने के कमरे में ले गये। वहाँ लोहे की एक सन्दूक भी पड़ी थी। बड़ी नम्रता के साथ उन्होंने ठाकुर महाशय से निवेदन किया, "ये हमारा परम सौभाग्य है कि आप दर्शन देने स्वयं आ गये। इससे भी बड़े सौभाग्य की बात यह है कि हमारे घर हर कमरे में आपके पाँवों की धूल पड़ गई। मगर, इस कमरे में इतने ही से काम नहीं चलेगा।"

उनका संकेत घर के कोने में स्थापित लोहे की सन्दूक की ओर था। सन्दूक की ओर उँगली उठाकर उन्होंने और अधिक विनीत भाव से कहा, "बाबा, थोड़ा-सा कष्ट यहाँ और दूँगा। उस सन्दूक को कृपया आप अपने चरण-स्पर्श से कृतार्थ कर दें।"

मुन्सिफ साहब के इस अनुनय का अभिप्राय यह था कि ठाकुर महाशय जहाँ पर चरण रख देंगे, वहाँ लक्ष्मी अचला होकर रहेगी। इसलिए लोहे की वह संदूक स्वर्ण-खण्डों से अनायास ही भर जायगी।

ठाकुर महाशय ने वहीं रुक कर कहा, "आपका अनुरोध मानने में मुझे थोड़ी-सी कठिनाई हो रही है। आपको पहले ही यह बता देना चाहता हूँ कि उस संदूक पर यदि मेरे पाँव पड़ जायँगे, तो सन्दूक के भीतर जो-कुछ है, सब गायब हो जायगा।

ठाकुर महाशय का कथन सुनते ही मुन्सिफ साहब अप्रतिभ हो उठे। उसी क्षण ठाकुर महाशय को आगे कर वे उस कमरे से शीघ्र बाहर निकल गये।

अपने आश्रितों को मुक्ति-मार्ग पर ले चलने के लिए जिन्होंने संसार का त्याग कर दिया है, उनके चरण-स्पर्श के सहारे अपनी सन्दूक भर लेने की आकांक्षा कितनी गर्हित है, इस बात को समझ पाने की बुद्धि मुन्सिफ साहब को तब भी प्राप्त हुई या नहीं, यह कहना कठिन है।

एक बार ठाकुर महाशय को धूम्रपान करने की सनक सवार हुई। बड़े उत्साह के साथ वे घड़ी-घड़ी पर एक के बाद दूसरी सिगरेट जलाते और धुएँ से सारे कमरे को भर देते। उनकी इस लीला ने भक्तों को चकित कर दिया। वे सभी जानते थे कि ठाकुर महाशय किसी मादक द्रव्य का सेवन नहीं करते। इसलिए उन्हें यह समझने में कठिनाई नहीं हुई कि इस धूम्रपान-लीला के पीछे भी कोई-न-कोई रहस्य अवश्य होगा।

एक भक्त की जिज्ञासा के उत्तर में तम्बाकू को भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए उन्होंने कहा— "तम्बाकू के धूएँ से दाँत के कीड़े मर जाते हैं और दाँत में दर्द होना भी छूट जाता है। मगर, कठिनाई यही है कि धुआँ घोंटने पर नये-नये रोग उत्पन्न हो सकते हैं।"

जिस समय वह धूम्रलीला चल रही थी, उसी समय एक अपरिचित साधु वहाँ आ पहुँचे। उन्हें देखते ही ठाकुर महाशय अप्रतिम हो उठे। जलती सिगरेट को बुझाकर उन्होंने कहीं छिपा दिया, मानो किसी अभिभावक ने अपने बच्चे को धूम्रपान करते हुए देख लिया हो और बालक को अपनी लज्जा छिपाने का कोई उपाय सूझ न रहा हो।

इसके बाद ठाकुर महाशय ने धरती पर सिर टेककर आगन्तुक साधु को प्रणाम निवेदित किया और कनखी से चकित भक्तों की ओर देखा। उनका संकेत पाकर उपस्थित भक्तों ने भी बारी-बारी से आगन्तुक साधु को साष्टाङ्ग लेटकर प्रणाम निवेदित किया। सब लोग श्रद्धा से ओतप्रोत हो उठे। यह स्पष्ट हो गया कि ठाकुर महाशय जिन्हें प्रणाम कर रहे हैं, वे निश्चिय ही उच्च कोटि के महापुरुष हैं।

थोड़ी ही देर बाद आगन्तुक साधु महाशय चले गये। उनके चले जाने के बाद भक्तों को चुप रहते न बना। एक महाशय ने पूछ ही दिया, "बाबा, ये कौन थे? इन्हें देखते ही आपने जलती सिगरेट बुझा कर लज्जा का अनुभव क्यों किया?"

उत्तर में बाबा ने इतना ही कहा, "उन्हें मैं पहचानता तो नहीं हूँ।"

बाबा का संक्षिप्त उत्तर सुनकर भक्त-मण्डली में खिलखिलाहट की लहर फैल गई। लोग कानाफूसी करने लगे। देखो ठाकुर महाशय की लीला, एक अपरिचित साधु को अपना अभिभावक बनाकर भयभीत बालक की भाँति ये किस तरह अप्रतिभ हो उठे थे?

भक्तों की कानाफूसी बन्द होने पर ठाकुर महाशय ने गम्भीर स्वर में कहा, "इतना जान लें कि गेरुआ वस्त्र त्याग का प्रतीक है और संन्यासी का भूषण है। उसका सम्मान करना ही चाहिए। सेनापति का वेश पहन कर जो भी व्यक्ति आता है, उसे सलाम करना हर सैनिक का कर्त्तव्य हो जाता है। उस पोशाक को किसने पहन रखा है, इसका विचार अनावश्यक है।"

समुदाचार की जो उदारनीति उस दिन ठाकुर महाशय ने अपने भक्तों को बताई, उसका भक्तों पर बहुत प्रभाव पड़ा। उन्होंने देखा कि ठाकुर

महाशय लौकिक कर्म के सारे दायित्वों से मुक्त होने के बावजूद प्रचलित समुदाचार को आघात पहुँचाना उचित नहीं मानते। श्रद्धालुता का यह आचरण निश्चय ही अनुकरणीय है।

ठाकुर महाशय का उदार मानव-धर्म जाति, वर्ण और समाज-भेद के वैषम्य को तरजीह न देता था। कलकत्ता के एक भक्त के घर पर रहते समय इस तथ्य का एक स्मरणीय उदाहरण उपस्थित हो गया था। अन्य स्थानों की तरह उस स्थान पर भी ठाकुर के आगमन का समाचार सुनकर भक्तों की भीड़ इकट्ठी होने लगी। उस भीड़ में कुछ वाराङ्गनाएँ भी शरीक होने चली आई थीं।

गृह-स्वामी को जब पता चला, तो वे आग-बबूला हो गये। वाराङ्गनाओं को तीखी निगाह से घूरकर रोकते हुए उन्होंने घर का दरवाजा बन्द कर दिया। यह देखकर बेचारी वाराङ्गनाएँ बहुत मर्माहत हुईं। उनमें से एकाध तो सिसक-सिसक कर रोने भी लगीं।

एक दयाविगलित भक्त ने भीतर जाकर ठाकुर से इस घटना का निवेदन कर दिया। ठाकुर महाशय ने तेज आवाज में गृह-स्वामी को सुनाकर कहा—'मैं तो अन्धा हूँ। आँख से कुछ देखता ही नहीं। इसलिए आपलोग जो ऊँच-नीच का भेद बनाये हुए हैं, उस पर मेरी नजर ही नहीं जाती। बाहर से जो स्त्रियाँ मुझसे मिलने आई हैं, उन्हें मिलने देना ही उचित है।''

ठाकुर महाशय की बात सुनकर गृह-स्वामी को होश हुआ। वाराङ्गनाओं को भीतर जाने के लिए उन्होंने दरवाजा तो खोल दिया, मगर साथ-ही-साथ यह निर्देश भी दे दिया कि वे लोग दूर रहकर ही ठाकुर महाशय की आराधना करें। उनके चरण छूने की गलती न करें।

वाराङ्गनाओं ने गृह-स्वामी के उक्त निर्देश का ही पालन करते हुए पुष्प और पुष्प-माल्य ठाकुर महाशय के चरणों पर दूर से ही निवेदित कर दिया, मगर ठाकुर महाशय ने स्नेहपूर्वक उन्हें निकट आने की आज्ञा दी और उनमें से कुछ फूल अपने हाथों उन वाराङ्गनाओं के सिर पर रख दिये तथा उनमें से प्रत्येक के सिर पर अपना हाथ रख कर उन्होंने आशिर्वाद दिया।

यह देखकर भक्तों की भीड़ जिस प्रकार चकित हुई, उसी तरह गृह-स्वामी महाशय लज्जित होते रहे।

कलकत्ता की ही एक दूसरी घटना का सम्बन्ध एक मुसलमान भक्त चिराग अली से है। भक्तों की भीड़ में शामिल होना असम्भव मानकर चिराग अली नामक एक मुसलमान किसान घर से दूर हटकर तालाव के किनारे बैठा

ठाकुर महाशय को स्मरण कर रहा था। यह बात अन्तर्यामी ठाकुर महाशय जब स्वयं जान गये, तो उन्होंने गृह-स्वामी को आदेशपूर्वक कहा—"जरा चिराग अली को बुला लायें। वह मुझसे मिलने आये हैं, मगर भीतर आने की हिम्मत नहीं हो रही है। वे मेरे बड़े पुराने मित्र हैं। मेरे गाँव के लँगोटिया साथी।"

गृह-स्वामी ने जाकर देखा तो चिराग अली तालाब के किनारे ध्यान-मग्न बैठा हुआ था। उसे बुलाकर जब ठाकुर के पास ले आया गया, तब ठाकुर ने कहा, "इतने पुराने स्वजन होकर आपने मुझे गैर क्यों मान लिया? यहाँ आने में कोई बाधा तो न थी? मेरे घर का दरवाजा तो सब के लिए खुला है।"

ठाकुर महाशय के अपनापन का भाव देखकर चिराग अली की दोनों आँखों से झर-झर आँसू बहने लगे और वह ठाकुर महाशय के चरणों पर लोटने लगा।

ठाकुर महाशय ने अपने हाथों उठाकर उसे स्नेहपूर्वक नाम-मंत्र प्रदान किया।

चिराग अली को सपने में भी यही मंत्र मिल चुका था। इसलिए ठाकुर के मुख से उसी मंत्र को पुनर्वार पाकर उसका सर्वांग शरीर रोमांचित हो गया और वह फूट-फूट कर रोने लगा। उस दिन से चिराग अली के जीवन में एक नई ज्योति का आविर्भाव हुआ और उस क्षेत्र के लोगों के बीच उसकी प्रसिद्धि असाधारण आध्यात्मिक पुरुष के रूप में होने लगी।

कलकत्ता के ही एक अन्य भक्त के घर में निवास करते समय ठाकुर की एक अन्य कृपा-लीला की कहानी भी कम प्रसिद्ध नहीं है।

उस समय भयंकर जाड़े का मौसम चल रहा था। कलकत्ता के बड़े-बूढ़े कहने लगे कि वैसी दारुण ठंढ़ उसके पहले कभी नहीं पड़ी थी। गृह-स्वामी भक्त ने ठाकुर महाशय के लिए एक मूल्यवान ऊनी चादर खरीद कर ला-दी और अपने हाथों वह वस्त्र उन्होंने ठाकुर महाशय को उढ़ा दिया। ऐसा करके भक्त को अतीव प्रसन्नता हुई, साथ-ही-साथ गौरव-बोध भी हुआ। रात भर उस चादर का उपयोग कर ठाकुर महाशय भयंकर शीत से शरीर का बचाव करते रहे।

मगर, दूसरे ही दिन उन्होंने घर के नौकर को सुबह में जब झाड़ू देते देखा, तो वह जाड़े से थर-थर काँप रहा था। उसकी कमर से ऊपर का भाग बिल्कुल आच्छादन-हीन था। ठाकुर महाशय ने वह कीमती ऊनी चादर अपने

हाथों उस भृत्य को उढ़ा दी। वह बारम्बार इसका विरोध करता रहा, किन्तु ठाकुर महाशय ने आग्रहपूर्वक उसे वह चादर दे-दी।

थोड़ी ही देर बाद जब गृह-स्वामिनी ने उस भृत्य के कंधे पर वह कीमती ऊनी चादर देखी, तो आगबबूला हो उठीं। चिल्लाकर बोली—"खूसट की हिम्मत तो देखिए। ठाकुर महाशय से चादर माँगते इसे जरा भी शरम नहीं हुई।"

भृत्य ने बड़े ही विनीत स्वर में कहा, "मालकिन जी! मैंने यह चादर माँगी नहीं। मेरे मना करने के बावजूद उन्होंने दे-दी है। मैं झूठ नहीं कह रहा हूँ।"

इस विनयपूर्ण तथ्य-कथन के बावजूद गृह-स्वामिनी का क्रोध शान्त नहीं हुआ। वे वह चादर उससे छीन कर ठाकुर महाशय के कमरे में चली आईं और भृत्य के प्रति अपशब्दों का उच्चारण तार स्वर में करती रहीं।

ठाकुर महाशय ने जब चादर देखी, तो गृह-स्वामिनी को लक्ष्य करते हुए कहा— "दान दी हुई चीज लौटाई नहीं जाती। इसे आप वापस क्यों ले आई हैं?"

क्रुद्ध महिला ने ठाकुर महाशय के उक्त वचन पर ध्यान नहीं दिया। चादर को सहेज कर उन्होंने ठाकुर महाशय के पैताने में रख दिया और तुनक कर नीचे चली गईं।

थोड़ी ही देर बाद लोगों ने सुना कि ठाकुर महाशय बिना कुछ बोले कमरे से निकल कर भक्त के उस घर का त्याग कर दिया है और कहीं अन्यत्र चले गये हैं।

एक बार ठाकुर के गाँव डीङामानिक के भक्तों ने ठाकुर महाशय के जन्मोत्सव का आयोजन किया। हरि-नाम-कीर्त्तन और मृदङ्ग-करताल के तुमुल नाद से समूचे गाँव का वातावरण मुखरित हो उठा। बाहर से भी सहस्रों की संख्या में भक्तगण आकर इकट्ठे हो गये। ठाकुर महाशय के प्रसिद्ध भक्त डॉक्टर इन्दु वन्दोपाध्याय भी उन्हीं में से एक थे। कुछ लोग बाहर बैठ कर संलाप कर रहे थे कि उनकी नजर दूर के एक पेड़ के तले बैठे हुए किसी मुसलमान किसान पर जा पड़ी। उसके हाथ में एक छोटी-सी पोटली थी।

पूछने पर पता चला कि उस पोटली में आम और केले के साथ थोड़ा-सा सुगन्धित चावल भी है। यह सन्देश ठाकुर महाशय के चरणों में निवेदित करने के लिए वह अनेक कोस पैदल चलकर आ गया है। मगर भीड़ के बीच प्रवेश कर पाना संभव न होने के कारण वह एकान्त की प्रतीक्षा कर रहा है।

मुसलमान किसान पड़ोस के गाँव का निवासी होने के कारण सर्वथा अपरिचित नहीं है। वह ठाकुर का समवयस्क ही नहीं, उनके बचपन का संगी भी है।

इन्दु बाबू ने प्रश्न किया, "अच्छा मियाँ भाई! जब तुमने ठाकुर महाशय के साथ इतनी लम्बी उमर बिता दी, तो जरा यह भी बताओ कि तुम्हारी समझ में ठाकुर महाशय की कौन-सी अच्छाई तुम्हें इस प्रकार खींच कर ले आई है?"

निरक्षर अपढ़ किसान ने सहज स्वर में उत्तर दिया, "मालिक, मैं तो अपढ़ मूढ़ हूँ। इतना ही समझता हूँ कि जैसे समुद्र में ज्वार उठती है, वैसे ही धरती पर भी कभी-कभी ज्वार उठती है। ठाकुर महाशय उसी ज्वार की तरह हैं। उन्हें समझ पाना मेरे वश की बात तो नहीं है!"

इन्दु बाबू ने पुनः प्रश्न किया—"जब कुछ समझ नहीं पाते हो, तो ठाकुर महाशय को देखने के लिए इतने व्याकुल होकर क्यों चले आये हो?"

मुसलमान किसान ने उसी प्रकार सहज स्वर में उत्तर दिया, "ठाकुर महाशय को देखने पर प्राण जुड़ा जाते हैं और उनकी बातें बहुत अच्छी लगती हैं। भले ही मेरे-जैसे अपढ़ की समझ में वे समा नहीं पाती हैं।"

इन्दु बाबू ने पुनः प्रश्न किया, 'तुम हिन्दू फकीर को देखने चले आये हो और उन्हें अर्पित करने के लिए केला, आम और चावल भी ले आये हो। क्या इसके लिए तुम्हारे मजहबवाले मौलवी साहब तुम्हें डाँटेंगे नहीं? वे तो इसे गुनाह ही मानेंगे?"

"गुनाह इसे कौन कहेगा?"—किसान अन्ततः खीझकर बोला। "ठाकुर महाशय के लिए हिन्दू, मुसलमान और क्रिस्तान का विभेद क्या रह गया है? जैसे ऊँचे टीले पर चढ़ जाने के बाद नीचे की तमाम चीजें एक-साथ दिखाई पड़ने लगती हैं, वैसे ही ठाकुर महाशय तो टीले पर चढ़कर बैठे हुए हैं। उनके लिए सभी बराबर हैं और सबके लिए वे भी अपने हैं।"

अपढ़ किसान के मुँह से तत्व-बोध की वैसी बहुमूल्य विवेचना सुनकर भक्तों की भीड़ चकित हो उठी। ठाकुर महाशय प्राण-सुन्दर महापुरुष थे, इसलिए अपने भक्तों के प्राण में पैठकर वे अजाने ही उन्हें ज्ञान की ऊँची-से-ऊँची बातों की सहज अवगति प्रदान कर देते थे।

मानव-प्राणियों की ही भाँति मानवेतर प्राणियों के प्रति भी ठाकुर महाशय की अपार कृपा कोई भेद नहीं करती थी। नोआखाली के चौमुहानी गांव की

बात है। ठाकुर महाशय एक घर में लेटे विश्राम कर रहे हैं। आसपास में दो-चार श्रद्धालु भक्त बैठे हैं। इसी बीच भक्त-परिवार का एक कुत्ता चीख-चीख कर फरियाद करने लगा। जब उसकी ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया, तो वह ठाकुर महाशय के शयन-कक्ष में सीधे जा-पैठा। उनकी चारपाई पर अगले दोनों पांव टेक कर बड़ी ही करुण दृष्टि से ठाकुर महाशय के मुख की तरफ निर्निमेष होकर देखता रहा। इस प्रकार अपने कष्ट का निवेदन कर लेने के बाद वह चुपचाप बाहर चला गया।

ठाकुर महाशय इसके बाद तुरत उठ-बैठे और गृह-स्वामी को बुलाकर कहा, "क्या आसपास में पशुरोग का उपचार करनेवाला कोई डॉक्टर नहीं है?" उत्तर मिला—"बाबा, यहाँ तो कोई डॉक्टर नहीं है। हाँ, नोआखाली में हो सकता है।"

ठाकुर महाशय ने विरक्त होकर कहा, "कुत्ते पर आपलोगों का कोई ध्यान ही नहीं रहता। उसे जो-सो खाने के लिए, अनाथ की तरह, छोड़ दिया जाता है। तभी तो उसके गले में कांटा गड़ गया है और वह पीड़ा से व्याकुल है?"

ठाकुर महाशय की बात सुनकर घर के लोग इधर चकित होते रहे और उधर कुत्ते ने जोर से छींक मारी और उसके कंठ में अँटका हुआ कांटा आप-ही निकल कर बाहर आ गया। संकट से परित्राण पा-लेने के बाद कुत्ते का चीखना-चिल्लाना बन्द हो गया।

यह आश्चर्य की ही बात है कि अन्य किसी के प्रति अपना कष्ट निवेदित न कर पाने के बाद उस कुत्ते ने भी ठाकुर महाशय की ही कृपालुता की अपेक्षा की थी। पशु-बुद्धि के इस रहस्य पर भक्तों का चकित होना स्वाभाविक ही था।

ठाकुर महाशय अक्सर कहा करते, "प्राण के प्रति आत्मीयता सिद्ध कर लेने के बाद विश्व के सभी प्राणी आत्मीय हो जाया करते हैं।" ठाकुर के इस कथन का प्रमाण उस कुत्ते ने उपस्थित कर दिया था।

अन्य कुछ जन्तुओं की ऐसी ही आत्मीयता की कथा ठाकुर महाशय के जीवन में घटित हुई। एकबार वे वृन्दावन में वात-व्याधि से पीड़ित हो उठे। वात-व्याधि का आक्रमण इतना भयंकर था कि करवट लेने में भी ठाकुर महाशय अक्षम हो गये थे।

यन्त्रणा जब दुःसह हो उठी, तो अचानक उनके कमरे में एक लंगूर आकर उपस्थित हो गया। थोड़ी देर तक वह ठाकुर महाशय के हाथ-पांव की

परिचर्या मनुष्य की ही तरह करता रहा। उस परिचर्या के बाद ठाकुर महाशय की पीड़ा सचमुच कम हो गई। इसके बाद घर में रखी गई खाली कलशी उठाकर वह लंगूर बाहर चला गया और थोड़ी देर के बाद कहीं से ताजा जल भर कर कलशी को अपनी जगह पर वापस रख गया।

जिन लोगों ने इस दृश्य को अपनी आँखों से देखा, उन्हें यह मानने में कोई कठिनाई न हुई, कि ठाकुर महाशय केवल मनुष्यों के प्रति समबुद्धि नहीं रखते थे, प्रत्येक प्राणी के प्रति समान आत्मीयता उनमें कूट-कूट कर भरी थी।

वृन्दावन के लंगूर की तरह दामिनी माँ के साँप भी ठाकुर महाशय के प्रति अनन्य भक्ति का परिचय देनेवालों में प्रसिद्ध हैं। भवानीपुर के बकुल बागान में मिट्टी के एक छोटे-से घर में दामिनी माँ साधन-भजन की जिन्दगी अनेक वर्षों से व्यतीत कर रही थी। ठाकुरजी कभी-कभी उस मिट्टी के घर में कुछ दिनों के लिए ठहर जाया करते। फर्श का धरातल बिलों और माँदों से भरा था। उन्हीं में दो पुराने साँप क्रीड़ा करते रहते थे। दामिनी माँ प्यार से उनमें से एक को कन्हाई और दूसरे को निताई कहा करतीं।

ग्रीष्म की दुपहरी में जब दिन तवे की तरह तप जाता, तो वे दोनों साँप माँद से निकल कर ठाकुर महाशय के शरीर को अपने स्पर्श से ठंढक पहुँचाने के लिए अधीर हो जाते। वे उनके शरीर को चारों तरफ से घेरकर उनकी परिचर्या करते रहते थे।

एक बार वाराणसी के आवास पर ठाकुर महाशय एकाकी निवास कर रहे थे। इसी बीच उन्हें भयंकर ज्वर हो आया। कैवल्य धाम के महंत श्री श्यामचरण चट्टोपाध्याय वैसे ही समय में, दोपहर की वेला में, ठाकुर महाशय से मिलने पहुँचे। दरवाजा भीतर से बन्द था। दरवाजे की आड़ से जो भीतर का दृश्य उन्होंने देखा, उससे वे भयभीत और विस्मित हो उठे। उन्होंने देखा कि ठाकुर महाशय के सम्पूर्ण शरीर को अपनी कुण्डली में लपेटे एक विशालकाय सर्प आमोदित हो रहा है। महंतजी के मुँह से चीख फूटना ही चाहती थी, कि ठाकुर महाशय की दृष्टि उन पर आ पड़ी। ठाकुर महाशय ने तेज आवाज में महन्तजी को सावधान करते हुए कहा, "आप शीघ्र वापस चले जायँ। मुझे बीमार देखकर मेरी परिचर्या करने के लिए ये सर्प देवता आ पहुँचे हैं। आपके रहने से इनकी सेवा में बाधा पड़ेगी।"

ठाकुर महाशय की चेतावनी सुनने के बाद महन्तजी ने दरवाजे के बाहर से ही ठाकुर महाशय के प्रति अपना साष्टाङ्ग प्रणाम निवेदित कर दिया और बैरंग वापस लौट गये।

भक्तवत्सल श्री राम ठाकुर के अजस्र उपदेश भक्तों को लिखे गये पत्रों के रूप में और अन्तरंग भक्तों की डायरी में आज भी खोजे जा सकते हैं। इनके कुछ ग्रन्थाकार संग्रह भी भक्तों ने प्रकाशित करा दिये हैं। उनके सार-भाग का भी उपस्थापन यहाँ सम्भव नहीं है।

ठाकुर महाशय अक्सर कहा करते कि अकर्त्ता बुद्धि ही स्वभाव है और कर्त्तृत्व बुद्धि ही अभाव। कर्त्तृत्व-बुद्धि को काटकर स्वभाव की उपलब्धि करने के लिए मुमुक्षुओं को नाम का सहारा लेना पड़ता है। साधन के इस मार्ग में शरणागति और धैर्य की आवश्यकता होती है।

ठाकुर महाशय कहा करते—"भगवान जिन्हें हम कहते हैं, वह समभाव-मूलक निरपेक्ष शक्ति की सर्वज्ञता ही तो हैं? यदि कर्त्तृत्व-बुद्धि का अर्थात् अहंकार का हम त्याग नहीं कर देते, तो उस निरपेक्ष शक्ति का लाभ उठाने की योग्यता अर्जित नहीं की जा सकती।"

डॉक्टर गोपीनाथ कविराज के द्वारा संकलित की गई ठाकुर महाशय की उक्तियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। उनमें ठाकुर महाशय ने प्रारब्ध-भोग के सम्बन्ध में कुछ अनूठी बातें बतलाई हैं।

ठाकुर महाशय कहते हैं—"प्रारब्ध का भोग भोगे बिना त्राण नहीं। योग-विभूति के द्वारा उसे स्थगित किया जा सकता है, मिटाया नहीं जा सकता। संसार में प्रारब्ध का भोग-भोगने ही तो हम आते हैं! उसे यदि कृपापात के द्वारा थोड़ी देर के लिए या सदा के लिए रोक देने की चेष्टा की जाय, तो उसे अनुचित ही माना जायगा। जो निष्ठापूर्वक शरणागति के धर्म का पालन करते हैं, उन्हें अटल धैर्य के साथ प्रारब्ध का भोग सहन कर लेना चाहिए। यही उचित है।'

ठाकुर महाशय कहते हैं कि प्रारब्धवश भोग के जो वेग आते हैं, उन्हें धैर्यपूर्वक सह लेने से भोग से छुटकारा मिल सकता है। ऐहिक सुख की पिपासा को तृप्ति देने के लिए हम अधीरतापूर्वक आवेग से मुग्ध होकर प्रारब्ध-भोग को अनजाने ही निमंत्रण दे बैठते हैं। तभी सीता जैसी सती नारी भी सोने के मृग के प्रति लुब्ध और मुग्ध होकर उसके लिए अधीर हो उठीं। यदि स्वर्णमृग-प्राप्ति की उग्र आकांक्षा को पूरा करने की जिद के बजाय उस कुतूहल-वेग को वे धैर्यपूर्वक सह लेतीं, तो रावण की लंका में पति-वियोग का दुःख उन्हें वर्षों तक क्यों उठाना पड़ता और लोकापवाद का दुःख वे क्यों सहतीं? रामायण की यह कथा मनोवेग की प्रबलता का एक स्थायी उदाहरण है। मगर, साथ-ही-साथ उससे यह भी पता चलता है कि प्रारब्ध

का भोग चुक जाने के बाद जैसे सीता को राम की कृपा प्राप्त हुई, वैसे ही शरणागत को भगवान् की कृपा भी प्राप्त हो जाती है।

ठाकुर महाशय अक्सर कहते कि जैसे नारी जबतक रजस्वला नहीं होती तबतक पति के द्वारा गर्भाधान संभव नहीं होता, उसी तरह जबतक शिष्य के भीतर तीव्र योग्यता का उतावलापन जन्म नहीं लेता, तब तक गुरु की कृपा उसमें फलित नहीं होती। दीक्षादान ही वह गर्भाधान है, जिसके द्वारा शिष्य के भीतर बीज शक्ति के रूप में गुरु स्वयं प्रवेश करते हैं और फिर पूर्ण शक्ति के साथ प्रकट हो जाते हैं।

ठाकुर महाशय कहते कि बाहर से शक्ति-संचार करने पर कोई विशेष लाभ नहीं होता, केवल एक सामयिक उल्लास का अवतरण होता है। कभी-कभी इसके परिणामस्वरूप शिष्य का उत्थान न होकर पतन भी हो जाया करता है।

कुण्डलिनी के सम्बन्ध में ठाकुर महाशय की एक अनूठी धारणा थी। वे कहते कि कुण्ड कहते हैं आधार को। जो आधार या अवलम्बन पर भरोसा करनेवाली शक्ति है, वही कुण्डलिनी है। जब अवलम्बन का त्याग हो जाता है, तो आज्ञा-चक्र के द्विदल-कमल पर पहुंच कर एक ऐसी अवस्था आती है, जिसके ऊपर में अव्यक्त है और नीचे व्यक्त जगत्। वहाँ जाकर भगवान् की रक्षा-शक्ति स्वतः प्रकट होती है—'निराश्रयं मां जगदीश रक्ष'।

नाम-जप के बारे में ठाकुर महाशय कहते, "जैसे कुत्ता जब सूखी हड्डी को चबाता है, तो उसे कष्ट ही होता है, यहाँ तक कि उसके दाँत दुखने लगते हैं और मसूड़ों से खून बहने लगता है, किन्तु फिर भी यदि वह चबाना न छोड़ता है, तो अन्ततः हड्डी के भीतर की मज्जा का रस भी उसे प्राप्त होता है। इसी तरह, नाम जपने में आरम्भ में भले ही मन न लगे, किन्तु धैर्यपूर्वक सावधान होकर जो नाम-जप जारी रखते हैं, उनके प्राणों में नाम का अक्षर-रस अंततः प्रतिष्ठित होकर उन्हें प्रभु के कृपा-लोक तक पहुँचा ही देता है।

ठाकुर महाशय के लीला-संवरण की घटना चौमुहानी वाले बंगले पर जिस दिन घटित हुई, वह बैशाख अक्षय तृतीया के रूप में स्मरणीय है। ख्रिस्ताब्द १९४९ के डेढ़ बजे दिन में ठाकुर महाशय ने शरीर-त्याग किया।

इसके पहले अपने दो सेवक-भक्तों—उपेन्द्र कुमार और नरेन्द्रनाथ को उन्होंने अपने पास बुलाया और कहा—"रात की आखिरी वेला में मैंने एक स्वप्न देखा कि चन्द्रलोक से एक रथ नीचे उतरा है और मैं उस पर चढ़ गया

हूँ।" इतना कहने के बाद उन्होंने दोनों ही भक्तों के सिर पर हाथ रख कर उन्होंने आशीर्वाद दिया और उनकी ठुड्डी पकड़ कर उन्हें देर तक दुलराया भी।

ठाकुर महाशय का शरीर मृत्यु के बाद पूर्णतः निरावरण अवस्था में पाया गया। केवल धोती और अंगरखा ही नहीं, लँगोटी तक भी खोलकर उन्होंने अलग फेंक दी थी।, यहाँ तक कि गले की कंठी-माला भी छिन्न-भिन्न अवस्था में गले से उन्होंने स्वयं उतार फेंकी थी। इसके पीछे संभवतः यही रहस्य था कि महापुरुष जिस अवस्था में संसार में आते हैं, उसी निरावरण-निराभरण अवस्था में वे संसार से विदा होना भी पसन्द करते हैं।

उपेन्द्र कुमार और नरेन्द्रनाथ को आशीर्वाद देने के बाद ठाकुर महाशय बिछावन पर सोने चले गये थे। उसके बाद दूसरे ही दिन उनके शरीर-त्याग का यह अद्भुत दृश्य भक्तों ने देखा कि पूर्ण दिगम्बर रूप में वे अपनी शय्या पर चित्त होकर लेटे हुए थे और उनकी अर्धनिमीलित आँखों में शरीर-त्याग के पश्चात् भी अपूर्व आलोक उद्भासित हो रहा था।